विषय-सूची

उपयोगी और शिक्षाप्रद पुस्तकें

१. महात्मा श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन-चरित्र, हिंदी में। यह पुस्तक अब तक उनकी जीवनी के संबंध में संसार की अनेक भाषाओं में छपी हुई जीवनियों के आधार पर लिखी गयी है। मूल्य पहला भाग १।≈) दूसरा भाग १।।)

२. परमहंस श्रीरामकृष्ण के सुप्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्दजी की कुछ बंगाली और अँगरेज़ी पुस्तकों के अनुवाद—परिव्राजक ।≈) प्रेमयोग ।।) आत्मानुभूति ।।) प्राच्य और पाश्चात्य ।।)

३. साधारण धर्म—(मानव-जीवन का कोष) १) उर्दू में ।।।)

४. राम का व्यावहारिक वेदांत—हिंदी, उर्दू और अँगरेज़ी में। मूल्य प्रत्येक का एक पैसा, १) सैकड़ा

५. मनपुरी प्रार्थना—जिनका प्रत्येक परिवार में प्रतिदिन पाठ किया जाना उचित है। हिंदी, उर्दू और अँगरेज़ी में। मूल्य प्रत्येक का केवल एक पैसा, १) सैकड़ा

६. स्वामी राम, वेरियस ऐस्पेक्टस् ऑफ़ हिज़ लाइफ़—अर्थात् स्वामी राम के जीवन पर बड़े-बड़े विद्वानों और प्रोफ़ेसरों के भिन्न-भिन्न दृष्टि से लिखे हुए लेख अँगरेज़ी में मूल्य १) (शीघ्र ही इसका हिंदी और उर्दू-अनुवाद भी निकलेगा)

७. नारायन-चरित्र—(उर्दू में) इसमें श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग के संस्थापक श्रीमन्नारायण स्वामीजी की जीवनी और उपदेश हैं। मूल्य ।।) (इसका हिंदी और अँगरेज़ी-अनुवाद भी शीघ्र प्रकाशित होगा)

८. पयामे-गइब—(उर्दू में) ईशावास्य उपनिषद् के प्रथम आठ मंत्रों की विस्तृत व्याख्या। श्रीयुत आनन्द साहिती कृत, मूल्य १।।)

९. श्रीमद्भगवद्गीता की भगवदाज्ञार्थ दीपिका टीका—श्रीमन्नारायण स्वामी-कृत विस्तृत व्याख्या का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण। तीन खंडों में, सजिल्द, बढ़िया कागज़ पर मुद्रित प्रत्येक खंड का मूल्य साधारण कपड़े की जिल्द ३) ; बढ़िया सोनहरी टप्पेदार जिल्द ३।।)

१०. आदि भगवद्गीता—बाली द्वीप में, ताड़ के पत्रों पर और कलेशावार में, ताम्र-पत्र पर प्राप्त गीता के ८४ श्लोक, हिंदी और अँगरेज़ी-अनुवाद-सहित, मूल्य ≈)।।

११. धम्मपदम्—सचित्र बुद्ध-गीता। बौद्धों की परम पुनीत पुस्तक। संसार की सभी भाषाओं में इसके अनेकों अनुवाद हो चुके हैं। विशुद्ध पाली-मूल और सरल विशुद्ध हिंदी-अनुवाद-सहित। कपड़े की सुन्दर जिल्द, मूल्य ≈) मात्र

१२. [illegible] — [illegible] पं०, एम-ए० [illegible]

१३. [illegible]—(हिंदी में) इसमें स्वामी राम के वे शिक्षाप्रद व्याख्यान हैं, जो उन्होंने देशोद्धार के लिए [illegible] और अमेरिका में दिये हैं। मूल्य [illegible]

पता—श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, २५ मारवाड़ी गली, लखनऊ

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

वर्ष १] जनवरी, १९४० माघ, १९९६ [अंक १

विश्व प्रेम

साधो सहज समाधि भली ।

गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली ॥१॥
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा ।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा ॥२॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खाँव पियौं सो पूजा ।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा ॥३॥
आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं ।
खुले नैन पहिचानौं हँसि-हँसि, सुन्दर रूप निहारौं ॥४॥
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी ।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी ॥५॥
कह 'कबीर' यह उनमुनि रहनी सो परगट करि गाई ।
दुख सुख से कोई परे परम पद, तेहि पद रहा समाई ॥६॥

कबीर दास

---:::---

भारतवर्ष में युग-परिवर्तन करने वाले जिन महापुरुषों के नाम स्मरण किये जाते हैं, उनमें श्रीस्वामी रामतीर्थजी का नाम भी अमर रहेगा। भारतवर्ष को इस बात का सच्चा अभिमान है कि वह दार्शनिक विचारों का जन्म-स्थान रहा है। संसार के कोने-कोने में वेदांतवाद की दुन्दुभी बजाने का गौरव भारतवर्ष ही को है।

आज संसार सुख के पीछे अंधा बना है। संसार की हर एक जाति, प्रत्येक प्राणी अपने सुख की वृद्धि के लिए रात-दिन प्रयत्न कर रहा है। इस स्वार्थ की पूर्ति के लिए उसे दूसरे का ध्यान जरा भी नहीं है। संसार के बड़े-बड़े विद्वान्, बड़े-बड़े वैज्ञानिक आज अपने सुखों की वृद्धि के लिए क्या-क्या आविष्कार नहीं निकाल रहे हैं।

मगर यह बात भी छिपी नहीं है कि ये वैज्ञानिक ... सुख-पूर्ति के साधक नहीं बल्कि बाधक और घातक हैं। मानव अपना जीवन सुखी बनाने का जितना भी प्रयत्न करेगा, उतना ही उसका जीवन दुखों से घिर जायगा। असल बात यह है कि जिसे दुख का अनुभव नहीं, उसे सुख का भी अनुभव नहीं।

सुख की तृष्णा की पूर्ति सुख-साधनों के मिलने से हो भी नहीं सकती क्योंकि सुख-साधन अपरिमित हैं और संसार के समग्र सुख-साधन किसी को मिल भी नहीं सकते, और यदि वे मिल भी जायँ तो भी मानव की सुख-तृष्णा पूरी नहीं हो सकती, उसे तो और भी अधिक सुख साधनों की ही कामना बनी रहेगी।

इसी भाव को लेकर भारतीय ऋषियों ने डंके की चोट से एलान कर दिया था—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"

अर्थात्—इच्छा खाने, पीने आदि की वस्तुओं के भोगने से कदापि समाप्त नहीं हो सकती, वह तो इन्हें प्राप्त करके इस तरह और भी अधिक बढ़ जाती है जैसे घी प्राप्त करके आग बढ़ जाती है।

वास्तविक सुख तो केवल त्याग-अवस्था में और ब्रह्मानन्द में है। यदि मनुष्य के चित्त में त्याग की भावना का उदय हो जाय, तो उसे ब्रह्मानन्द ... अनुभव होने लगे और सांसारिक सुख-साधनों ... सत्यता मालूम न दे। इसी ब्रह्मज्ञान से मोक्ष ... प्राप्ति होती है और इसी को प्राप्त करने के लि... भारतीय ऋषि-मुनियों ने चेष्टा की। मगर यह ब्रह्मानन्द का महानन्द तभी प्राप्त होता है जब सांसारि... वस्तुओं की ओर त्याग की भावना जागरित ...

जाती है। इसके उदय से सब पदार्थों में 'समधी' हो जाती है, अच्छाई और बुराई की भावना उठ जाती है।

इसमें तो सन्देह नहीं कि भारतवर्ष का शायद ही कोई आदमी ऐसा होगा जिसने वेदान्त का नाम न सुना होगा और बहुत-से आदमी तो रात-दिन सोते-जागते वेदान्त के सिद्धान्त का किसी-न-किसी रूप में नाम लेते ही रहते हैं। मगर दुख की बात तो यह है कि बहुत-से आदमियों की यह धारणा हो गयी है कि वेदान्त तो संन्यासियों और उन लोगों की चीज है जो घर-बार छोड़ बैठे हों, वह उन लोगों के लिए नहीं है जो गृहस्थी हैं और जिन्हें संसार से काम है। मगर यह बिलकुल गलत विचार है। वास्तव में वे लोग वेदान्त के सच्चे ज्ञान से बहुत दूर हैं।

सच्चा वेदान्त का ज्ञान वह है, जो हमें भगवान श्री कृष्ण ने गीता में सिखाया है—

"सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥"
—गीता १८. ५६

अर्थात—हमेशा सब सांसारिक कार्यों को करता हुआ भी जो मनुष्य मेरा सहारा लेता है, वह मेरी कृपा से अविनाशी स्थिर गति को प्राप्त होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने सच्चे ब्रह्म-ज्ञानी का लक्षण इस प्रकार बताया है—

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥"
—गीता १८. ५४

अर्थात—ब्रह्म-ज्ञानी प्रसन्न चित्त रहता है, न उसे किसी बात की चिन्ता रहती है, और न किसी चीज की इच्छा। उसका सभी प्राणियों के साथ एक-सा व्यवहार रहता है और वह उस सर्वश्रेष्ठ भक्ति को प्राप्त करता है जिसके द्वारा वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

स्वनाम धन्य श्रीस्वामी रामतीर्थजी ने भी इसी ब्रह्म-ज्ञान के संदेश को न केवल भारतवर्ष में बल्कि संसार के कोने-कोने में पहुँचाया। वे पूर्व में सुदूरवर्ती जापान तक पहुँचे और पश्चिम में ठेठ अमेरिका तक। उन्होंने वेदान्त के व्यावहारिक ज्ञान का दूसरे लोगों को उपदेश ही नहीं दिया अपितु स्वयं ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त कर—अर्थात् 'समबुद्धि' 'त्याग-भावना' को रखते हुए—उन्होंने संसार को सिखाया कि वेदान्त केवल पढ़ने या सुनने की वस्तु नहीं है बल्कि वह व्यवहार या आचरण में लाने की चीज है और उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं।

वेदान्त का अर्थ है—'ज्ञान का अन्त'। जिस समय मानव के हृदय में विश्व-प्रेम का उदय और आत्मा या ब्रह्म का साक्षात् अनुभव होने लगता है, उस समय उसके मन में सत्यता और दिव्यता आदि उच्च भाव विकसित होने लगते हैं और अज्ञान का पर्दा हट जाता है। वेदान्ती को तत्त्व का साक्षात्कार होता है; उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है और अविद्या, तथा अज्ञान से छुटकारा मिल जाता है। उसे सत्यासत्य के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जब तक अविद्या रहती है तभी तक मैं, तुम, वह, जीव और अजीव का भेद बना रहता है। जीव और ईश्वर में भेद प्रतीत होता है। मुक्त पुरुष या वेदान्ती के लिए सब भेद लुप्त हो जाते हैं और उसमें एकमात्र अद्वैत-भावना जागरित हो जाती है। इस अविद्या का नाश हो जाने से अशान्ति का भी नाश हो जाता है और प्राणी शुद्ध शान्ति, शुद्ध ब्रह्मानन्द-रस का पान करने लगता है। श्रीस्वामी राम ने इसी शुद्ध ब्रह्मानन्द-रस का पान किया

वेदान्त एक प्रकाश-दीप के समान है, जिसके प्रकाश को कैलाश-सिंहासन से राम ने इस घोषणा के द्वारा फैलाने की प्रतिज्ञा की थी—

"चाहे यह कार्य अनेक आत्माओं के द्वारा हो या एक आत्मा के द्वारा, मगर मैं विचारपूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं दस साल के भीतर भारतवर्ष से अन्धकार और निर्बलता को दूर कर दूँगा और उसमें सत्य-जीवन को भर दूँगा। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भीतर भारतवर्ष अपने पूर्व-गौरव से भी अधिक गौरव प्राप्त करेगा। इन शब्दों को स्मरण-पत्र में लिख लीजिए।"

महात्माओं की वाणी कभी असत्य नहीं हो सकती। वह दिन अब बहुत दूर नहीं है जब न केवल भारतवर्ष वरन समस्त संसार इस विश्व-प्रेम के पाठ को भारतवर्ष से सीखेगा और हिंसा-प्रतिहिंसा के राक्षसी भाव को त्याग कर वास्तविक सुख—ब्रह्मानन्द को प्राप्त होगा।

राम की आत्मा का अनेक आत्माओं में संक्रमण हो रहा है। अब अनेक आत्माएँ राम के संदेश को लेकर संसार में घोषणा कर रही हैं कि अज्ञान अंधकार और दुर्बलता को दूर करो।

राम के निर्वाण-पद ग्रहण करने पर आपके पट्ट शिष्य श्री १०८ स्वामी नारायणजी ने अपने गुरु श्री १०८ स्वामी रामतीर्थजी के उपदेशों के प्रचारार्थ लखनऊ में श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग की स्थापना की, जो समग्र भारत में वेदान्त के व्यावहारिक सिद्धान्तों का लेखों, उपदेशों और पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा निरन्तर प्रचार कर रही है।

श्रीस्वामी नारायणजी ने भी वेदान्त के व्यावहारिक रूप का विशेष प्रचार किया और इसे अपने जीवन के आदर्श-रूप से कार्य में परिणत कर दिखा दिया कि वेदान्त व्यवहार की वस्तु है और सिर्फ संन्यासियों और उन्हीं लोगों के काम की वस्तु नहीं जो घर-बार छोड़ चुके हों। उन्होंने संसार को बताया कि वेदान्त धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन को उन्नत बना देता है। वेदान्त मानव-जीवन की शुष्कता, नीरसता और अज्ञानता को दूर करके उसमें विश्व-प्रेम, सत्यता और दिव्यता आदि उत्तम गुणों को भर देता है।

श्रीस्वामी नारायणजी के भी निर्वाण ग्रहण करने पर उनके प्रेमियों और शिष्यों ने और विशेष रूप से श्रीरामेश्वरसहायसिंह जी ने वेदान्त के व्यावहारिक सिद्धान्तों का विशेष प्रचार करने के लिए 'व्यावहारिक वेदान्त' नामक इस मासिक पत्र का प्रकाशन किया है। इस पत्र का उद्देश्य वेदान्त की व्यावहारिक दृष्टि से धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर प्रकाश डालना है। इसका प्रचार मानव-हृदय से ईर्षा, पक्षपात, आदि अज्ञान के भावों को दूर करेगा और मानव-जगत् में एकमात्र विश्व-प्रेम के पाठ को सिखायेगा जो प्रत्येक प्राणी के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन बनेगा।

अब युग पलट रहा है। इसके स्पष्ट चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हैं। महात्माओं ने इसका अनुभव किया है। श्री १०८ स्वामी विवेकानन्दजी ने निम्न-लिखित पंक्तियों में इसकी सूचना दे दी है कि अब भारतवर्ष के दिन पलटने में देर नहीं है—

"The longest night seems to be passing away, the severest trouble seems to be coming to an end, and a voice is coming unto us, gentle, firm, and yet unmistakable in its utterance, and is gaining volume as days pass away. Like a breeze from the Himalayas, it is brin-

ging life into the almost dead bones and muscles, the lethargy is passing away, and only the blind cannot see, or the perverted will not see, that she is awakening, this mother land of ours, from her long-long slumber of ages gone-by. None can resist her any more, no outward powers can hold her back any more, for the infinite giant is rising to her feet."

अर्थात् "बहुत बड़ी रात्रि व्यतीत होती हुई-सी प्रतीत हो रही है, महान् दुःख दूर होता हुआ मालूम हो रहा है, एक आकाशवाणी सुनाई दे रही है जिसका भाव नम्र परंतु दृढ़ और अटल है। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, त्यों-त्यों वह वाणी गम्भीर होती जा रही है। हिमालय की मंद-स्पंद वायु मानो हमारी निर्जीव हड्डियों और पुट्ठों में नवजीवन संचार कर रही है। आलस्य भाग रहा है। पर इस दृश्य को बेचारे अंधे तो देख ही नहीं सकते और हठी जानकर भी नहीं देखेंगे। यह हमारी मातृभूमि युग-युगांतर की गहरी निद्रा से जाग पड़ी है और अब इसे कोई भी शक्ति सुला नहीं सकती, कोई भी बाहरी ताकत इसे पीछे नहीं ढकेल सकती। क्योंकि अनंत शक्तिशाली शक्ति इसे उठा रही है।"

आज संसार में रुद्र का तांडव-नृत्य हो रहा है, भगवान् शंकर प्रचंड रूप धारण कर संसार में हाहाकार मचा रहे हैं। कहीं भूचाल का भयंकर दृश्य है, तो कहीं ववंडर! कहीं महामारी है, तो कहीं घोर युद्ध! दूसरी ओर ईश्वर की खोज में संसार लगा हुआ है, पृथ्वी के कोने-कोने में, बहुत-से मनुष्यों के हृदय में धर्म की प्यास भी दीख पड़ती है। धर्म के नाम पर, चाहे किसी भी कारण से हो, लोग जान हथेली पर लेकर मरने-मारने पर उतारू हो रहे हैं। योरप की क्रूसेड वार तथा एशियाई जिहाद तो पुरानी गाथाएँ हैं, आज दिन भी भारतवर्ष में धर्म-युद्ध नजर आ रहे हैं। न केवल हिंदू-मुसलमानों के बीच, वरन् हिंदू हिंदू और मुसलमान मुसलमान एक दूसरे का सर तोड़ने के लिए उतारू हो रहे हैं। यही लक्षण हमें बता रहे हैं कि संसार में भारी परिवर्तन होनेवाला है। जब कभी युग का परिवर्तन होता है, तो इसी प्रकार अथवा इससे भी कभी-कभी अधिक संहार हुआ करता है। हजरत नूह का तूफान तो कल ही की बात है। आज योरप में घोर युद्ध हो रहा है, बड़े-बड़े राष्ट्र स्वार्थ में चूर हो कर निर्बलों पर टूट रहे हैं। साथ ही धर्माभिलाषियों की भी कमी नहीं है। अमेरिका भी युद्ध की तैयारी कर चुका है, साथ ही हिंदुस्तान में वहाँ के धर्म-जिज्ञासु नजर आ रहे हैं। यही हाल हम भारतवर्ष का भी देख रहे हैं कि जहाँ एक ओर मार-काट है, वहाँ दूसरी ओर धर्म की पुकार है। यह लड़ाई भी धर्म के नाम पर ही है, धर्म की इतनी प्रबल भूख है।

ऐसी अवस्था में स्वच्छ, पवित्र और योग्य भोजन न पा यदि मनुष्य हेय भोजन पर टूट पड़ें, तो आश्चर्य ही क्या! घर के स्वादिष्ट मिष्टान्न को पान यदि वे दूसरों की थाली को ताकने लगें तो आश्चर्य ही क्या है। आज दिन जो धर्म-युद्ध हो रहा है, उसका पूर्ण विवरण विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पाठकों ने पढ़ा होगा।

इन्हीं बातों के मूल-आधार अज्ञान को दूर करने के अभिप्राय से इस पत्र का जन्म हुआ है, जिससे मनुष्य-समाज वेदांत के सिद्धांतों का जीवन में उपयोग कर इस अज्ञान से छुटकारा और शांति प्राप्त करे। वेदांत ने योरप अमेरिका आदि सारी दुनिया को भारत का ऋणी बना दिया है, बना रहा

है, और बनाता रहेगा। उस वेदांत का हमें पूर्ण प्रचार करना चाहिए।

जिस दिन मानव-समाज इस सत्य को जान जायेगा और आचरण में लायेगा कि मनुष्य-मात्र में एक ही आत्मा है जो माला के दानों में सूत के समान है, हम सब भाई हैं, विश्व-प्रेम ही हमें परमानंद प्रदान करेगा, तो उसी दिन संसार में शांति का राज्य छा जायेगा।

व्यावहारिक वेदांत जिस उच्च आदर्श को लेकर प्रकाशित हुआ है, उसकी पूर्ति के लिए समस्त मानव-समाज का सहायक होना नितांत आवश्यक है। प्र के पवित्र उद्देश्य की पूर्ति उसके सहयोग पर ह निर्भर है।

अन्त में हमें पूर्ण आशा है कि कृपालु सज्जन इ पुनीत उद्देश की पूर्ति में लेखों, कविताओं और कह नियों को भेजकर अथवा आर्थिक सहायता देक व्यावहारिक वेदान्त की उन्नति में, प्रचार और प्रस में पूर्ण रूप से हमारा हाथ बटायेंगे, यही हमार विनीत प्रार्थना है।

माया

[लेखक—कविवर जगमोहननाथ, अवस्थी 'आशुकवि']

जीनेवालों को जीवन में,
सदा मृत्यु-आह्वान मिला।
नश्वर स्वर में नित्य अनश्वर,
जग का गीला गान मिला॥
हार विजय में मानव को,
नित क्रन्दन का परिधान मिला।
इस पगली दुनिया में प्रेमी,
पागल को अपमान मिला॥
लक्ष्य अलक्ष्य बस आशा में,
होकर निराश अरमान मिला।
दिन को काली रात, रात को
ऊषा का अभिमान मिला॥
नभपन्थी भूले शशि को
जीवन में पतनोत्थान मिला।
लोल लता में लिपटा विषधर
व्याल छिपा अनजान मिला॥

रुदन हास्य में घृणा प्रेम में,
भिक्षा ही में दान मिला।
मृत्यु मुक्ति से लड़नेवालों,
को ही बस कल्यान मिला॥
धूलि-कणों से सदा सुमन-दल,
का ही अनुसन्धान मिला।
मुरझाने में ही विकास,
स्थिर को अन्त पयान मिला॥
है कलंक में कीर्ति यहाँ पर,
उलटा सत्य प्रमान मिला।
दुनिया के मरघट-तट पर,
उन्मादों को भी ज्ञान मिला॥
चलते-चलते हो रुक जाना,
विधि का यहाँ विधान मिला।
उन्हीं मूक इंगितियों में,
बलिदानों में वरदान मिला॥

राम-वचनामृत

१

सच्ची पूजा तो वह है, जिसमें धारा-रूप जल दृष्टि में न रहे, उपास्यदेव चित्त में समा जाय, स्पंद-रूप पवन दृष्टि से गिर जाय, ब्रह्म-सत्ता-मात्र ही भान हो, प्रतिमा में प्रतिमापन उड़ जाय, चैतन्यस्वरूप भगवान् की झाँकी हो।

२

उपासना तो उसी का नाम है, जिसमें जबान को तो क्यों हिलना है, शरीर की हड्डी और नाड़ी के परमाणु-परमाणु हिल जायँ। यदि यह नहीं है, तो आँख मूँदो, नाक मूँदो, कान मूँदो, मुख मूँदो, गाओ चाहे चिल्लाओ, तुम्हारी उपासना बस एक कागज की तसवीर है, जिसमें जान नहीं।

३

मनुष्य का जैसा विचार और चिन्तन रहता है, वैसा ही वह अवश्य हो जाता है। जब ऐसा हाल है, तो ब्रह्म-चिन्तन ही क्यों न दृढ़ किया जाय, अपने आपको ब्रह्म-रूप ही क्यों न देखते रहें?

४

यदि काँटों पर पड़ जाने से परमेश्वर याद आता हो, तो प्यारे! जब देखो कि संसार के काम-धंधों में उलझकर राम भूलने लगा है, झटपट अपने तईं नुकीले काँटों पर गिरा दो; और कुछ नहीं तो पीड़ा के बहाने याद आ ही जायगा।

५

यदि क्लेश-रूपी मौत मंजूर नहीं, तो शांति-पूर्वक अपने चित्त की अवस्था और उसके दुःख-सुख-रूपी फल पर एकांत में विचार करना आरंभ कर दो, सच-झूठ आप ही स्थिर होंगे। यदि तुम में विचार-शक्ति रोग-ग्रस्त नहीं है, तो अपने आप यह फ़ैसला करोगे कि चित्त में त्याग-अवस्था और ब्रह्मानन्द आते ही ऐश्वर्य और सौभाग्य इस तरह पास दौड़े आते हैं, जैसे भूखे बालक माँ के पास।

६

वह दान और भजन धर्म में शामिल नहीं हो सकते, जिनसे अहंकार या अभिमान बढ़ जाता है।

७

जब तक सब पदार्थों में 'सम' 'धी' नहीं होती, तब तक 'समाधि' कैसी? विषम दृष्टि रहते योग, समाधि और ध्यान तो क्या, धारणा भी होना असंभव है। सम-दृष्टि तब होगी, जब लोगों में भलाई बुराई की भावना उठ जाय।

८

वृत्ति तब तक एकांत नहीं हो सकती, जब तक मन में कभी यह आशा रहे और कभी वह। शांत वही हो सकता है, जिसे कोई कर्तव्य और आवश्यकता खींच-घसीट न रही हो। अपने आप तो ये वासनाएँ पीछा छोड़ेंगी ही नहीं, जब कभी पल्ला छूटेगा, तो आप ही छुड़ाना पड़ेगा। इसलिए जीने तक की आशा को भी त्यागकर मन को ब्रह्मानंद में डाल दो।

९

एक दिन तो शरीर को जाना ही है, सदा के लिए पट्टा तो लिखाकर लाये ही नहीं थे। तब आज ही से समझ लो कि यह है ही नहीं, और ब्रह्मानंद के समुद्र में शंका-रहित होकर कूद पड़ो। आश्चर्य तो यह है, जब हम इन कामनाओं को छोड़ बैठते हैं, तो ये अपने आप पूरी होने लग पड़ती हैं।

१०

उन लोगों को, जो भेद-वाद और अभेद-वाद के शास्त्रार्थ में लीन हैं, झगड़ने दो। जब बुद्धि के तल से उतरकर कारण-शरीर में ज्ञान का दीपक जलता है, तो ये झगड़े आप ही तय हो जाते हैं। जब तक मनुष्य के अंतर हृदय में राम का डंका नहीं बजता, तब तक उसे न उपासना रस देगी न ज्ञान, न वेद की संहिता अर्थ देगी, न उपनिषदें।

११

ऐ हिंदवालो! क्या तुम भी देश-भक्त बनना चाहते हो? तो फिर अपने आपको देश और उसके निवासियों के प्रेम में अर्पण कर दो, एकता का म[illegible] पैदा करो। सच्चे आत्मिक सिपाही और वीर ब[illegible] कर अपने तन, मन, धन को देश के हित में बलिद[illegible] कर दो। देश के कष्टों का अनुभव करो, देश तुम्ह[illegible] कष्टों का अनुभव करेगा।

१२

सारा हिंदुस्तान मेरा शरीर है। रामकुमारी मे[illegible] पैर और हिमालय मेरा सर है। मेरे बालों क[illegible] जटाओं से गंगा बह रही है, मेरे सर से ब्रह्मपु[illegible] और अटक निकले हैं। विंध्याचल मेरा लँगोट है[illegible] कुरुमंडल मेरा दाहिना और मालाबार मेरा बा[illegible] पाँव है। मैं संपूर्ण हिंदुस्तान हूँ। पूर्व और पश्चि[illegible] मेरे दोनों बाहु हैं, जिनको फैलाकर मैं अपने देश[illegible] भाइयों को गले लगाना चाहता हूँ।

१३

ऐ गुलामी! अरे दासपन! अरे कमजोरी! अ[illegible] समय है। बाँधो बिस्तर। उठाओ लत्ता पता। भागो[illegible] छोड़ो मुक्त पुरुषों के देश को। सोनेवालो! बाद[illegible] भी तुम्हारे शोक में रो रहे हैं। बह जाओ गंगा में, डूब मरो समुद्र में, गल जाओ हिमालय में। मौ[illegible] की है शक्ति राम की आज्ञा बिना दम मारने की! राम का यह शरीर नहीं गिरेगा जब तक भार[illegible] बहाल न हो लेगा। यह शरीर कत्ल भी हो जायगा, तो भी इसकी हड्डियाँ दधीचि की हड्डियों की तरह किसी-न-किसी तरह इन्द्र का वज्र बनकर द्वै[illegible] (दुई) के राक्षस को चकनाचूर कर ही देंगी। यह शरीर मर जायगा, तो भी इसका ब्रह्मबाण चूकने का नहीं।

स्त्री गयी थी, कलक्टरों का काम था कि सरकारी ग्रामों और आती जाँच तथा अन्य प्रकारों से र्मदायों का हाल मालूम करते रहें और कोई त्रुटि रें, तो बोर्ड को रिपोर्ट करें। बोर्ड उचित कार्यवाही रते थे और जहाँ जहाँ वे प्रबंधक स्वयं नियुक्त कर कते थे, वहाँ-वहाँ कलक्टर से जाँच कराके उचित ाक्ति को नियुक्त करते थे। बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स लंदन से इसे अपनी स्वीकृति भी दे दी थी।(३) हुत समय तक इन क़ानूनों पर अमल हुआ और र-मन्दिरों की दशा संतोषजनक रही।

सं० १८३९ के लगभग इँगलैंड में ईसाई मिश- री लोगों(४) ने इसके विरुद्ध आंदोलन शुरू किया। नका कहना था कि ईसाई सरकार को हिन्दू सलमान धर्मदायों की निगरानी नहीं करनी चाहिए, ससे हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाने में अड़चन ड़ती है और बिना ईसाई बनाये साम्राज्य की नींव ढ़ नहीं हो सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि ं० १८३९ और सं० १८४२ के बीच सरकार ने ाथ खींच लिया और लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति को विनाश होने दिया। यहाँ के अधिकारीवर्ग तथा जनता के नेता इस हानिकारक नीति का विरोध करते रहे, किन्तु बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स ने एक न मानी। सं० १८६३ तक पुराने क़ानून(२) बने रहने पर उनका उल्लंघन किया गया और स्वेच्छाचारी प्रबंधकों को निरंकुश कर दिया। सं० १८६३ में ऐक्ट २० पास किया गया, जिससे पुराने क़ानून(२) रद्द किये गये, किन्तु कोई उचित योजना सुप्रबन्ध की नहीं बनायी गयी। जनता का अधिकार पहले ही छिन चुका था, अब सरकार ने भी मुँह मोड़ लिया। यह ऐक्ट उस कुप्रबन्ध को, जो सरकार की नयी नीति से उत्पन्न हुआ था, बिलकुल दूर न कर सका। सं० १९६३ के बाद क्या किया गया, यह आगामी लेख में लिखा जायगा।

(1) Letter of Commissioner Orissa, No. 666 dated 20 Aug. 1868. (2) Bengal Regulation XIX of 1810 & Madras Regulation VII of 1817. (3) Elliott's Report March 1845 & Chamiar's Report, May 18.1844. (4) Idolatory In India, 1849, Papers submitted to the House of Commons.

प्राकृत पूजन

(लेखक—श्रीबचनेशजी)

तुम्हें क्या पूजें हम भगवान!

बिछाये आसन हैं सब भुवन,
किये सारा चेतन आह्वान॥
अर्घ दे रहे नदी नद स्रोत,
पाद्य सर सागर सिन्धु महान।
आचमन करा रहा हिम-चंद्र,
सुमन करते मधुपर्क प्रदान॥
बजा घन-घन घंटा घननाद
मेघ करवाते दिव्य स्नान॥
पिन्हाता अम्बर अम्बर अमल
आभरण तारागण द्युतिमान॥

चढ़ाते मारुत-मलय सुगंध
पुष्प बहु तरु तृण कर निर्माण॥
धूप दे रहा अग्नि कर धूम
आरती उतारता विवस्वान॥
विरच षट् ऋतुएँ षट्रस पाक
लगातीं भोग समय-सम जान।
परिक्रमा करते सब ब्रह्मांड
वंदना वाणी वेद-पुराण॥
न तो भी कर पाते उपचार
तुम्हारा सब सम्यक् सविधान॥

करूँ मैं क्या विशेष 'बचनेश';
हृदय से लगे रहो हर आन॥ (अप्रकाशित प्रद्युम्नचरित्र से)

तुम्हारी शिकायत और उसका उपाय

(लेखक—सरपरस्वरूप श्री १०८ महात्मा शाह्न्याहजी महाराज)

जब तुम मन्दिरों और तीर्थों पर जाकर पुकार करते हो कि "हम पापी हैं", हमारे पाप क्षमा किये जायें, तो क्या यह सच्चे दिल से कहते हो? प्यारे! यदि ये शब्द सच्चे दिल से निकलते, तो तुम कभी पुण्यात्मा बन गये होते। सूर्य के सामने अंधकार का क्या काम? पर ऐ नमाज़ियो! त्रिकाल संध्या करनेवालो! और घंटे की आवाज़ पर गिरजे में हाज़िर होनेवालो! तुम्हें अपने इष्टदेवों की शपथ है ज़रा बताना तो सही, तुम्हारे अन्दर भी अपने देवताओं और उनके गुणों का कुछ लेश है कि नहीं? हम जानते हैं कि इसका उत्तर नकार में ही होगा। यदि हकार में होता, तो गिरजाघर के घंटे की तरह "हम गुनहगार हैं" की आवाज़ बराबर न आती रहती। दूसरी बात यह भी है कि तुम्हें अभी सच्ची मसजिद और मन्दिर का पता भी नहीं। यदि पता होता, तो तुम अब तक अवश्य सफलता प्राप्त कर लेते। सच्चा वेदान्त कहता है, इस बात का पता तुम्हें वेदान्त क्रम के निम्नलिखित शब्दों से बतलाते हैं—

"(१) मसजिद या मन्दिर महात्माओं का मन है, यही सबका उपास्य-स्थान है, वहीं परमात्मा विराजमान है।......

(२) ईश्वर या अवतार का वचन है कि परमात्मा की यह आज्ञा है कि मैं इस स्थान का द्वार बन्द किसी और जगह नहीं जाता

[illegible]

है। यदि दुष्ट आदमी यह मान ले कि मैं दुष्ट हूँ, तो यदि वह सचमुच ही दुष्ट हो तो बहुत दिन तक वैसा नहीं रहता। मन की पट्टी मत पढ़ो, आत्मा की ओर देखो। हमारे कहने से तुम आज से अपने आपको शुद्ध पवित्र समझने की बान डाल लो, फिर यदि थोड़े दिनों में ही वैसे न हो जाओ, तो अपनी जगह हमें भेज देना और तुम हमारी जगह आ जाना। वेद पुराण आदि धार्मिक पुस्तकों और बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं का मत है कि आदमी जैसा सोचता है वैसा बनजाता है, और यदि तुम स्वयं पापी ही बनना श्रेष्ठ समझते हो तो याद रहे कि जैसे तुम अपने आपको पापी कहते हो यदि कोई दूसरा भी ऐसे ही कहने लगे तो बुरा मत मानना और पापी के नाम से भी वैसे ही प्रसन्न होकर बोलना जैसा कि राय साहब, पंडित, मियाँ, हुज़ूर, सरदार, महाशय इत्यादि नामों से बुलाये जाने से बोलते हो। यदि पापी के नाम से उस समय ज़रा भी मन मैला हुआ, तो हम तुम्हें यमदूतों से पिटवायेंगे।

दुरंगी छोड़कर इक रंग हो जा;
सरासर मोम हो या संग हो जा।

यह उपासना या प्रार्थना किस काम की जिससे नन्हाग मन की अवस्था न बदल जाय। यह एक ऐसा जादू है, जो सर पर चढ़कर बोलता है। हाथ [illegible] इसको ही कहते हैं। तुम यदि [illegible] और [illegible] यह सच्चा [illegible] कर दूंगा [illegible] करने की [illegible] वाले हो [illegible] में तुम [illegible] महा मुसलमान [illegible] या समाना [illegible]

आत्म-संप्रसार

(लेखक—श्रीचंद्रिकाप्रसाद जिज्ञासु)

यदि 'वेदान्त' का तात्पर्य एक वाक्य में कहना हो तो कहा जा सकता है कि वेदान्त है आत्म-संप्रसार (Expansion of Self), अर्थात् अपने आपको फैलाकर असीम कर देना। प्रत्येक व्यक्ति के साथ 'अहं' और 'मम' दो प्रत्यय लगे हैं। इन प्रत्ययों को असीम और अनंत कर देने की ओर वेदांत उत्तेजित करता है। यह कहना आसान है कि मैं असीम हूँ, मैं अनंत हूँ, पर व्यावहारिक रूप से मनुष्य असीम और अनंत से कितना तदात्म हो सकता है, यह कहना कठिन है। परम-हंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज ने अपने "जीवित कौन है?" नामक निबंध में इस तत्त्व का विस्तार के साथ विवेचन किया है। उसी का भाव लेकर संक्षेप में नीचे कुछ पंक्तियाँ लिखी जाती हैं।

मनुष्य चाहे कैसा ही विद्वान्, वक्ता, लेखक, ऊँचा अफ़सर, कुलीन, गौरवर्ण, सुंदर और धनवान क्यों न हो किंतु यदि उसका 'अहं-मम' उसी के शरीर तक परिमित है, तो वह वेदांत की दृष्टि से निम्नतम श्रेणी का प्राणी है। वह सदा अपनी ही वेश-भूषा, अपने ही भोग-राग और अपने ही सुख-चैन में रत रहता है—स्त्री, पुत्र, संबंधी, मित्र सबको अपने ही शरीर-सुख के लिए उपयोग करता [illegible] वह हरसमय अपने ही क्षुद्र अहंकार में डूबा [illegible] अपनी ही प्रशंसा के गीत सुनता है। वह केवल [illegible] लाभ को [illegible] और उसी हानि को हानि [illegible] है जिसका संबंध उसके निजी भौतिक [illegible] के साथ होता है। वह पत्थर, तांबा, लोहा [illegible] खनिज द्रव्यों की भांति अपने आप बढ़ता, [illegible] और नष्ट की तरह सदा अपना ही काल [illegible] रहता है। उसका [illegible] [illegible] शरीर है, उसको 'आत्म' का प्रसार [illegible] की शारीरिक सीमा के अंतर्गत है, और [illegible] का अंत उसके शरीर-प्रदेश में ही हो जाता है। उसका 'अहं-मम' चूंकि उसकी देह परिसीमा का अतिक्रमण नहीं कर सका है, अ[illegible] स्वामी राम के 'व्यावहारिक वेदांत' की दृष्टि में व[illegible] 'शूद्र'-पद-वाच्य है। इस काया-विलासी शिश्नोदर परायण व्यक्ति का दूसरा नाम स्वामीजी ने 'पेट-पालू' भी रखा है।

दूसरे वे लोग हैं जो इस पहली अवस्था से कुछ आगे बढ़ गये हैं, अर्थात् जिनका अहं-मम अपने शरीर की सीमा से आगे बढ़कर अपने परिवार तक पहुँच गया है। ये लोग केवल अपने ही सुख-चैन से संतुष्ट न रहकर अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बियों के उन्नति-विकास और सुख-चैन को भी अपनी उन्नति और अपना सुख समझते हैं। ये पहले पुरुष की भाँति नितांत संकुचित नहीं हैं। इनके सुख की सीमा और इनका 'अहं-मम' अपने शरीर से आगे निकलकर अपने परिवार तक विस्तृत हो गया है। ये लोग वृक्षों की भाँति एक स्थान पर बढ़ते और फूलते-फलते हैं, तथा धरती से रसादि चूसकर अपनी शाखाओं, टहनियों और पत्तियों आदि अपने कुटुम्बियों को तो हरा-भरा रखते हैं, किंतु अपने नीचे घास आदि छोटी वनस्पतियों को पनपने और बढ़ने नहीं देते। हाँ अपने निकट आये हुए पथिक आदि को अपनी शीतल छाया और फलादि देते हैं। अतः इनकी प्रकृति 'वृक्ष' के समान है, और ये 'कोल्हू के बैल' की तरह अपने केन्द्र के चारों ओर घूमा करते हैं। इनकी 'आत्म' का प्रसार अपने परिवार की सीमा से आगे नहीं होता। ये पहले 'शरीर-पालक' से कुछ उन्नत अवश्य हैं, पर परिवार के आगे इनका 'अहं-मम' न होने से केवल 'परिवार-पालक' हैं। 'व्यावहारिक वेदांत' की दृष्टि से ये लोग [illegible] 'वैश्य' हैं। ऐसे लोग मानव-हृदय के विकास की [illegible] स्टेज पर पहुंचे होते हैं।

तीसरे वे लोग हैं जिनका अहं-मम अपने परिवार से आगे बढ़कर अपनी जाति तक फैल गया है, और जो अपनी जाति की उन्नति, अपनी जाति की बढ़ती, अपनी जाति की भलाई और अपनी जाति के प्रतिपालन में तो रत रहते हैं, पर दूसरी जातियों की कुछ भी परवा नहीं करते; वरन् अन्य जातियों को अपनी जाति के अधीन कर लेने की कामना रखते हैं। ये लोग पशुओं का-सा स्वभाव रखते हैं और 'जाति-प्रतिपालक' हैं। इनका गति-क्षेत्र 'घोड़दौड़ के घोड़े' के समान है, जो एक नियत सीमा के अंतर्गत चक्कर लगाया करता है। इनकी आत्मा का संप्रसार 'शरीर-पालक' और 'कुटुम्ब-पालक' से अपेक्षाकृत अधिक अवश्य है, पर अपनी जाति के आगे नहीं जाता। ये लोग अन्य जाति के लोगों को भी अपनी ही आत्मा समझने और उनके साथ अपने ही समान ममता रखने में समर्थ नहीं होते। ऐसे लोग 'व्यावहारिक वेदांत' की दृष्टि से 'क्षत्रिय' हैं।

इनके सिवा एक और हैं जिनमें मनुष्यों के समान न्याय आदि सद्गुण हैं, जिनमें जाति, वर्ण और संप्रदाय आदि का पक्षपात नहीं है, जो अपने देश के प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी जाति, किसी वर्ण और किसी भी धर्म का क्यों न हो, अपना देश-भाई समझते हैं, जो देश के प्रत्येक बच्चे को अपने राष्ट्र की संपत्ति और अपनी आत्मा समझते हैं, जिन्होंने अपना सारा समय, सारी चिंता और सारा ध्यान अपने राष्ट्र की भलाई के लिए अर्पण कर दिया है, जिन्हें अपने देश की भूमि प्यारी है, जो अपने राष्ट्र की सेवा में निरंतर रत रहते हैं, जो राष्ट्र के दुख से दुखी और राष्ट्र के सुख से सुखी रहते हैं, जिन्होंने अपने आपको अपने राष्ट्र से अभेद कर लिया है। ऐसे देशभक्त राष्ट्रप्रेमी पुरुषों का गति-क्षेत्र 'चन्द्रमा' के समान है, जो देश की दरिद्रता-रूपी अँधेरी रात में चारों ओर प्रकाश छिटकाता है। 'व्यावहारिक वेदांत' की दृष्टि से ये लोग 'ब्राह्मण' हैं।

इनके अतिरिक्त एक और पुरुष हैं जो उपर्युक्त चारों प्रकार के प्राणियों से श्रेष्ठ हैं। ये वे महात्मा जन हैं जो जाति, संप्रदाय, देश और राष्ट्र की सीमा को भी अतिक्रमण कर गये हैं। जिनके लिए प्राणिमात्र समान हैं, जो समस्त विश्व के प्राणियों को अपनी ही आत्मा समझते हैं, जिनकी समस्त विश्व के प्राणियों के साथ एकसमान ममता है। जिनकी वाणी और जिनके भाव अंतरराष्ट्रीय हैं, जिनके वाक्य समस्त विश्व के लिए समान-रूप से कल्याणकारी हैं, जो सदैव समस्त विश्व के प्राणियों के हित-चिंतन में रत रहते हैं, जो समस्त विश्व के प्राणात्मा हैं और जिनका गति-क्षेत्र 'सूर्य' के समान सर्वत्र व्याप्त है, जिन्होंने द्वैत के राक्षस का संहार कर दिया है, जो अद्वैत के महार्णव में सदैव निमज्जन करते हैं, जिनकी आत्मा असीम से एकरूप हो गयी है, जिनकी ममता असीम में निमग्न हो गयी है। इस प्रकार ससीम का असीम से मिलाप, सांत का अनंत में लय ही वेदांत का ध्येय है, और यही आत्म-संप्रसार की पूर्णता है। यही ब्रह्मानंद है। इस परम सुख का अनुभव मन-वाणी की सीमा से परे है। भूत काल से भारत में ऐसी अनेक विभूतियाँ हुई हैं जिन्होंने विश्व के प्राणियों को यह संदेश दिया है। इसी से भारत जगद्गुरु के सर्वोच्च सिंहासन पर समासीन है। परमहंस स्वामी रामतीर्थजी इसी असीम में विहार करते थे। उनकी अनुभूति उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

"मैं शाहंशाह 'राम' हूँ। मेरा सिंहासन तुम्हारे हृदय में है। जब मैंने वेदों का उपदेश दिया, जब कुरुक्षेत्र में गीता सुनायी, जब योरुशलम और मक्के में अपने संदेश सुनाये, तो लोगों ने मुझे ग़लत समझा था। अब मैं अपनी आवाज़ फिर ऊँची करता हूँ। मेरी आवाज़ तुम्हारी आवाज़ है— तत्त्वमसि, तत्त्वमसि, तत्त्वमसि !"

अवध-सेवा-समिति का प्रवर्तन

(लेखक—श्री श्रीरामजी)

श्री आर० एस० नारायण स्वामीजी महाराज अथवा नवयुवक श्री आर० एस० नारायण स्वामीजी महाराज, जैसा कि भली भाँति विख्यात है, सर्वपूज्य श्री स्वामी रामतीर्थजी के शिष्यों में अग्रगण्य थे। श्रीनारायण स्वामीजी अपने गुरु श्रीस्वामी राम-तीर्थजी के इस स्थूल शरीर के परित्याग पर उनके उपदेशों को एकत्रित करके सर्वसाधारण तक पहुँचाने की सुविधा स्थापित करने और उनके देशोन्नति के दर्शाये मार्ग पर हिन्दुस्तान के नवयुवकों को चलाने की युक्ति सोचने में मग्न हो गये। उन्होंने हिन्दुस्तानी अन्तर्प्रान्तीय भ्रमण किया और जहाँ-जहाँ अवसर मिला, विद्यार्थियों तक स्वामी रामतीर्थजी का सन्देश पहुँचाया। जब-जब लखनऊ में वह ठहरे, तब-तब झुण्ड-के-झुण्ड विद्यार्थियों के उनके पास प्रतिदिन आते रहते थे; उनसे प्रश्नोत्तर करते थे, और स्वामी नारायण स्वयं अपनी प्रत्येक लखनऊ-यात्रा में एक लेक्चर अवश्य विद्यार्थियों को दिया करते थे। सन् १९१३ ई० से १९१६ तक लखनऊ में श्रीनारायण स्वामी का आना-जाना अधिक रहा, और इसी समय में जो कुछ घटनाएँ हुई थीं, उनसे ऐसा ज्ञात होता है कि सन् १९१३ ई० में उन्होंने अपने पूर्वोक्त उद्देश्य की स्कीम (योजना) तैयार कर ली थी। लखनऊ को श्रीस्वामी रामतीर्थजी के उपदेशों के प्रचार का केन्द्र-स्थान स्थापित किया और वहीं अपना स्थायी डेरा डालकर श्री राम-तीर्थ पब्लिकेशन लीग की नींव डालने का प्रबन्ध किया जो क्रमशः लखनऊ में स्थापित हुई, जिसके द्वारा उर्दू, हिन्दी व अँगरेज़ी में साधारण लोगों की भलाई के लिए श्रीस्वामी राम के सदुपदेशों की प्राप्ति सुलभ हो गयी। इसी समय श्रीनारायण स्वामी ने अपने इस विचार को भी प्रकट किया कि वह नौजवानों के लिए ऐसा क्षेत्र पैदा करना चाहते हैं जहाँ वे उनके उपदेशों को व्यवहार में लाने का उद्योग कर सकें। बारम्बार वह नवयुवकों को बतलाते थे कि वे लोग अपनी भारत-माता का कल्याण करने के योग्य उस समय तक नहीं हो सकते, जब तक उनका मन नीची विषय-वासना में मग्न समझता रहेगा कि आत्मा साढ़े तीन हाथ के शरीर में सीमित है और "मज़हब" व्यक्तिगत क्षणिक स्वार्थ की प्राप्ति का उपाय-मात्र है। जब तक वे पूर्वोक्त विचारों का परित्याग करके इस सन्देश का अनन्य ज्ञान न पाने लगें कि उनकी आत्मा विश्व की आत्मा है तथा विश्व के दुःख में उनको दुःखी होना चाहिए और उसका निवारण उनकी सच्ची कामना होनी चाहिए और मज़हब शान्ति, शक्ति, निर्भयता, उदारता, प्रेम और ज्ञान का स्रोत है; उनके अंग-अंग में ये गुण प्रकाशित होने चाहिए, वह स्वदेश के कल्याण के कारण नहीं हो सकते। स्वामीजी ऐसा साधन उपस्थित करना चाहते थे, जिसके द्वारा उपर्युक्त पूर्वोक्त सदुपदेश नवयुवकों के रोम-रोम में रम जाय और आधुनिक वातावरण में भी वे इस मार्ग से विचलित न हों, निःस्वार्थ समाज-सेवा ही स्वामी नारायण को ऐसा साधन प्रतीत हुआ। अतः उन्होंने लखनऊ में स्वयंसेवक संस्थाओं को संगठित करके 'अवध सेवा-समिति' की —

किया और उसमें स्कूलों व कॉलेजों के नवयुवकों को भर्ती किया। वह प्रत्येक मेले में वर्दी पहनाकर अपनी संरक्षता में विद्यार्थियों के स्वेच्छासेवक-दल को ले जाकर मेलों में यात्रियों की सुविधाओं का अनेक प्रकार से प्रबन्ध करते थे। उन्होंने पुलिस की मार, लम्पटों के अत्याचार और चोरों के लोलुपाचार से यात्रियों को निर्भय कर दिया। महन्तों, गंगापुत्रों व पद-स्पर्श-दर्शकों के मायाजाल आवरण से स्त्रियों का उद्धार कर दिया। अब पूज्य स्थानों में स्त्री-पुरुष व बच्चों के झुण्ड-के-झुण्ड निडर चिन्ता-विहीन श्रद्धा से दर्शनार्थ भ्रमण करने लगे—इस विश्वास के साथ कि भूले-भटकों को स्वेच्छासेवक रास्ता बतला देंगे, आवश्यकता-वश डेरे तक पहुँचा देंगे और अत्याचारियों को योग्य दण्ड दिलवा देंगे तथा सब प्रकार यथेष्ट सेवा-सुश्रूषा करेंगे। इस तरह इधर श्रद्धालुओं की श्रद्धा अकण्टक होगयी और उधर नवयुवकों में नयी जागृति पैदा हुई। अब उनमें [illegible] मेले में घूमने-फिरने की मनोवृत्ति दूर हो गयी और एक दिन पहले से ही निःस्वार्थ सेवा का उत्साह देदीप्यमान होने लगा है। अब उनकी आत्मा [illegible] के [illegible] जिसके [illegible] है, अब सीमा-रहित हो गयी है और [illegible] है [illegible] स्वामीजी की [illegible] [illegible] तन की सेवा में आसक्त थे। मध्याह्न में सेवा-धर्म से अवकाश पाकर जब ये स्वयंसेवक स्वामीजी के चारों ओर बैठकर खाना खाते थे और अपनी-अपनी निःस्वार्थ सेवा की परीक्षा देने में एक दूसरे से स्पर्धा करते थे, तो वह समय देखने के ही योग्य होता। उनकी कथाओं को सुनकर संकुचित-से-संकुचित आत्मा भी एक बार उदारता के प्रकाश से प्रकाशित हो जाती थी और विश्व की आत्मा से मिलने-सी लगती थी। दर्शक विह्वल होकर अवश्य सेवा-समिति के कोष में धन का नैवेद्य न्यौछावर करने लगते थे।

श्रीस्वामी नारायणजी महाराज ने अपने सर्व-पूज्य गुरु स्वामी राम के अमली वेदान्त के संदेश को केवल जबानी ही नहीं घोषित भी किया, बल्कि उसके अमल के लिए जिज्ञासुओं को अचूक साधन बतलाकर समाज-सेवा द्वारा सर्वसाधारण के रोम रोम में भर दिया और संसार के सामने सिद्ध कर दिया कि हिल-मिलकर समाज-सेवा में लग जाने से व्यक्तिगत आत्मा सार्वजनिक आत्मा में लीन हो जाती है और अंग-अंग से उदारता टपकने लगती है, अवश्य अनायास संसार के सारे मनुष्यों के प्रेम की प्राप्ति हो जाती है, हर [illegible] में [illegible] दिखलाई पड़ने लगता है। जहाँ तक नवयुवकों का [illegible] है [illegible] नया जीवन [illegible] [illegible] के [illegible] की धारा है, [illegible]

"व्यावहारिक वेदान्त" पर सम्मति

[illegible]

'सैनिक'

आयलैंड की स्वतंत्रता का संग्राम

[लेखक—पं० बृजनाथ शर्मा एम० ए०, एल-एल० बी०]

(१) प्रारंभिक इतिहास

१६२६ ई० पू० से ३६० ई० तक

"अदीनाः स्याम शरदः शतम्"—यह है भारत-वासियों की दैनिक उपासना का मूलमंत्र, ऊँची जाति कहलानेवाले बहुत-से हिंदू दिन में दो-तीन बार इस मंत्र को पढ़ते हैं, और अनेक शताब्दियों से पढ़ते आये हैं। जब-जब भारतवासियों की स्वतंत्रता में बाधा पड़ी, तब-तब उन्होंने बाधक शक्ति में ऐसा परिवर्तन कर दिया कि वह भारतीय सभ्यता में सम्मिलित होकर स्वतंत्रता की पोषक हो गई। इस का मुख्य कारण है भारत का धर्म, उसका सत्य, अक्रोध और अहिंसा, इस विषय का उल्लेख लेखक की 'गांधी' नामक पुस्तक (Gandhi and the Spirit of India) के अन्तिम अध्याय में आया है। यदि हो सका तो उसका सारांश हिन्दी में कभी न कभी 'व्यावहारिक वेदान्त' के पाठकों को भेंट किया जायगा। किन्तु स्वतंत्रता की चाह केवल इन धार्मिक लक्षणों के होने ही पर निर्भर नहीं है; जहाँ इन सद्गुणों का अभाव है, वहाँ भी स्वतंत्रता के पीछे लोग मतवाले हैं। वास्तव में स्वतंत्रता की चाह प्राकृतिक है। समुद्र से पानी भाप के रूप में इस लिये उड़ता है कि उसे समुद्र की सीमा में बंद रहना पसंद नहीं। वायु का इच्छानुसार इधर से उधर उड़ना उसे असह्य है, इसलिये वायु से स्वतंत्र होने के लिये वह बर्फ, पाला, कोहरा तथा पानी के रूप में फिर पृथ्वी पर आता है। पहाड़ों की कंदराएँ फिर उसकी स्वतंत्रता में बाधक होती हैं, तब वह उन्हें तोड़ गंगा-यमुना के रूप में स्वतंत्रतापूर्वक दौड़ता है। संसार में, और निर्जीव संसार में भी, जिसे देखिए स्वतंत्रता देवी का भक्त है, और उसकी वेदी पर बलि होने को तैयार है।

स्वतंत्रता का ध्यान स्वतंत्रता खो बैठने ही पर आता है। वास्तव में प्रत्येक वस्तु के अभाव में ही उसका ध्यान आता है; स्वस्थ मनुष्य को कभी भी स्वास्थ्य का ख़याल नहीं आता, अस्वस्थ को ही आता है। जो वस्तु जिस प्रकार से प्राप्त होती है, उसी प्रकार उसकी रक्षा होती है, उसी प्रकार वह बरती जाती है। चोरी का माल न खुल्लमखुल्ला काम में लाया जाता है, न घर में रक्खा जाता है। ओषधियों द्वारा प्राप्त स्वास्थ्य की रक्षा भी ओषधियों ही द्वारा होती है। यही हाल स्वतंत्रता का है। यदि धर्मपूर्वक स्वतंत्रता प्राप्त की गई है, तो धर्म से ही उसकी रक्षा होती है, और उसका प्रयोग भी धार्मिक होता है। यदि बलपूर्वक उसे प्राप्त किया है, तो बल द्वारा ही वह सुरक्षित रह सकती है और उसका प्रयोग भी बलात् ही होता है। धर्म द्वारा प्राप्त स्वतंत्रता का उदाहरण भारत के बाहर नहीं मिलता। बल द्वारा प्राप्त स्वतंत्रता के उदाहरण संसार में अनेक हैं। इन में एक आयर्लैंड भी है। आयर्लैंड की स्वतंत्रता के संग्राम में यह पूर्ण रूप से निश्चय हो जाता है कि पाशविक बल से यदि कुछ भी मात्रा स्वतंत्रता की प्राप्त हो जाती है, तो उसके स्थापित रखने में मनुष्य को पशु बनना पड़ता है।

योरप में आयरिश जाति से प्राचीन कोई भी जाति नहीं है। ये लोग वास्तव में सीदियन थे और अपने पूर्वी देश से ऐसे टापू की खोज में चल

दिये थे जो डूबते हुए सूरज के मार्ग में उनके लिये बना था। चलते-चलते वे लोग १७ मई सन् १९२६ ईसा के पूर्व (B. C) उस टापू में पहुँचे और वहाँ आबाद हो गये। इनकी सभ्यता योरप में बड़ी प्राचीन सभ्यता है, जिसका गर्व आज भी आयरिश लोगों को है। जब ब्रिटिश लोग इँगलैंड के जंगलों में नंगे घूमते थे, आयरिश जाति में ऊँची श्रेणी की सुसंगठित संथाएं, और विशेषतः राजनीतिक संस्थाएँ, मौजूद थीं। वे अपना राजा निर्वाचित करते थे, परंतु मुकर्रर कर दी जाती थी, जो 'स्लार्थी' कहलाती थी। चारों भूमि वंश की मुश्तरिका होती थी, जो हिन्दू मुश्तरिका खानदान की सम्पत्ति के समान होती थी, उसे 'फ़राँड डुवायग' कहते थे। हिन्दू और आयरिश खानदान में भेद केवल यह था कि हिन्दुओं में जन्म या गोद लेने से ही सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त होता है, इन लोगों में इकरार कर लेने और सम्पत्ति एक में मिला देने से दो वंश एक हो सकते थे।

इस लेख के लेखक पं० बृजनाथ जी शर्मा

एक ही मौरूसी समूह में से कृषि का बड़ा अच्छा प्रबन्ध था, राजा भूमि का स्वामी नहीं समझा जाता था। आयरिश लोग अनेक जातियों में विभक्त थे [illegible] कहलाती थीं। और इन्हीं [illegible] में कुल भूमि बांट दी गई थी। [illegible] (Tuath) कहते थे। इलाके के छोटे-छोटे टुकड़े किए जाते थे, और वे एक-एक वंश को दे दिए जाते थे। वंश का [illegible] कहलाता था [illegible] जागीर

आयरिश लोग न विदेशियों से मिलते थे, न विदेशी उनको [illegible] देते थे। यहाँ तक कि रोम से जो विजय का तूफान उठा था, जिसने कुल योरप को [illegible] लिया था और इंगलैंड को [illegible] था, आयर्लैंड न पहुँच सका। ईसा के [illegible] वर्ष पीछे तक यहाँ ईसाई मत नहीं पहुँच सका था। पहले पहल सन ४३२ ई० में [illegible] जाति के सन्त पैट्रिक गुलाम की हैसियत

नारायण-चरित्र

[लेखक—महात्मा शांतिप्रकाशजी, प्रेसिडेंट श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग]

भूमिका

ब्रह्मलीन स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट-शिष्य श्रीमन्नारायण स्वामीजी का जीवनचरित्र पाठकों को भेंट किया जाता है। आशा की जाती है कि उनके चरित्रों व उपदेशों से वे लाभ उठाएँगे।

लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि "खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है।" हम नहीं जानते कि यह कहावत खरबूजों के लिये कहाँ तक ठीक है। पर इसमें संदेह नहीं कि एक मनुष्य दूसरे को देख के अपना रंग-ढंग और चाल-चलन बदलता है। बच्चों का चाल-चलन या स्वभाव ही नहीं, वरन् उनकी बोली-वाणी भी प्रायः वही होती है, जो उनके माता-पिता या उन लोगों की जिनके बीच में वे रहते-सहते हैं। देखने में आता है कि वे बच्चे जिनके माँ-बाप गाली देकर बातचीत करते हैं, या जो ऐसे असभ्य लड़कों के साथ खेलते हैं जो गाली बकते हैं, कुभाषी हो जाते हैं। तभी तो कहा गया है कि "जैसी संगत वैसा फल" और कुसंग से बचने और सत्संग में रहने का आदेश किया गया है। मौलाना रूम कहते हैं—

> सोहबते-सालह तुरा सालह कुनद ;
>
> सोहबते-तालह तुरा तालह कुनद ।

अर्थात् संगत ही गुन ऊपजे, संगत ही गुन जाय।

गोस्वामी तुलसीदासजी भी इस प्रकार अमृत-वर्षा करते हैं—

> तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग ।
>
> तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥

अर्थात् स्वर्ग और मोक्ष में जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे तराजू के एक पलड़े में रक्खो और दू पलड़े में उस आनन्द को जो एक क्षण के सत्संग मिलता है, तो भी वह उसकी बराबरी कर सकता। अतः महात्माओं के जीवनचरित्र पढ़ने से पढ़नेवाला महात्मा हो सकता है।

विदित हो कि जब कोई महान आत्मा प्रक होता है, तब उसके काम में सहायता देने के कुछ और महान आत्माएँ भी जन्म लेती हैं, भगवान् राम के साथ काम करने के लिये भ लक्ष्मण ने वरन् हनुमान् और जाम्बवंत-जैसी आत्माओं ने भी जन्म लिया था। ठीक इसी स्वामी राम का काम पूरा करने के लिये इस के हीरो श्रीमन् नारायण स्वामीजी ने जन्म था। इसमें शक नहीं कि यदि नारायण स्वामी तन, मन और धन से स्वामी राम के महान् उपदे प्रकाशन में न लग जाते, तो आज न तो इस ली नाम सुनाई पड़ता और न वे बहुमूल्य रत्न, ज ज्ञान की खान से बराबर निकलते और कारमय हृदयों को प्रकाशित करते रहते थे, पड़ते।

अत राम और नारायण के प्यारों क कर्तव्य है कि इस लीग की पुस्तकों के प्रच तन-मन से लग जाय। राम के इस काम में जो ह हाथ बटावेगा, वह लोक और परलोक के सुख मालामाल और निहाल होगा। अत भगवान र यही प्रार्थना है कि हम और हमारे पाठकों को साहस दे कि हम इस काम में तन मन और ध लग जायँ।

जीवनी का आरंभ—प्रथम खंड

(१) ब्रह्मलीन परमहंस श्री १०८ स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्टशिष्य श्रीनारायण स्वामी जी महाराज को कौन नहीं जानता? आप स्वामी राम के शिष्यों में से मुख्य थे। आपके कार्यों का प्रधान स्थान लखनऊ था। वहाँ का बच्चा-बच्चा आपके काम और नाम से परिचित है। यों तो भारत की कोई ऐसी संस्था या सभा नहीं है जहाँ आपकी शुभ चर्चा न होती हो। भारत क्या, और देशों में भी आपकी कृतियाँ विद्यमान हैं। क्योंकि आपने जापान, हांगकांग, सीलोन, बर्मा और स्याम, इँगलिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान को भी अपने उपदेशों से पारमार्थिक लाभ पहुँचाया है। अमेरिकावालों की प्रार्थना पर आप वहाँ जाने वाले थे, मगर "मेरे मन कुछ और है, कर्ता के कुछ और" आप दिसम्बर सन् १९३७ की ३ तारीख की रात्रि को, सवा बारह बजे, इस असार संसार से चल दिये। हाँ, आपका शव अर्थात् मृत-शरीर गङ्गा-माता की गोद में, जो शिव की जटा से निकली है, हरद्वार के शुभ स्थान में, ५ दिसम्बर १९३७ ई० को दान दिया गया। यह वही माता है जिन्होंने आपके गुरुदेव को—जिन्हें यदि भारतमार्तंड कहा जाय, तो उचित होगा और यदि जगत् का अभिमान समझें, तो और भी अच्छा है—टिहरी गढ़वाल में आज से लगभग ३१ साल पहले अपनी प्रेम की गोदी में स्वयं ही उठा लिया था।

(२) अभी मध्यप्रदेश और सिंध में आप उपदेश देने के लिये गये थे, वहाँ बीमार पड़ गये। लखनऊ लौटने पर फिर कुछ दिनों रोग-शय्या पर पड़े रहे। ज्योंही कुछ अच्छे हुए भक्तों की प्रार्थनाओं पर आपने इधर-उधर जाना आरम्भ कर दिया। पहले तो पूर्व में बलरामपुर गये, फिर पश्चिम में ११ नवम्बर सन् १९३७ को पंजाब की ओर गये और ऐसे गये कि फिर न लौटे। यथा—

"हैफ दर चश्मे-ज़दन सोहबते-यार आख़िर शुद"

(शोक है कि पलक मारते ही प्यारे का संग छूट गया।)

राममनोरथ का, जो श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग का चपरासी है और इस यात्रा में भी आपके साथ था, कहना है कि रास्ते में लाहौर जाने से पहले आपका स्वास्थ्य फिर कुछ गिर गया था, और अपने मित्र डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद के यहाँ स्थान चूहड़-काना में निवास करके जब लाहौर की सनातनधर्म सभा में व्याख्यान देने के लिये जाने लगे, तो डॉक्टर महोदय तथा अन्य शुभचिन्तकों ने आपसे वहाँ न जाने की प्रार्थना की, परन्तु आपने एक न मानी और कहा—"प्राण जायँ पर वचन न जाये।" वही चपरासी यह भी कहता है कि उस सभा ने, जिसमें स्वामीजी गये थे, बहुत कुछ कमी की। पहले तो उसके कार्यकर्ताओं ने बहुत देर तक आपको ओस में बिठाये रक्खा, दूसरे एक ऐसे सज्जन के यहाँ आपको ठहराया, जहाँ रात को जब आपके पेट में दर्द हुआ और आपने एनिमा के लिये गरम पानी चाहा तो न मिला, और न मकान के किवाड़ खोले गये कि जो चपरासी आपके साथ था, वह उसका कुछ प्रबन्ध करता। अतिथि-सेवियों की लापरवाही का समर्थन आपके सुयोग्य शिष्य डॉक्टर नागेश्वरसहाय-सिंह जी, जो बीमारी की ख़बर पाकर पहली दिसम्बर सन १९३७ को लाहौर पहुँच गये थे करते हैं। यदि यह सही है, तो हमको खेद के साथ कहना पड़ता है कि "अभी दिल्ली दूर है।" इससे [illegible]

नहीं कि आजकल —"मन मलीन तन सुन्दर कैसे, विष-रस भरा कनक घट जैसे"—रँगे हुए सियारों ने सिंहों के गौरव में बट्टा लगा दिया है। सिंहों अर्थात सच्चे महात्माओं को मानापमान की परवाह नहीं रहती, परन्तु उन अतिथि-सेवियों का जो उन्हें बुलाते हैं, यह कर्तव्य है कि उनकी आवश्यकताओं की ओर यथेष्ट ध्यान दें। आवश्यकताओं की ओर से विमुख होकर टीमटाम की ओर लगने का जो परिणाम है, वह किसी से छिपा नहीं है। यद्यपि यह ठीक है कि यह लापरवाही इस अभिलाषाओं से पूर्ण मृत्यु का यथार्थ कारण नहीं कही जा सकती, क्योंकि प्रत्येक कार्य का वास्तविक कारण तो ईश्वरीय प्रोग्राम होता है, जो हमारे कर्मों के फल सुख और दुःख के भोगने के लिये बनाया जाता है। अतः 'हरिइच्छा बलवान' समझकर हमको सन्तोष और धैर्य करना चाहिए। परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य लापरवाह हो जाय। यही परवाह और लापरवाही अथवा यो कहिए कि उचित और अनुचित व्यवहार ही मनुष्य को भला और बुरा बनाता है। और इसी कारण मनुष्य अपने कर्मों का शुभाशुभ फल पाता है।

(३) उपर्युक्त चपरासी यह भी कहता है कि जब आपके गुरुभाई स्वामी गोविन्दानन्दजी चूड़काना में मिले, उस समय आपके शिर में घोर पीड़ा हो रही थी। उन्होंने तब उस घटना का स्मरण दिलाया जब स्वामी राम ने आपसे किसी समय कहा था कि "तुम्हारा सिर फटेगा," और आपने अपने शिष्य रामेश्वरसहायसिंह से भी कहा था कि जब अनुभव होने को होता है, तब ऐसे ही कष्ट होते हैं। इसके सिवा आपके शिष्य स्वामी पूर्णानन्दजी जब चूड़काना से आपके साथ चलने को तैयार हुए, आपने मना किया और कहा कि जैसे राम के सा एक रसोइया था, वैसे ही मेरे साथ भी है, क्यों चपरासी ही आपकी रसोई बनाता था। इससे प्रकट होता है कि आपने अपना अन्तिम समय सम लिया था। कदाचित् तभी आपने गुजराँवाला या मुरा वाला की, जहाँ राम अपने बचपन में रहे थे, या की, क्योंकि वह स्थान जहाँ हृदय का विकास उत्थान होता है, तीर्थ है।

(४) जिस समय आपका पार्थिव शरीर श्रीगङ्गा में प्रवाहित किया गया, तब डॉक्टर रामेश्व सहायसिंह, चपरासी राममनोरथ और हर के सज्जन लोगों के अतिरिक्त और भी महानुभ बाहर से इस अन्तिम संस्कार में सम्मिलित होने लिये पधारे थे। उनमें से कुछ सज्जनों के नाम ये हैं—

स्वामीजी के शिष्य स्वामी पूर्णानन्द चूड़काना

स्वामीजी के सुपुत्र सेठ कर्मचंद अपनी म के सहित लाहौर से।

बाबू विद्यानंद एम० ए०, एल-टी०, टंडि यह वह सज्जन हैं कि जिनके स्वामीजी अ लखनऊ-निवास में २० साल के लगभग बरा अतिथि बने रहे। और उनके भाई बा० जीवान बी० काम० तथा उनकी माता और बाबू महा प्रसाद, बा० महेशप्रसाद, और डॉक्टर लद नारायण लखनऊ से।

बाबू हृदयनारायण कानपुर से।

अवध की एक रानी और उनके दो राजकु इत्यादि-इत्यादि। क्रमशः

राम का संदेश

राग भैरवी, ताल दादरा

बदले है कोई आन में अब रंग ज़माना।
आता है अमन, जाता है अब जंग ज़माना॥
ऐ जेहल चलो, दर्द उठो, दूर हो हसद।
कमज़ोरी मरो डूब, बस ऐ नंग ज़माना॥
ग़म दूर, मिटा रश्क, न गुस्सा, न तमन्ना।
पलटेगा घड़ी पल में नया ढंग ज़माना॥
आज़ाद है! आज़ाद है!! आज़ाद है हर एक!!!
दिल शाद है, क्या खूब उड़ा तंग ज़माना॥
लो काठ की हँडिया से निभे भी तो कहाँ तक।
अग्नी तू जला ज्ञान को दे संग ज़माना॥
आती है जहाँ में शहे मशरिक़ की सवारी।
मिटता है सियाही का अभी जंग ज़माना॥
वह ही जो उधर ख़ार, इधर है गुले खंदाँ।
हो दंग जो यों जान ले नैरंग ज़माना॥
देता है तुम्हें 'राम' भरा जाम ये पी लो।
सुनवाएगा आहंग नये रंग ज़माना॥

शब्दार्थ—

आन—क्षण। रंग—अवस्था। अमन—शांति। जंग—अशांति। जेहल—अविद्या। हसद—ईर्षा। नंग ज़माना—संसार को कलंकित करनेवाली वस्तु। रश्क—द्वेष। तमन्ना—इच्छा। तंग ज़माना—संसार की संकुचितता। संग—पत्थर। जहाँ—संसार। शहे-मशरिक़—पूर्व दिशा का राजा अर्थात् सूर्य भगवान। [illegible]—[illegible] [illegible]—[illegible] गुले खंदाँ—खिला हुआ फूल। [illegible]—[illegible] नैरंग ज़माना—संसार का परिवर्तन। [illegible] [illegible] [illegible] रंग ज़माना—संसार की तरंगें।

देखता है या उसे क्षति पहुँचाता है तो वह एक आत्मा से घृणा करता है या उसे क्षति पहुँचाता है।

वेदान्त आत्माभिमान के छोटे रूप या अहं-भाव के अज्ञान का पूर्ण विनाश करता है, और महान निःस्वार्थता या विश्व-प्रेम के साथ संबंध स्थापित करता है।

यह वेदान्त ही के कारण है कि वेदान्ती इस सुन्दर कथन की महान् सत्यता का अनुभव करता है कि "धर्म और जीवन कदापि दो चीज़ें नहीं हैं किन्तु एक ही चीज़ है।" इस प्रकार वेदांती का जीवन दिव्यता के साथ मिल जाता है—दिव्यता वेदांत की निरंतर बहती हुई एक धारा है। वेदांती वास्तव ईश्वर का ही स्पंदन है और जब वह अपने भावों को व्यक्त करता है तो वे भाव अमर वेदों और बाइबिलों के रूप में परिणत होकर समग्र संसार को ज्ञान के प्रकाश और आनंद की महिमा से आलोकित कर देते हैं।

वह अपनी बाहुओं को पूर्व और पश्चिम में फैलाता है जिनसे वह दुःखित और दुःखदायक को, निर्बल और बलवान को, पापी और महात्मा को गले से लगाता है, क्योंकि उसका प्रेम विश्व-प्रेम है, असीम और अनन्त है।

उसका धर्म लिखित पुस्तकों या मतों के भीतर ही नहीं है और न वह मंदिरों और उपदेशकों तक ही सीमित है। वह अपने धर्म को बहते हुए नालों में, खिले हुए सुगंधित फूलों की मुस्कान में, वाक्शून्य पशुओं की अभिव्यक्ति में और बच्चों के भोलेपन में देखता है क्योंकि उसका ईश्वर समग्र संसार का ईश्वर है जो छोटे-से-छोटे परमाणु से लेकर बड़े-से-बड़े ग्रह तक व्याप्त है।

इसके अतिरिक्त व्यावहारिक वेदांत का अभ्यासी एक मौन साक्षी है जैसा कि संसार को प्रकाशित करनेवाला एक उज्ज्वल सूरज। वह उस सब अंधकार के बादलों को दूर करता है जो जातीय और धार्मिक भूलों और विरोधों के कारण आर्थिक स्पर्द्धाओं और राष्ट्रीय झगड़ों के रूप में विद्यमान हैं। वह सदैव नैसर्गिक स्वभाव से ही अकर्तृक परोपकारी और उज्ज्वल है, जो दिव्यता का ही रूप है।

वेदांत को व्यावहारिक रूप में प्रयोग करनेवाले का जीवन केवल अपने या अपने देश के लिए ही आनंददायक नहीं है बल्कि समग्र संसार के लिए है।

परमात्मा करे वेदांत के अभ्यासियों का मार्ग बढ़े।

ईश्वर करे 'व्यावहारिक वेदांत' जो रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग की ओर से आपाततः दीप के समान है, उन सब लोगों को आनन्द प्रदान करे जो शांति के अन्वेषण में निरत हैं। यही मेरी प्रार्थना है।

ॐ ॐ ॐ

(अनुवादक—श्री अनंतराम जुगराण बी० ए०)
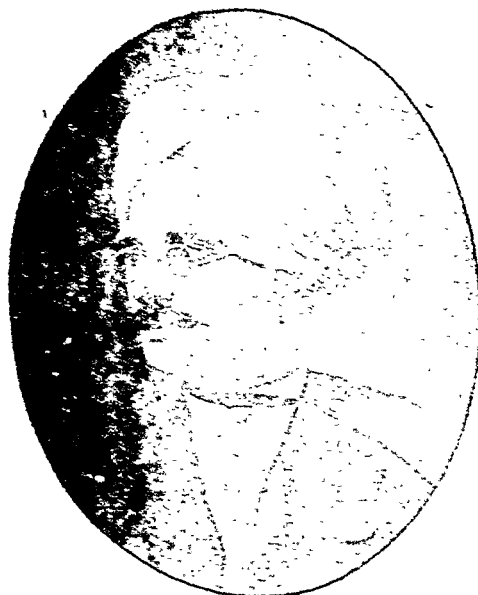
कर रहा है। यह पाठ पक गया है कि जब किसी अर्थ को सिद्ध करने के साधन उद्यत न हों, तो उसकी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। (और वास्तव में जब साधन पास न हों, तो आवश्यकता का प्रतीत होना केवल झूठी भूख है)। पहले तो बड़ी चिन्ता के साथ आवश्यकताओं को पूरा करने का यत्न हुआ करता था, पर अब आवश्यकताएँ बेचारी स्वयं पूरी होकर सम्मुख आ जायँ तो उन पर दृष्टि पड़ जाती है, नहीं तो उनके भाग्य में राम का ध्यान कहाँ? प्रारब्ध कर्म और काल-रूपी सेवकों को सौ बार आवश्यकता हो, तो आनकर 'राम' बादशाह के चरण चूमें। नहीं तो उस शाहनशाह को इस बात की क्या परवाह है कि अमुक सेवक मुजरा कर गया है कि नहीं।

सौ बार गर्ज़ होवे तो धो-धो पियें कदम।
क्यों चर्खो-मिहरो-माह पै मायल हुआ है तू॥
ख़ंजर की क्या मजाल कि इक ज़ख्म कर सके।
तेरा ही है ख़याल कि घायल हुआ है तू॥

आपका दास—

तीर्थराम।

[भगत धन्नारामजी को श्रीस्वामी रामतीर्थजी के गुरु होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जिस समय भगतजी गुजराँवाला में निवास करते थे और यौगिक सिद्धियों के कारण प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे, उसी समय गोस्वामी तीर्थरामजी के पूज्य पिता ने अपने होनहार बालक को उन्हीं अपने परम मित्र भगतजी के निरीक्षण में गुजराँवाला हाई स्कूल के स्पेशल क्लास में भर्ती किया। भगतजी की परमाकर्षक और निराली प्रकृति तथा सफल उपदेशों का भोले बालक रामतीर्थ के चित्त पर अमिट प्रभाव पड़ा। वह भगतजी को प्रतिभा-पूर्ण मति से ऐसा डरते थे मानो साक्षात् ईश्वर से आत्मिक पुरुष डरता हो। प्रतिदिन भगतजी की आकर्षक योग्यता और यौगिक सिद्धि का बालक तीर्थराम के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उन्हें साक्षात् ईश्वर का अवतार मानने लगे। श्रीस्वामी रामतीर्थजी ने बाल्यकाल से लेकर देह-त्याग पर्यन्त अपने गुरु भगत धन्नारामजी के नाम बहुत-से पत्र लिखे। इन पत्रों को पढ़कर स्वामी राम के भाव, जीवन की प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति का पूर्ण परिचय मिलता है। इन्हीं पत्रों के आधार पर स्वामी राम की जीवनी भी

राम-गुरु भगत धन्नारामजी

लिखी गयी है। इन्हें प्राप्त करने में श्रीस्वामी नारायणजी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु अपनी अद्वितीय भक्ति के कारण इन्हें इस पुनीत कार्य में सफलता प्राप्त हुई। हम भी पाठकों के लिए स्वामी राम के पत्रों को समय-समय पर प्रकाशित करते रहेंगे, आशा है, इनसे पाठकों को सिर्फ मनोविनोद ही नहीं, उपदेश भी मिलेगा। सं०]

महात्मा विद्वान् हो जाते हैं, और बड़े-बड़े अमीरों के बच्चे १००) माहवार के मास्टर लोग नौकर रखने पर गधे-के-गधे और नालायक़ बने रहते हैं? दोष इसमें पुरुष के केवल अपने पुरुषार्थ और प्रारब्ध का है; और दूसरों पर दोष लगाना मूर्खता, गधापन और घमंड या अहमक़पन है। और यह भी जरूरी नहीं कि जिनके माता-पिता न हों वे बच्चे उन्नति नहीं कर सकते और जिनके हों वह ही उन्नति कर सकते हैं, बल्कि सत्य बात तो यह है कि जिनके माता-पिता नहीं होते वे ही बच्चे संसार में उत्तम महात्मा और योग्य परोपकारी बनते हैं और जिनके माता-पिता होते हैं, या खासकर जिनकी माता जीती होती है, वे बच्चे कभी योग्य और उत्तम महात्मा पुरुष नहीं निकलने पाते। यह तुम आँखों से देखती हो कि बाबू वासुदेव माता के हाथों में पले, उसके नाज़-नखरे में रहे, आज यह परिणाम है कि उसमें किंचित् मात्र भी धर्म या हृदय की शक्ति नहीं, केवल विषय की गुलामी, स्त्री की गुलामी, बदमाशी और बेहयाई तथा सर्वप्रकार की निर्बलता की गुलामी उसके रोम-रोम में धँस गयी है। और इधर हम या स्वामी राम हैं कि जिनको माता का मुख तक देखना नहीं मिला, माता के प्यार तक का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, प्यार तो कहाँ, सब जगह से झिड़कियाँ और ताने ही मिले। पर परिणाम यह हुआ कि प्रथम तो तुम्हारी या किसी की गुलामी करने की किंचित् भी आदत न आने पायी और न धार्मिक निर्बलता ही होने पायी, बल्कि आज जो हृदय में शक्ति, बल और आनन्द है, उसको नारायण जानता है या अन्तर्यामी ईश्वर। सो तुम्हारी ये तमाम इच्छाएँ मूर्खता से भरी हुई हैं, इसी मूर्खता के कारण तुम दुःख और कष्ट पाती हो, न कि कर्मचन्द के कारण या किसी और के कारण। और जब तक यह मूर्खता व तुम्हारा मन्द भाग्य बने रहेंगे, तब तक तुम दुःख पाती ही रहोगी, इसमें किसी का दोष नहीं। तुम यह समझ रही हो कि हमारे या किसी के प्रबन्ध से तुम सुखी हो जाओगी, और तुम्हें अपने आप यत्न करने या पुरुषार्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं, क्या इस प्रकार किसी दूसरे के प्रबन्ध या यत्नसे मनुष्य सुखी हो सकता है, इस बात को तुम अपने आप विचारो। क्या तुममें से किसी ने हमारे इस सुख के लिए कभी प्रबन्ध या सहायता की थी कि हम संन्यासी होकर अत्यंत सुख को लाभ करें। सहायता तो दूर रही, तुम सबने अपनी ओर से जहाँ तक दुष्टता की हद होती है, वहाँ तक यत्न किया कि हम साधु न बनने पावें, दिन-रात रोने-पीटने तुम लोगों ने किये। लाला हरलाल इत्यादि सब लोगों को तुम लोगों ने भला-बुरा कहा और उसने भी तुम्हारे तानों के डर से हमें इस उत्तम मार्ग से बहुत रोका, पर पुरुषार्थ के आगे क्या कुछ दूर नहीं हो जाता—

वह कौन-सा झगड़ा है, जो वा हो नहीं सकता;
हिम्मत करे इंसान तो क्या हो नहीं सकता?

इस प्रकार तुम लोगों ने सहायता तो कहाँ, उलटा रास्ते में रोड़े बिछाए थे, पर हम फिर भी अपने पुरुषार्थ से तुम्हारे रोड़ों की कुछ भी परवाह न करके सत्य मार्ग पर ही चलते रहे। हमारे पुरुषार्थ का जो परिणाम हमको मिल रहा है, उसको हम ही जान सकते हैं और तुम्हारी निर्बलता, आलस्य, दुष्टता और अधर्म-अवस्था का जो परिणाम तुमको मिल रहा है, उसको तुम ही पूरे अन्दाज़े से जान सकती हो। इस दृष्टान्त से यह नतीजा मत निकाल लेना कि हम तुम्हारी किसी प्रकार की पहली करतूतों से कुछ नाराज़ हैं, या उन करतूतों का कोई बदला निकालना चाहते हैं, या तुम्हारी किसी करतूतों के कारण तुम्हें हृदय से नफ़रत करते हैं। हरगिज़ नहीं।

हमारे से किसी प्रकार के बदले, नाराज़गी या नफ़रत की आशा रखना नितान्त मूर्खता है। हम हृदय से तुम्हारा धन्यवाद करते हैं कि तुम ईश्वर-कृपा से सुशील, नेक, कमवाल और बाबू वासुदेव की घरवाली की तरह विषयी और बेह्या नहीं, बल्कि ह्यादार और क्रोध-रहित थीं, जिसके कारण हम गृहस्थ में भी कुछ ईश्वरमुख हो सके, नहीं तो वासुदेवदासजी से भी अत्यन्त बुरा हाल हमारा हो जाता। इस दृष्टान्त से हमारा तात्पर्य यह था कि तुमने या पिता-माता ने अथवा भाई-बन्धु किसी ने भी हमें साधु बनने के लिए न सहायता दी, न उत्साह और न ऐसा प्रबन्ध किया, पर फिर भी हम साधु हो गये। तो क्या किसी अपने सम्बन्धी की सहायता से हम इतने सुखी हुए हैं, या केवल अपने पुरुषार्थ या गुरु-कृपा से? श्रीरामचन्द्र को तो माता-पिता ने कई वर्ष बनवास दे दिया, पर वह अपने पुरुषार्थ से फिर भी धार्मिक और परोपकारी महात्मा राजा हो गये। स्वामी रामतीर्थजी के पिता ने किसी प्रकार की भी सहायता उनको सुख देने की न की। सहायता तो कहाँ, वह उनको छोटी-सी अवस्था में पढ़ना छोड़कर नौकरी के लिये तंग करते रहे और जब इन्होंने नौकरी न की और पढ़ने में पुरुषार्थ बनाये रक्खा, तो पिता ने घर से बाहर निकाल दिया, पर इन दुःखों में भी वह अपने पुरुषार्थ से पढ़ते रहे, जिसका परिणाम तुमने अपनी आँखों से देखा है कि संसार में वह कैसे मस्त महात्मा हो गये। इस प्रकार किसी के प्रबन्ध से पुरुष सुखी और महात्मा नहीं हुआ करता, केवल अपने पुरुषार्थ और श्रम से ही हुआ करता है। इसलिए तुम भी यदि सुखी और स्वतन्त्र होना चाहती हो तो अपने पर कृपा करके श्रम करो और पुरुषार्थ से काम उत्पन्न किया [illegible] सहायता की न ढूँढो। परमेश्वर ने तुम्हें हाथ-पैर दिये हैं

ईश्वर-कृपा से तुम बलवान् हो। वृद्ध, लँगड़ी, अन्धी, लुन्जी, बौली, गूँगी और निर्बल व नहीं हो। पुरुषार्थ करने के तुम योग्य हो। सब कर सकती हो। भारतवर्ष यद्यपि गरीब है, पर यह गरीब (भारत माता) लोगों को भूखा और दुःखी नहीं रखती कि जो माता के बच्चों की तन-मन से सर्व प्रकार की से करते हैं। क्या तुम इस माता के बच्चों की कि सेवा नहीं कर सकतीं? क्या तुमने कभी द हरलाल या अन्य किसी के घर जाकर यह कहा मैं आपकी या आपके बच्चों की (अर्थात भा के बच्चों की) माता के तुल्य सेवा करना चाहती मुझे अपने घर में रहने दो? क्या तुमने किसी कन्य विद्यालय, कन्या-आश्रम तथा किसी अन्य धर्म कार्यों में अपनी सेवा अर्पण की? क्या तुमने कि महात्मा की सेवा को कभी तन-मन अर्पण किया क्या तुमने कभी देश-सेवा, जाति-सेवा, प्राणिमा की सेवा, समाज-सेवा या सब बच्चों की सेवा आज तक ध्यान और पुरुषार्थ भी किया? य तुम ऐसा करतीं और पुरुषार्थ-हीन न होतीं, अपने सर पर जाति इत्यादि का घमंड सवार न हो देतीं, तो कभी संभव नहीं था कि तुम ऐसी दु और मुसीबतज़दः होतीं जैसे कि तुम लिख र हो। तुमने तो ज़रा-सी भी हमारी नकल नहीं की क्या हम घर से रुपयों की थैली लेकर निकले थे? क पहले से किसी के द्वारा रोटी का हम प्रबन्ध कर कर ईश्वर की ओर झुके थे? क्या अब भी हम क रखते हैं जिसमें हम आनन्द व शान्त रहते हैं क्या तुम्हारा या कर्मचन्द के प्रबंध के ख्याल को ले हम बाहर आये थे? कितने शर्म की बात है! जब हम सब कुछ ईश्वर पर छोड़कर सम्पू विश्वास से ईश्वर-परायण हो गये और हमें अ

तक रोटी-पानी का कभी दुःख नहीं हुआ, पर तुमने किंचित् मात्र भी पति की नक़ल न की बल्कि केवल एक पुत्र के पिंडने में लगती हुई अपना सत्यानाश, अपने आनन्द का सत्यानाश और अपने ईश्वर पर विश्वास का सत्यानाश कर दिया। हमने कई बार पहले भी तुम्हें लिखा था कि जैसा प्रारब्धवश से हम दोनों का मिलाप हो गया और उत्तम नाम पड़ गया था। नारायण ने तो अपने पुरुषार्थ और धर्म पर विश्वास से उस नाम को सिद्ध कर लिया। अब तुम्हारा धर्म और कर्म है कि तुम अपने पुरुषार्थ से अपने आपको यथार्थ रूप से लक्ष्मी सिद्ध कर लो। नारायण तो जगत् का स्वामी होकर साक्षात् नारायण-स्वरूप हो गया है, तुम भी अब देश की माता के समान सबकी सेवा करते हुए सर्वसंसार की माता-रूप साक्षात् लक्ष्मी हो जाओ, जिससे जैसे इस पृथ्वी पर लक्ष्मीनारायण का इन देहों के रूपों में मिलाप और संबंध हो गया था, वैसेही मरने के बाद अपने असल स्वरूप में एक ही देह व रूप में दोनों का पुनः यथार्थ-रूप से मिलाप हो जाय। कई बार इतने लिखने पर भी तुमने एक नहीं सुनी केवल पुत्र की कमाई पर बैठकर पेट भरने की सूझी या यहीं-यहीं हमसे सहायता माँगने की सूझी कि जिससे यहाँ बैठे ही सब प्रबन्ध खाने-पीने का हो जाय और किसी की भी सेवा न करते हुए आलसी बनकर हरामखोरों के समान पेट पालते रहें। निःसंदेह नारायण प्राणीमात्र की सेवा के लिए है और हृदय भी सबके प्रेम और दर्द में दिन-रात पिघलता रहता है बल्कि जब भारतवर्ष की बर्बादी, मुसीबत और दुःखों पर दृष्टि पड़ती है तो हृदय के दर्द के साथ रुधिर (खून) भी पिघल आता है, पर ऐसा होते हुए भी सबसे पहले वे प्राणी सेवा के योग्य और अधिकारी समझे जाते हैं कि जो लूले, अन्धे, यतीम, बच्चे, अपाहिज और सर्वप्रकार से अपने आप में असमर्थ हैं। पर जो अपने आप में समर्थ हैं, अर्थात् पुरुषार्थ करने की और दूसरों की सेवा करने की जो शक्ति रखते हैं वे चाहे सम्बन्धी हों चाहे निःसम्बन्धी उनकी सेवा करना (और उन्हें स्वयं पुरुषार्थ करके अपने पाओं पर खड़े न होने देना) तो उनको आलसी, घमंडी, गधा और अधर्मी बनाना होता है, इसलिए ऐसी सेवा करना वह पाप समझता है। यह तुम जानती ही हो कि नारायण किसी संबंध (शारीरिक सम्बन्ध) की प्रेरणा से न किसी की सेवा करने को उद्यत हुआ, न होता है और न ईश्वर-कृपा से कभी ऐसा होगा। जितनी भी सेवा आज तक की गयी है वह योग्य पुरुषों की की गयी, किसी ऐसे प्राणी की नहीं की गयी कि जो स्वयं तन्दुरुस्त, बलवान और हाथ-पाओं से युक्त हो और केवल मारे शर्म या जाति के घमंड के किसी की सेवा न करना चाहता हो, बल्कि चुपके बैठकर हरामखोरी करना चाहता हो। यदि तुम किसी आश्रम की तथा धर्म-कार्य की सेवा करने पर उद्यत हो, तो हम लोगों से दर्याफ़्त कर सकते हैं और जहाँ भी ऐसी सेवा की आवश्यकता पड़े वहाँ तुम्हें भेज सकते हैं, जहाँ हमारे समान तुम भी देश की सेवा करो और पेट में कुछ अन्न भरो। यदि तुम लाहौर घर में बैठे-बिठाये नवाबों के समान सेवा या सहायता हम से लेना चाहो, तो प्रथम ऐसी सहायता माँगना ही मूर्खता है, द्वितीय ऐसी सहायता की हमसे आशा करना महा मूर्खता है। और यदि घर में बैठे-बिठाये ही सहायता लेने की ज़रूरत है, तो प्यारे हरलाल-जैसे गृहस्थी पुरुषों के घर जाओ, उनसे माँगो, वह भी हमारे ही स्वरूप हैं। जब पहले तुम उनके घर हमारी निस्बत उनसे प्रार्थना करने जाती थीं तो अब भी वही हरलाल हैं, उनके पास सहायता के लिए भी जाना अनुचित नहीं।

बिल्कुल स्पष्ट रहता है चाहे वह घर में हों या समाज में। 'हिंदी' को हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा वह इसी लिए बनाना चाहते हैं कि इसकी लिपि बिल्कुल सरल और विज्ञान के आधार पर अवलंबित है। महात्मा गांधी को भी इनकी भाषा-संबंधी योजना मान्य है। क्यों न हो, वह भी तो सरलता की मूर्ति हैं।

इस व्यक्तिगत सरलता के साथ ही सामाजिक सरलता के वे पक्के पुजारी हैं। गत वर्ष यू० पी० में एक किसान-दिवस मनाया गया था। लखनऊ में भी एक सभा हुई थी। उसमें बड़े-बड़े लोगों ने बड़ी बोली में लम्बी-चौड़ी लच्छेदार तकरीरें की थीं, व्याख्यान दिये थे। अधिकांश देहाती किसान उनकी बातों को अच्छी तरह न समझ पाये। लेकिन जब यह दाढ़ी वाला सादा-सा आदमी खद्दर के लिबास में उनके सामने खड़ा हुआ, वे हर्ष-ध्वनि के साथ उनकी जय-जयकार करने लगे। अपने अग्रज की ओर, नहीं अपने रक्षक की ओर, चकित होकर देखने लगे; मानों उनके रूप में उन सबने अपने ही रूप के दर्शन किये हों। उनकी सरल वाणी ने उन्हें मंत्रमुग्ध कर दिया, वे तन्मय होगये। कारण एक तो उनके शब्दों में सच्ची आत्मा के अनुभव व्यक्त किये गये थे, दूसरे ऐसी देहाती भाषा में उन्होंने भाषण दिया जिसको सब आसानी से समझ सकते थे बड़ी सुगम एवं सरल रीति से उन्होंने उन्हें उनकी संपूर्ण परिस्थिति का ज्ञान करा दिया और उनके दुःख दूर करने और जमींदारों के आघातों से उन्हें बचाने का वचन देकर उनके हृदय में नवीन आशा, स्फूर्ति और उत्साह की तरंगिणी बहा दी। सभा समाप्त होते ही वे आपस में कहने लगे "भैया, ऐस लिच्चर तौ आजु लगि नाहीं सुना गवा। एक-एक आखर हमरी समझ में आइ गवा। यहै बाबू परसोतम दास टंडन आहीं। ऐस अच्छे मनई हन। हम किसानन क्यार इन्हें इतना ख्याल है। ई हमार हक हमैं जरूर दिवै हैं। बोलो, टंडन जी की जै।"

माननीय श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन

यह वेदांत की व्यावहारिकता का एक उदाहरण है। व्यावहारिक वेदांती अपनी सत्ता को जगत् की सत्ता से मिला देता है। जगत् का हित ही उसका हित है जगत् का कल्याण ही उसका कल्याण है। वह अपने में विश्व का रूप देखता है और विश्व में अपना रूप। यही सच्चा विवेक है। इसी से मानवता सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकती है और अशांत संसार में सच्ची शांति स्थापित हो सकती है।
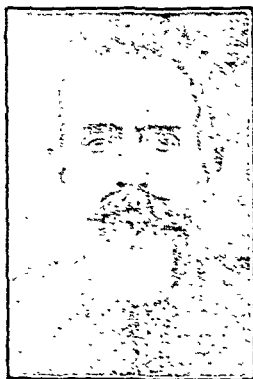
वेदांत और व्यावहारिक वेदान्त

(लेखक—अज्ञात)

वेदान्त क्या है ? व्यावहारिक वेदान्त क्या है ? इन दोनों में क्या कोई अन्तर है ? यदि है, तो क्या ? ऐसे प्रश्न इस पत्र के पाठकों को मनोरंजक हो सकते हैं।

संसार क्या है ? इसका लक्ष्य क्या है ? मैं क्या हूँ ? मेरा लक्ष्य क्या है ? क्या इसे किसी ने बनाया है ? उस बनानेवाले का और मेरा क्या सम्बन्ध है ? ऐसे प्रश्नों के एक विशेष प्रकार के उत्तर का नाम ही वेदान्त है।

संसार के इन मूलभूत अन्तिम तत्त्वों का अन्वेषण वेदान्त ने कई प्रकार से प्रारम्भ किया है, पर अन्त में वह सदा एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा है। उसकी एक प्रक्रिया में वह सबसे पहले मनुष्य की स्वाभाविक इच्छाओं की छानबीन करता है। मनुष्य में तीन ऐसी मूलभूत इच्छाएँ हैं, जिन्हें वह किसी प्रकार दूर नहीं कर सकता। एक तो वह चाहता है कि वह कभी मरे नहीं, दूसरी यह कि वह संसार के सारे ज्ञान को आयत्त करना चाहता है, और तीसरी यह कि वह सदा ऐसे आनन्द में रहना चाहता है जिसमें दुख का नामोनिशान न हो। इन्हीं इच्छाओं से प्रेरित होकर वह संसार के अनेक क्रिया-कलापों में प्रवृत्त होता है, किन्तु न संसार की वस्तुओं से उसकी ये इच्छाएँ तृप्त होती हैं और न कभी हो सकती हैं। अतएव उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। इस में संसार की सर्वोत्तम परिस्थिति में भी एक-न-एक खटका बना ही रहता है। इस प्रकार जब मनुष्य संसार से चारों ओर से हताश हो जाता है, तब वह वेदान्त की शरण में आता है। तब वेदान्त उससे कहता है – देखो, संसार में जितनी भी वस्तुएँ तुम्हारे सामने आती हैं, वे सब नाशवान् हैं और जो भी नाशवान् होगा उसमें स्थायी, शाश्वत शान्ति नहीं हो सकती। किन्तु जब तुम्हारी ये तीनों इच्छाएँ बिलकुल स्वाभाविक हैं, तुमने उन्हें परिस्थिति विशेष में यों ही नहीं बनाया है, तब इनकी पूर्ति अवश्यम्भावी है। ये अवश्य पूरी होंगी और उससे भी अधिक सुन्दर ढंग से जिसकी तुम कल्पना करते हो। वास्तव में तुम न शरीर हो, न मन हो, न बुद्धि हो और न इनका कोई समुच्चय हो। तुम यथार्थ में वह हो जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। जो तुम बचपन में हो, वही तुम बुढ़ापे में हो। इतना ही नहीं, जिसे तुम मृत्यु कहते हो, वह केवल स्थूल शरीर की मृत्यु है। तुम तो इस शरीर के मरने पर भी बने रहते हो, क्योंकि 'मैं मर गया' इस अनुभव की कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए वेदान्त कहता है कि वास्तव में तुम स्वयं नित्य, ज्ञानवान् और आनन्दमय, दूसरे शब्दों में सच्चिदानन्द हो। तुम्हारे वास्तविक सच्चे स्वरूप में ही उक्त तीनों इच्छाओं की प्रेरणा या पूर्ति विद्यमान है। तुमने जो अपने आपको भ्रम-वश, अज्ञान-वश, शरीर, मन, बुद्धि आदि मान रक्खा है, यही तुम्हारे और संसार के अनर्थों का मूल कारण है। बस, इसीलिए वेदान्त ने 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि महावाक्यों की घोषणा की है। वह कहता है – तुम्हारा वास्तविक स्वरूप एक और अद्वितीय है। उस एक सच्चिदानन्दघन के सिवा और किसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

(शेष पृष्ठ ५२ पर)

थी, जिसे सन् १९३१ ई० में यू० पी० सरकार ने प्रकाशित किया था। कांग्रेस-सरकार ने धर्म-रक्षण सभा द्वारा निर्मित बिल के आधार पर ही इस सम्बन्ध में कार्य करने की योजना का प्रस्ताव तैयार किया था। यह एक ऐसा कार्य है, जिसके लिए प्रत्येक हिंदू आपका कृतज्ञ और ऋणी रहेगा।

आप मानव-सेवा और प्रेम के मूर्तिमान् स्वरूप थे। आप प्रायः कहा करते थे, "यह विस्तृत जगत मेरा घर है और लोगों की भलाई करना मेरा धर्म है।"

सारांश यह कि आप न्याय के समान अटल, सत्य के समान कठोर, प्रेम के समान कोमल और पर्वत के समान स्थिर थे।

विश्व के नियन्ता, आपसे हमारी हार्दिक विनय है कि आप अपने प्रेमियों और शिष्यों में स्फूर्ति, प्रेम और कर्म-शीलता का संचार करते रहें, जिसमे आपका शुभ संदेश देश-देशांतर में फैला सके। लोगों ने इसी उद्देश की पूर्ति के लिए आपकी पु स्मृति में इस पत्र को निकालना आरंभ किया हम चाहते हैं कि आपके 'व्यावहारिक वेदान्त' ध्वनि समस्त भूमंडल में गूँज जाय और हुई पाशव-वृत्तियों को त्यागकर मानव-समाज कल्याण के मार्ग पर चले और विश्व-प्रेम स्थापना करे। इस पुण्य-कार्य में आप हमारी यता करें। यह सब आप ही की कृपा का फल

"मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तो
तेरा तुझको सौंपने, क्या लागत है मोर

भवदीय सेवक—
रामेश्वरसहायसिंह

(पृष्ठ ४० के आगे)

तुम जिस अर्थ में अभी 'मैं' का प्रयोग करते हो, यह द्रष्टा-भाव भी मिथ्या है और दृश्य-रूप में अपने सामने जो जगत देखते हो, यह भी मिथ्या है। जो सत्य है या सत् है वह है एक, अनन्त, अनिर्वचनीय, मन-बुद्धि और वाणी से परे।

यह वेदान्त-तत्त्व कहने-सुनने, समझने-समझाने में जितना आसान है, वह अनुभव करने, साक्षात् करने में उतना ही दुःसाध्य है। बचपन से कहिए या जन्मजन्मान्तर से कहिए, हममें शरीर के साथ तदात्म होने का संस्कार लगा हुआ है। हम जिस प्रणाली से शरीर के साथ तदात्म न होकर अपने स्वरूप सच्चिदानन्द-रूप से तदात्म हो सकें, उसी का नाम 'व्यावहारिक वेदान्त' है। व्यावहारिक वेदान्त में भी हमें मनुष्य के मूलभूत तत्त्वों से प्रारम्भ करना होता है—(१) शरीर, (२) मन और (३) बुद्धि। मनुष्य या तो शरीर अर्थात् क्रिया-प्रधान या मन या भाव-प्रधान या बुद्धि या विचार-प्रधान होते हैं। इसीलिए व्यावहारिक वेदान्त ने जो क्रिया-प्रधान हैं उनके लिए कर्मयोग का, जो भाव-प्रधान हैं उनके लिए भक्तियोग का और जो विचार-प्रधान हैं उनके लिए ज्ञानयोग का मार्ग निर्माण किया है। कर्मयोग का अर्थ है केवल अपने व्यक्तिगत कार्य के लिए नहीं, वरन कर्तव्य-दृष्टि से समष्टि हित के लिए काम करना; भक्तियोग का अर्थ है अपना मन और स्वयं अपने आप को उसी एक अद्वितीय प्रति उत्सर्ग कर देना और ज्ञान-मार्ग का अर्थ निरन्तर उस अद्वितीय और अगोचर आत्म का चिन्तन करना।

ये तीनों मार्ग यद्यपि देखने में भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु वास्तव में इनका कार्य और लक्ष्य है। कर्मयोग के मार्ग से निष्काम कर्म करते से धीरे-धीरे मनुष्य का क्षुद्र अहं क्षीण हो है, इसी प्रकार भक्तियोग से भी मनुष्य के हृदय अहं-भावना धीरे-धीरे लुप्त होकर केवल एक अद्वि तीय प्रभु की ही भावना शेष रहती है और ज्ञान में तो केवल उसी सच्चिदानन्दघन का नि चिन्तन करना होता है, जिससे इस संस्कार क्षुद्र अहं का पूर्णतः विस्मरण हो जाता है।

बस, इस प्रकार अपने प्राकृत स्वभाव के सार साधना करते हुए हम जिस लक्ष्य पर प हैं वह है 'तत्त्वमसि' और यही है वेदान्त व्यावहारिक वेदान्त।

कर्ता थे, अत्यंत दुःख हुआ। वे स्वामीजी से क्षमा माँगने के लिए मेरे साथ गये। उस समय स्वामीजी नदी के बीच में एक चट्टान पर बैठे हुए थे। मैंने बा० ज्योतिस्वरूप का स्वामीजी को परिचय दिया। स्वामीजी बड़ी जोर से हँसे और बड़ी देर तक हँसते ही रहे। बा० ज्योतिस्वरूप स्वामीजी के चरणों में पड़ गये, और अपने अपराध की क्षमा माँगने लगे और स्वामीजी से फिर भाषण देने का आग्रह करने लगे, परन्तु स्वामीजी ने इसे स्वीकार न किया। स्वामीजी केवल ऊँचे हँसते ही रहे और फिर 'ओ३म्' का नाद करके समाधि-मग्न हो गये।

देहरादून में स्वामी राम उपनिषदों का अध्ययन करते थे। उनकी वैदिक भाग पर तो श्रद्धा थी किंतु वे कर्मकांड भाग पर श्रद्धा नहीं रखते थे।

अमेरिका से वापस आने पर स्वामीजी और रहन-सहन पर कुछ प्रभाव अवश्य प यह पुरानी कट्टरता न रही।

स्वामीजी के कुछ कागज मेरे पास थे जल-समाधि-मग्न होने के बाद उन कागजों नारायण मुझसे ले गये, और अब उनका प्र हो गया है।

कौन कहता है कि स्वामी राम अब नहीं हैं। उनकी आत्मा अनेक आत्माओं में कर गयी है। आज अनेक आत्माएँ स्वा सन्देश को लेकर संसार के कोने-कोने में हैं। आज संसार के बड़े-बड़े महात्मा जि और ब्रह्मानन्द को पाने के लिए अटूट प्र रहे हैं, उसका पथ-प्रदर्शन श्रीस्वामी राम ने ही

समालोचना

(१) सत्संग (मासिक) पत्रिका—वार्षिक मूल्य १); प्रति संख्या =); सत्संग कार्यालय, फैजाबाद से प्रकाशित होती है। यह पत्रिका डा० निगम के संपादन में निकलती है। इसमें जो लेख छपते हैं, वे बड़ी सरल भाषा में होते हैं और धार्मिक तथा शिक्षाप्रद होते हैं। भारतीयता के प्रेमियों को चाहिए कि वे इस पत्र को अपनायें।

(२) मस्ताना जोगी (उर्दू मासिक पत्र)—वार्षिक मूल्य ३); मस्ताना जोगी लाहौर से प्रकाशित होता है। यह १००-१५० पृष्ठ का मासिक-पत्र बड़ा ही दिलचस्प और मनोरंजक है। इसमें इश्तहार भी नहीं होते फिर भी बड़ी सज-धज से निकल रहा है इसके विशेषांक बड़े ही सुन्दर होते हैं।

(3) PRABUDDHA BHARATA ened India) English Monthly Annual subscription Rs. 1 Single c 7. Published by Advaita Ashrama, ington Lane, Calcutta. The Advaita has rendered valuable service English Knowing Public by bring this monthly for about 44 years. I publishes very interesting and in articles on the Advaita Philosophy Vedanta. It's contributors are W personalities. We hope that the scho devotees will be much benefited by t interesting articles published in the

के आधार पर सहयोग देने का वचन दे चुके हैं, तो मुसलिम लीग के साथ कोई भी समझौते की बात चीत करना निरर्थक मात्र है। इसमें कभी सफलता की आशा नहीं।

भारतीय संस्कृति का अपमान

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों की जननी है। किसी भी संस्कृति का सच्चा आभास उसकी भाषा में स्पष्ट मिलता है, अतएव भाषा और संस्कृति का बड़ा घनिष्ठ संबन्ध है। इसी भाव से आज हिन्दी-साहित्य के महारथी अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए अटूट प्रयत्न कर रहे हैं तथा हिन्दी की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर रहे हैं, किन्तु परिताप का विषय है कि आल इंडिया रेडियो, लखनऊ भारतीय संस्कृति का घोर अपमान कर रहा है। इसका ज्वलन्त उदाहरण उसके कार्य-क्रम में मिलता है। आल इंडिया रेडियो स्टेशन, लखनऊ के अध्यक्ष का निरंतर प्रयत्न है कि हिन्दी-भाषा के सरल शब्दों के स्थान में भी कठिन उर्दू शब्दों का प्रयोग हो और हिन्दी पर उर्दू का गाढ़ा पुट लगा दिया जाय। उदाहरण के लिए रोज के बोलचाल के शब्दों— 'नमस्ते' 'प्रणाम' 'सादर वन्दे' इत्यादि के स्थान में 'आदाबरज़' इत्यादि शब्दों का नित्य प्रयोग किया जा रहा है। भारत की बहुमत हिन्दू-जनता के चित्त पर इससे बड़ा आघात पहुँच रहा है और आल इंडिया रेडियो के कार्यकर्ता भारत के बहुमत के विचार की अवहेलना कर अपनी कूटनीति के जाल को विस्तार के साथ फैला रहे हैं।

हाल ही की एक घटना है कि आल रेडियो लखनऊ से एक 'कवि-सम्मेलन' और 'मुशायरा' करने का आयोजन किया जा रहा उसके कार्यकर्ताओं ने अपनी कूटनीति के हिन्दी-कवियों को बहुत कम शुल्क देने का किया और उर्दू के शायरों को बहुत अधिक पर हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने विरोध शामिल होने से इन्कार कर दिया है नगण्य-से कवि शामिल हों तो हों। यदि आल रेडियो, लखनऊ के कार्यकर्ता अपनी इस कूट को नहीं बदलते, तो भारतीयता के पक्षपातियों इसका घोर विरोध करना चाहिए और में भारतीय सरकार से लिखापढ़ी करनी चाहि इस भेद-भाव की नीति से भारतीय संस्कृति का अपमान हो रहा है।

बधाई !

हमें यह सूचित करते हुए अत्यंत हर्ष होता कि संयुक्त प्रान्तीय सरकार ने अपने 'सू विभाग' में एक हिन्दी-साहित्य-सेवी की नियुक्ति है। हमारे परम मित्र श्रीयुत बालकृष्ण आई० सी० एस० हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और लेखक हैं। आपकी साहित्य-सेवाओं से साहित्य-संसार भलीभाँति परिचित है, आपही विभाग के लिए विशेष उपयुक्त व्यक्ति व्यावहारिक वेदान्त आपको इस समुचित पद प्राप्ति पर हार्दिक बधाई देता है!

OM

VYAVAHARIKA VEDANTA

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"

OL. 1 LUCKNOW: JANUARY 1940. No. 1

MY MOTTO

**"GOD IS REAL, WORLD UNREAL,
SELF-REALIZATION THROUGH RENUNCIATION."**

ॐ सत्यम् स्वामी राम

How beautiful upon the mountain are the feet of him that bringeth glad idings, that publisheth Peace that bringeth good tidings of God, that publisheth alvation, that saith unto Zion; thy God reigneth............Bible.

GREETING "PRACTICAL VEDANTA."

All friends of Progress and Creation,
Hail thee with a divine elation.
Be a New Star of Truth indeed,
The world of *Practical Vedant* hath need.
May the clear words of sage and saint,
Remove from many hearts the taint!
Distil from pure Vedant a mead,
The Essence, to be lived and breathed!
Proclaim the Peaceful, true and Good,
Chant loud of Love and Brotherhood!
Go, Godly Envoy, bravely forth—
Bless sunny south, east, west and north!

Om, Om, Om!

OM

VYAVAHARIKA VEDANTA

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"

OL. 1 LUCKNOW : JANUARY 1940. No. 1

MY MOTTO

"GOD IS REAL, WORLD UNREAL,
SELF-REALIZATION THROUGH RENUNCIATION."

ॐ सत्यम् स्वामी राम

How beautiful upon the mountain are the feet of him that bringeth glad idings, that publisheth Peace that bringeth good tidings of God, that publisheth alvation, that saith unto Zion; thy God reigneth............Bible.

GREETING "PRACTICAL VEDANTA."

All friends of Progress and Creation,
Hail thee with a divine elation.
Be a New Star of Truth indeed,
The world of *Practical Vedant* hath need.
May the clear words of sage and saint,
Remove from many hearts the taint!
Distil from pure Vedant a mead,
The Essence, to be lived and breathed!
Proclaim the Peaceful, true and Good,
Chant loud of Love and Brotherhood!
Go, Godly Envoy, bravely forth—
Bless sunny south, east, west and north!

Om, Om Om!

Sister Sushila Devi
[illegible] PEACE.

The Essence of Gita

(Swami Shivanand 'Anand Kutir', Rikhikesh.)

I again and again remind you, Dear Friends, that the goal of life the *summum bonum* of existence is Self-realisation or attainment of God-consciousness You have taken this body for this purpose alone. You have evidently forgotten this vital point on account of the force of Avidya (ignorance), Raga, Dwesh, Kama and Moha. Now open your eyes. Wake up. Gird up your loins for fighting against ignorance and acquiring Atma Gyana, which alone will secure you freedom from the Samsaric wheel of birth and death.

Peace, bliss, ananda, sukha, Gyana, Atma, Brahma, Chaitanya, Purusha, Sri Krishna Tattwa, Parama Dharma, Nirvana, Parama Pada, Gita are all synonymous terms only

Bhagawad Gita contains the Divine nectar. It contains the essence of Vedas and Upanishads. It is like Chintamani, Kalpataru or Kamadhenu. You can milk out anything from it. It contains 700 slokas. It is a book of eternity, of all ages and of all climes It is not a catch-penny book which has a life like that of a mushroom. Gita has been my constant companion in life. It is a *Vade mecum* for all.

Gita is a unique book of all ages It is a book that comes under the cat[illegible] of Prasthana Traya, th[illegible] thre[illegible] [illegible] books [illegible]

[illegible]

various methods of Sadhan according to nature of the student for the attainment the final goal of life. The instructions are inculcated by Lord Krishna to A[illegible] are not meant merely for Arjuna but [illegible] people of the whole world. Gita [illegible] universal book, which contains [illegible] teachings for all. It is a standard book Yoga for all. The language is as simple could be. A man who has even an elemen[illegible] knowledge of Samskrit can go through book. It deals with the four Yogas, Karma Yoga, Raja Yoga, Bhakti Yoga Jnana Yoga.

A close study of Gita was revealed Bhagawan Sri Krishna Chandra, Lord of Yogis, to Arjuna on the battle-field of K[illegible] kshetra. Arjuna attained knowledge of through the grace of his friend, Lord Kri[illegible] in the battle-field, within an hour and [illegible] through intuition and revelation. His [illegible] fear and confusion vanished entirely thr[illegible] the teachings of Bhagavad Gita Th[illegible] Lord Krishna taught Gita to Arjuna, teachings are intended for men of di[illegible] temperaments at all times. This is the [illegible] of the Gita

There are countless commentaries [illegible] at the present moment A volume [illegible] written for each sloka. A busy man [illegible] Karma tendencies will be highly benef[illegible] [illegible] the commentary of Sri [illegible] [illegible] Tilak [illegible]

devotion by studying Sridhar's commentary; a man of reasons and will by studying Sri Sankara's commentary, an English translation of which is available in the Theosophical Publishing House, Adyar, Madras.

The first six chapters of the Gita deal with Karama Yoga. The second six chapters treat of Bhakti Yoga, and the last six chapters deal with Jnana Yoga. The first six chapters represent the "Tat" pada of "Tat Twam Asi" Mahavakya. The second six chapters represent the "Twam" pada. The last six chapters represent "Asi" pada. The sixth chapter deals with Raja Yoga. The second chapter treats of the Immortal Atma. The fifth chapter deals with Pranayama.

Constant remembrance and practice of the teachings of the slokas 19, 20, 23 and 24 of the second chapter will confer on you Immortality and will remove fear and Deha Adhyasa (identification with the body).

Constant remembrance and practice of the teachings of Slokas 22 of the fifth chapter, Sloka 8 of the thirteenth chapter, and Sloka [illegible] of the eighteenth chapter will [illegible] Vairagya.

[illegible] the spirit of Sloka 71 of second chapter and Sloka [illegible] of the fourth chapter [illegible] Supreme Peace.

[illegible]

begins with Sloka 11 of the second chapter. Sloka 66 of the eighteenth chapter is the most important of the Gita; "Abandon all duties, come unto Me alone for shelter; sorrow not, I will liberate thee from all sins." Adwaitins explain this Sloka thus: "Give up Jiva Bhavana. Develop Aham Brahma Asmi Bhavana. You will get liberation." Arjuna asks Lord Krishna: "Tell me decisively, what may be the better. My mind is confused as to duty. I am thy disciple, suppliant to Thee. Teach me." Sri Krishna gives his answer to this question of Arjuna in Sloka 66 of eighteenth chapter.

The essence of the whole Gita is contained in the two important Slokas 65 and 66 of the eighteenth chapter—

"Fix thy thought on Me, be devoted to Me, worship Me, do homage to Me. Thou shalt reach Myself. The Truth do I declare to thee; for thou art dear to me."

"Abandoning all duties, come unto Me alone for shelter, sorrow not, I will liberate thee from all sins."

The first Sloka contains the essence of [illegible]. Here is the Sadhana for [illegible]

[illegible]

evotion by studying Sridhar's commentary: man of reasons and will by studying Sri ankara's commentary, an English translation f which is available in the Theosophical 'ublishing House, Adyar, Madras.

The first six chapters of the Gita deal with Karama Yoga. The second six chapters reat of Bhakti Yoga, and the last six chapters eal with Jnana Yoga. The first six chapters epresent the "Tat" pada of "Tat Twam Asi" Mahavakya. The second six chapters repre-ent the "Twam" pada. The last six chapters epresent "Asi" pada. The sixth chapter leals with Raja Yoga. The second chapter reats of the Immortal Atma. The fifth hapter deals with Pranayama.

Constant remembrance and practice of the eachings of the slokas 19, 20, 23 and 24 of the second chapter will confer on you Immortality and will remove fear and Deha Adhyasa (identification with the body).

Constant remembrance and practice of the teachings of Slokas 22 of the fifth chapter, sloka 8 of the thirteenth chapter, and sloka 28 of the eighteenth chapter will [illegible] Vairagya.

Life in the spirit of sloka 71 of second chapter and Sloka 3 of the [illegible] chapter w[illegible] S[illegible]

begins with Sloka 11 of the second chapter. Sloka 66 of the eighteenth chapter is the most important of the Gita; "Abandon all duties, come unto Me alone for shelter; sorrow not, I will liberate thee from all sins." Adwaitins explain this Sloka thus: "Give up Jiva Bhavana. Develop Aham Brahma Asmi Bhavana. You will get liberation." Arjuna asks Lord Krishna: "Tell me decisively, what may be the better. My mind is confused as to duty. I am thy disciple, suppliant to Thee. Teach me." Sri Krishna gives his answer to this question of Arjuna in Sloka 66 of eighteenth chapter.

The essence of the whole Gita is contained in the two important Slokas 65 and 66 of the eighteenth chapter—

"Fix thy thought on Me, be devoted to Me, worship Me, do homage to Me. Thou shalt reach Myself. The Truth do I declare to thee; for thou art dear to me."

"Abandoning all duties, come unto Me alone for shelter, sorrow not, I will liberate thee from all sins."

The first Sloka contains the essence of Narada Bhakti. Here is the Sadhana for perfect control of the [illegible]. By fixing the [illegible] the Lord [illegible] [illegible] Yoga [illegible]

Sadhan. It is difficult to say where Bhakti Yoga ends and Raja Yoga begins. Raja Yoga is the fulfilment of Bhakti Yoga. There is no hard and fast rule or line of demarkation between Bhakti Yoga and Raja Yoga. A Raja Yogi is also a Bhakta. A devotee is also a Raja Yogi. There is difference in names only. Lord Krishna gives his word of assurance to Arjuna to encourage him as he is in a despondent and confused state by saying. "Thou shalt come even to me. I pledge thee My Truth, thou art dear to me." Follow these instructions. He who has practised these four vital instructions will be able to effect, unconditioned, unreserved self-surrender.

The next Sloka contains the essence of self-surrender. The Adwaita Vedantin explains the Slokas thus. "Give up Jiva Bhavana and take to Sivoham Bhavana. You will attain liberation. You will become a Jivan mukta." An acharya of the Bhakti Marga explains thus: "Surrender the fruits of all actions and the actions themselves at the Feet of the Lord. The Lord will give you liberation." "Dharma" here cannot signify the Dharmas of the Indriyas, because even a Jivanmukta sees, hears, tastes and so [illegible] but he stands as a Witness; he does [illegible] identify with the actions of the Indriyas. [illegible] this Sloka Lord Krishna gives His [illegible] answer to the querry of Arjuna contained [illegible] the Sloka, "My heart is weighed down [illegible] the voice of faintness; my mind is confused [illegible] to duty, I ask Thee which may be [illegible] that tell me decisively."

You need not study many books on [illegible] and Vedant. If you can live in the spirit of these two Slokas, you will [illegible] the *summum bonum* of existence, i.e., immo[illegible]lity, eternal bliss and knowledge of the S[illegible]

Glory, glory to Gita. Glory, glory [illegible] Lord Krishna who has placed Gita for me[illegible] this world for attaininng Sreya or H[illegible] May His Blessings be upon you all. [illegible] Gita be your centre, ideal and goal. [illegible] is the man who studies the Gita daily! T[illegible] blessed is he who lives in the spirit of G[illegible] Thrice blessed is he who has realised [illegible] Knowledge of Gita, Atma Jnana !!!

HARI OM TAT SAT.

Om Shanti! Shanti!! Shanti!!!

Sadhan. It is difficult to say where Bhakti Yoga ends and Raja Yoga begins. Raja Yoga is the fulfilment of Bhakti Yoga. There is no hard and fast rule or line of demarkation between Bhakti Yoga and Raja Yoga. A Raja Yogi is also a Bhakta. A devotee is also a Raja Yogi. There is difference in names only. Lord Krishna gives his word of assurance to Arjuna to encourage him as he is in a despondent and confused state by saying "Thou shalt come even to me. I pledge thee My Truth; thou art dear to me." Follow these instructions. He who has practised these four vital instructions will be able to effect, unconditioned, unreserved self-surrender.

The next Sloka contains the essence of self-surrender. The Adwaita Vedantin explains the Slokas thus: "Give up Jiva Bhavana and take to Sivoham Bhavana. You will attain liberation. You will become a Jivanmukta." An acharya of the Bhakti Marga explains thus: "Surrender the fruits of all actions and the actions themselves at the Feet of the Lord. The Lord will give you liberation." "Dharma" here cannot signify the Dharmas of the Indriyas, because even a Jivanmukta sees, hears, tastes and so [illegible] but he stands as a Witness; he does [illegible] identify with the actions of the Indriyas [illegible] this Sloka Lord Krishna gives His de[illegible] answer to the querry of Arjuna contain[illegible] the Sloka, "My heart is weighed down [illegible] the voice of faintness; my mind is confu[illegible] to duty, I ask Thee which may be [illegible] that tell me decisively."

You need not study many books on [illegible] and Vedant. If you can live in the spirit of these two Slokas, you will [illegible] the *summum bonum* of existence, i.e., [illegible]lity, eternal bliss and knowledge of the [illegible]

Glory, glory to Gita. Glory, glory [illegible] Lord Krishna who has placed Gita for this world for attaininng Sreya or [illegible] May His Blessings be upon you all. [illegible] Gita be your centre, ideal and goal. [illegible] is the man who studies the Gita daily! [illegible] blessed is he who lives in the spirit of [illegible] Thrice blessed is he who has realised [illegible] Knowledge of Gita, Atma Jnana !!!

HARI OM TAT SAT.

Om Shanti! Shanti!! Shanti!!!

Short Note of Life Incidents

(By Madan Mohan Goswami)
[Son of Goswami Tirth Ram M.A. known as Swami Ram Tirtha.]

Since my mother (the only grand daughter of Dewan Mussadi Mal, a Minister of Maharaja Ranjit Singh) insisted on accompanying my revered father to the Jungles for Tapasya, the following terms were offered to her by him to enjoy that previlege :—

(a) She should part with all her property and donate the same to charitable institutions.

(b) She should leave both of her sons in a street under the care of God himself without asking any friend or a relative to look after them. If she could not do that and lacked in her implicit faith in God, she could not accompany him.

(c) She must realize that her carporal husband was dead.

Mother having agreed to all this, we became penniless in the worldly sense. When the train was to steam off from the Lahore Railway Station carrying "the would be Swami Jee", I was one of the sight seers. The Swami Jee got into samadhi in the first class railway compartment booked by his admirers. Being lured of the nicety of the compartment, I quietly hid myself in the lavatory of that compartment and thus bacame a passenger of the train.

After the train was in motion, I revealed my presence to my parents, but no objection was raised. On reaching Hardwar I was allowed two dhoties and our pilgrimage started bare-footed, on two chapatis a day, to each of the party. I then realized the rigours of God's University. When we were crossing the Ganges at Hardwar in a boat, father asked mother out of lark, if she could permit the offering of my younger brother (a three year old baby) to Mother Ganges. She bowed to his pleasure. The baby was touched to the surface of the holy river and taken back. The boy, who was suffering from typhoid fever, was cured of it then and there. This was one of the several miracles of my father which I am an eye-witness of.

waking condition, the self cognets the world of gross objects through the gross senses, and is identified with the physical organism. During the dreem state, the Self enjoys Subtle things created by the mind. During the third condition of sound sleep, the Soul is enveloped in the causal body, without any differentiation of name and form. This state is not the highest. The highest is the fourth state of the Soul, a pure intuitional consciousness. In the words of the "Karika", the fourth is not that which is conscious of the subjective, nor that which is conscious of the objective, nor that which is conscious of both nor that which is simple consciousness, nor that which is an all sentient, nor that which is all darkness. It is unseeing, transcendant, unthinkable, indivisable the sole essence of the consciousness of self, the one peaceful, one blissful the one unit. This indeed is the Atman.

It is that wherein disappears the whole of that which effects the mind and that which is also the background of all. It is the real witness. It invites in the grasp, the actor, act and the variety of objects apart one from the other. I see, hear, smell, taste, touch,— in this form the witness unites all in one continuous consciousness even like the lamp suspended in a theatre. The lamp in the theatre, takes in the master, the audience, the actors and all, without destruction in one sweep of light, and continues to shed the same light even when all these are not there."

No one doubts the facts of his own existence. If one does it, he should be told that the one who thus doubts is the self he denies, "when there is any thing like duality, there alone does one see another, there alone does one smell another, there alone does one hear another, there alone does one speak to another, there alone does one know another. But when all is one Self to him, what should he smell with what, what should he see with what ? What should he hear with what ? What should he speak of with what ? By what indeed should that he know through which everything is known. By what should the knower be known no other knowledge is necessary in knowing ones self, for the self is all knowledge; the lamp requires not the light of another lamp for its own illumination.

I am this pure Self whose from is all eternal consciousness.

स्वामी नारायणजी की पुण्य-स्मृति में—

व्यावहारिक वेदान्त

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय विषयों पर वेदान्त की
व्यावहारिक दृष्टि से प्रकाश डालनेवाला उच्चकोटि का

मासिक पत्र

वर्ष १ } ४ फर्वरी-मार्च १९४० { अङ्क २-३

सम्पादक

श्रीचक्रधर 'हंस' नौटियाल एम० ए०, एल० टी०

शास्त्री, हिन्दी-प्रभाकर

विशेष सम्पादक

श्री १०८ स्वामी अद्वैतानन्दजी

डॉक्टर राधाकुमुद मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, विद्यावैभव, इतिहासशिरोमणि

डॉक्टर एन० एन० सेन गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०

श्री जगमोहन मिश्र एम० ए०

राजराजा डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र एम० ए०, डी० लिट०

डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, डी० लिट०

श्री गिरिधारी लाल बी० ए०

श्री दीनदयाल श्रीवास्तव

मैनेजिंग डाइरेक्टर

डॉक्टर रामेश्वरसहायसिंह

प्रकाशक

श्रीशान्तिप्रकाश

सभापति, श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ

मुद्रक

श्रीहरिशंकर शुक्ल, अध्यक्ष, व्यावहारिक वेदान्त प्रेस, लखनऊ

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति ।-)

व्यावहारिक वेदान्त के नियम

१—व्यावहारिक वेदान्त अँग्रेज़ी महीने की १५ ता० को प्रकाशित होकर ग्राहकों की सेवा में भेज दिया जायगा। जिनको किसी महीने में 'व्यावहारिक वेदान्त' न मिले, उन्हें पहले डाकघर से पूछना चाहिए। पता न लगने पर डाकघर के उत्तर के साथ हमारे पास अगले महीने की १५ तारीख़ तक लिखना चाहिए।

२—डाक-व्यय-सहित इसका वार्षिक मूल्य ३) पेशगी है। एक संख्या का मूल्य ।-) ; छः मास का १।।) है। हिन्दुस्तान के बाहर वार्षिक मूल्य ५) है, और बर्मा के लिए ४।) है।

३—सम्मानार्थ राजा महाराजाओं से राजकीय संस्करण का मूल्य १२), रईसों तथा ज़मींदारों से ६) और छात्रों से २) मात्र है।

४—पत्र लिखते समय ग्राहक-नम्बर ज़रूर लिखना चाहिए, नहीं तो जवाब मिलना मुश्किल होगा। उत्तर के लिए टिकट भेजना चाहिये।

५—लेख, चित्र, समालोचना के लिए पुस्तकें और बदले के पत्र वगैरह सम्पादक 'व्यावहारिक वेदान्त' १० ह्वीवेट रोड, लखनऊ के पते पर आना चाहिए। सालाना चन्दा और दूसरे क़िस्म के ख़त मैनेजर 'व्यावहारिक वेदान्त' २५ मारवाड़ी गली, लखनऊ के पते पर भेजना चाहिए।

६—'व्यावहारिक वेदान्त' में धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय विषयों पर लेख, कविता, कहानियाँ वगैरह छपती हैं। उनकी भाषा सरल होनी चाहिए। अधूरे लेख नहीं छापे जाते।

७—किसी लेख अथवा कविता आदि के प्रकाशित करने या न करने का तथा उसे लौटाने या न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। लेखों को [illegible] अधिकार सम्पादक को है। जिन लेखों को सम्पादक लौटाना मन्ज़ूर करे, उनका डाक और रजिस्ट्री-ख़र्च लेखक के ज़िम्मे होगा। बिना उसे भेजे लेख न लौटाया जायगा।

व्यावहारिक वेदान्त में विज्ञापन-छपाई के रे[illegible]

कवर का दूसरा पृष्ठ	...	१८)	प्रतिमास
„ तीसरा पृष्ठ	...	१८)	„
„ चौथा पृष्ठ	...	२०)	„
साधारण पूरा पृष्ठ	...	१५)	„
„ आधा पृष्ठ	...	८)	„
„ चौथाई पृष्ठ	...	४)	„

अधिक समय तक छपनेवाले या स्थायी विज्ञापनों के लिए मैनेजर के नाम से पत्र-व्यवहार करना चाहिए। विज्ञापन छपाई पेशगी ली जाती है। व्यावहारिक वेदान्त में झूठे या अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते, अतः कुरुचि-पूर्ण विज्ञापन न भेजिए।

पत्र-व्यवहार करने का पता—
मैनेजर, व्यावहारिक वेदान्त,
२५ मारवाड़ी गली, लखनऊ

उपयोगी और शिक्षाप्रद पुस्तकें

महात्मा श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन-चरित्र, हिंदी में। यह पुस्तक अब तक उनकी जीवनी के संबंध में संसार की अनेक भाषाओं में छपी हुई जीवनियों के आधार पर लिखी गयी है। मूल्य पहला भाग १।=) दूसरा भाग १।।)

स्वामी श्रीरामकृष्ण के सुप्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्दजी की कुछ बंगाली और अँगरेजी पुस्तकों के अनुवाद—परिव्राजक ।=) प्रेमयोग ।।) आत्मानुभूति ।।) प्राच्य और पाश्चात्य ।।)

साधारण धर्म—(मानव-जीवन का बोध) १) उर्दू में ।।।)

राम का व्यावहारिक वेदांत—हिंदी, उर्दू और अँगरेजी में। मूल्य प्रत्येक का एक पैसा, १) सैकड़ा।

सतयुगी प्रार्थना—जिसका प्रत्येक परिवार में प्रतिदिन पाठ किया जाना उचित है। हिंदी, उर्दू और अँगरेजी में। मूल्य प्रत्येक का केवल एक पैसा, १) सैकड़ा।

स्वामी राम, वेरियस एंप्रेशन्स् ऑफ हिज लाइफ—अर्थात् स्वामी राम के जीवन पर बड़े-बड़े विद्वानों और प्रोफ़ेसरों के भिन्न-भिन्न दृष्टि से लिखे हुए लेख अँगरेजी में मूल्य १) (शीघ्र ही इसका हिंदी और उर्दू-अनुवाद भी निकलेगा)

नारायण-चरित्र—(उर्दू में) इसमें श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग के संस्थापक श्रीनारायण स्वामीजी की जीवनी और उपदेश हैं। मूल्य ।) (इसका हिंदी और अँगरेजी-अनुवाद भी शीघ्र प्रकाशित होगा)

पयामे-मारफ़त—(उर्दू में) ईशावास्य उपनिषद् के प्रथम आठ मंत्रों की विस्तृत व्याख्या। श्रीयुत [illegible] कृत, मूल्य १।)

श्रीमद्भगवद्गीता की भगवदाशयार्थ दीपिका टीका—श्रीनारायण स्वामी-कृत विस्तृत व्याख्या का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण। तीन खंडों में, सजिल्द, बढ़िया कागज पर मुद्रित प्रत्येक खंड का मूल्य साधारण कपड़े की जिल्द ३) ; बढ़िया सुनहरी टाइटिल जिल्द ३।।)

आदि भगवद्गीता—[illegible]

धम्मपदम्—अर्थात् बुद्धगीता। बौद्धों की परम पुनीत पुस्तक। संसार की सभी भाषाओं में इसके अनेकों अनुवाद हो चुके हैं। विशुद्ध पाली-मूल और सरल विशुद्ध हिंदी-अनुवाद-सहित। कपड़े की सुन्दर जिल्द, मूल्य ।=) मात्र।

[illegible]—(अँगरेजी में) श्रीयुत [illegible] बी॰ ए॰, एल॰ टी॰ कृत, मूल्य कागज की जिल्द ।) कपड़े की जिल्द १)

[illegible]—(हिंदी में) [illegible] मूल्य १)

पता—श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, २५ मारवाड़ी गली, लखनऊ।

विषय-सूची

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

] फर्वरी-मार्च १९४० फाल्गुन, चैत्र १९९६ [अंक २-३

प्राण प्रिय हम तुम दो कैसे?
हमारे तुम अंतर्यामी, तुम्हारे हम अंतर्यामी,
अलग फिर हम से हो कैसे?

दो कैसे?

जहाँ हम हैं तुम अंतर्हित,
जहाँ तुम हो हम अन्तर्हित,
एक आत्मा हैं त्यों कैसे?
जो 'हम-तुम' सर्व नाम ही हैं,
भेदना कहने भर को है,
तो उत्तम मध्यम हो कैसे?
'एक' में दो अक्षर गोचर,
किन्तु 'दो' में है एक अक्षर,
कहें हम दो किसको कैसे?
एक की आवृत्ति हो कितनी,
शून्य हो अंत एक बनती,
उसे तो कहें दो कैसे?

एक औ' एक मिला कर दो,
जोड़ना गणित जोड़ने दो,
मिलें वे सम्बन्धी तो कैसे?
प्रेम करने को दो बाना,
बनाये हों हमने नाना,
रहें फिर न्यारे हो कैसे?
दूसरे हो तो दर्शन दो,
दुमवदन हम देखें तो,
हमीं में हो तो हो कैसे?
विश्व 'वचनेश' वचन रचना,
वस्तुतः है शुद्ध भी सच ना,
झूठ ही सत्य अहो! कैसे!

श्रीवचनेशजी

ग़लत करते हैं। संसार के थपेड़े लगते हैं पर उनसे लड़ने की सामर्थ्य नहीं, वासनाएँ सताती हैं पर उनको तृप्त करने की शक्ति नहीं। बस, हम ब्रह्म हैं, हम ब्रह्म हैं, कहकर थोड़ी देर के लिए अपने को और शायद दूसरों को, धोखा दे लिया जाता है।

वेदान्त जिस तत्त्व का प्रतिपादन करता है वह अनुभव गम्य है और यह अनुभूति गाने बजाने से नहीं आती, इसका आनन्द तो निर्विकल्प समाधि में योगी को ही मिलता है और फिर इसकी झलक चलने-फिरते, बोलने, खाते-पीते योगी के हर काम में देख पड़ती है। जो लोग वेदान्त का प्रचार करना चाहते हैं, उसको व्यवहार के क्षेत्र में लाना चाहते हैं, उनका कर्तव्य है कि जनता को पहिले अधिकारी बनावें और उसका यही उपाय है कि उसको आ म-सम्मान सिखावें और मनुष्य का आदर करना सिखलावें। उसमें यह भाव भरना होगा कि विषमता [illegible] है और उसको दूर करने के लिए सब कुछ न्योछावर करना होगा। लोगों को अपने से, अपने निजी धन्धे से ऊपर उठकर समुदायों के हित के लिए काम करने का महत्त्व दिखलाना होगा और अन्याय, अनाचार अत्याचार के सक्रिय प्रतिरोध के लिए तैयार करना होगा—यही व्यावहारिक वेदान्त है। जो इस प्रकार त्याग और बलि नहीं कर सकता, जो प्रतिदिन अपने को भूलकर विराट रूपी भूत होने के अवसर नहीं ढूँढ़ निकालता, उसका वेदान्त थोथा है, वह वेदान्त की अन्तर्भूमिकाओं में प्रवेश करने का अभी अधिकारी ही नहीं हुआ।

[हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्रीबालकृष्ण राव जी आई० सी० एस० के भावों में एक विचित्र आकर्षण है आपकी कविता के मार्मिक शब्दों और भाव के रसास्वादन से पाठक के भावुक हृदय पर गुदगुदी सी लगती है। प्रस्तुत गीत में जो माधुर्य, सरलता और भावों का उद्रेक है वह वर्णनातीत है। सं०]

नयन नील रजनि, कवि के ;
मधुर मधुपात्र हैं छवि के ॥
निशा की कान्तिमय काया ;
सजनि, सौन्दर्य की छाया ;
अकिञ्चन की अमित माया ,
प्रतिबिम्बित आज कण-कण में ,
करों से हो रही रवि के।
जगा कर स्वप्न मनि जग के ,
प्रभामय दीप कर मग के ,
वह स्वर खोलकर दृग के
रहे नीरव नयन कवि के
मधुर मधुपात्र बन छवि के ॥

—:०:—

श्रीबालकृष्ण राव आई० सी० एस०

विनाश की ओर

[लेखक—श्रीमोहनगिरिजी महाराज]

क्या वर्तमान महासमर सभ्यता का अंत कर देगा ? यह एक ऐसा प्रश्न है जो आज प्रत्येक राजनैतिक, ईमानदार और विचारशील व्यक्ति के मस्तिष्क में भ्रमण कर रहा है। जो लोग विभिन्न देशों की संहारसंबंधी योजनाओं, विनाशक आविष्कारों और नवीन युद्ध शैलियों से परिचित हैं, उन्होंने इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है। अतः मिस्टर ए० ए० मिल्ने (A. A. Milne) अपनी पुस्तक 'प्रतिष्ठापूर्ण सन्धि' (Peace With Honour) में लिखते हैं:—Is it not absolutely certain that another European war would mean the complete collapse of civilisation? If we are on the eve of an Armageddon then we are on the eve of the destruction of the world.

अर्थात्—क्या यह पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है कि एक और योरपीय युद्ध सभ्यता को निर्मूल कर देगा। यदि हम अंतर्राष्ट्रीय संग्राम छिड़ने जा रहे हैं तो इसका मतलब यही है कि संसार का संहार होने वाला है।

मिस्टर मिल्ने ने यह प्रश्न संसार के समक्ष उस समय उपस्थित किया था जिस समय पाश्चात्य युद्धप्रिय राष्ट्र अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए सामग्री एकत्रित कर रहे थे, सैनिक शक्ति बढ़ाने में संलग्न थे और विभिन्न प्रकार के शस्त्र ईश्वरीय सृष्टि को नष्ट करने के हेतु योरप के कारखानों में ढाले जा रहे थे। यद्यपि कभी कभी यह ध्वनि भी निकलती थी कि संसार की बड़ी बड़ी शक्तियां को शस्त्रों के निर्माण-कार्य को बंद कर देना चाहिए। लेकिन नक्कारखाने में तूती की कौन सुनता है ? शस्त्रीकरण बढ़ता ही गया और संपूर्ण महाद्वीप एक सेनागार में परिणत हो गया। कुछ वर्ष पूर्व मिस्टर मिल्ने को जिस बात का भय था आज वह हमारे सामने है। अब हमें यह देखना है कि उनके कथन में कहाँ तक सत्यता है।

अभी तो युद्ध का श्रीगणेश है। ऐतिहासिक शत्रु एक दूसरे के सन्मुख समरांगण में डटे हुए हैं। मौसम की खराबी और अन्य कई कारणों से उभय पक्ष अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह तूफान के पहले की निस्तब्धता है। ग्रीष्म ऋतु के आरंभ में ही तोपों की गर्ज, गोलियों की सनसनाहट और हवाई जहाजों की सर्र सर्र दुनिया के चारों ओर सुनाई देगी। रुधिर की नदियाँ नहीं किन्तु रक्त के सागर बहेंगे जिनमें करोड़ों लाशें उतरायेंगी। लाखों विधवाएँ अपने पतियों की स्मृति में तड़प तड़प कर संकटमय जीवन व्यतीत करेंगी। असंख्य असहाय और अनाथ बालक शोकाकुल होकर इधर उधर भटकते फिरेंगे। बड़े बड़े नगर भस्मीभूत हो जावेंगे। गगनचुंबी अट्टालिकाओं, विशाल भवनों और ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाले ललित-कला-पूरित स्मारकों का एक चिन्ह भी शेष न रहेगा। मानवी मस्तिष्क ने विज्ञान की सहायता से जीवन को सुखमय बनाने के लिए जितनी सामग्रियाँ प्रदान की हैं उन सबका नाम तक मिट जायगा। युद्ध के बाद भी युद्ध के परिणाम दुनिया के हर देश में दिखलाई देंगे। पिछले महायुद्ध का अनुभव हमें बतलाता है कि किस प्रकार उस महाभारत के बाद संसार की व्यवस्था

छिन्न भिन्न हो गयी थी। भावी संतान पर इस युद्ध का उससे कहीं अधिक भीषण प्रभाव पड़ेगा।

किन्तु पिछले और इस संग्राम में आकाश पाताल का अंतर है। भला हो विज्ञान का जिसने पशु को मनुष्य नहीं बल्कि मनुष्य को पशु बना दिया है। अब मनुष्य भी पक्षियों की भाँति उड़ने लगा है। लेकिन मनुष्य और पक्षी की उड़ान में कितना भेद है। पक्षी उड़ कर अपने बच्चों के लिए खुराक लाता है किन्तु मानव वायुयान के द्वारा अपने ही भाइयों के खून से होली खेलता है। पिछले बीस वर्षों में वायुयानों ने बड़ी उन्नति की है। गत महायुद्ध में मशीनगन ही मुख्य शस्त्र था लेकिन इस युद्ध में मशीनगन, टैंक, मोटर, बम-वर्षक-वायुयान, वायुयान विध्वंसक तोप, सामुद्रिक बारूद की और धुएँ की सुरंगें, जंगी जहाज, ध्वंसक जलयान, पनडुब्बे और तारपीडो का प्रयोग किया जा रहा है। इन शस्त्रों के अतिरिक्त अब एक दूसरी वस्तु का प्रयोग किया जायगा, जो गत महायुद्ध में केवल नाम के लिए प्रयुक्त हुई थी। वह है, जहरीली गैस। यह एक ऐसी वस्तु है जो शीघ्रता से प्राण लेने में अप्रसर सिद्ध हो रही है। कल ही की बात है कि अबीसीनिया में जब मुसोलिनी ने देखा कि आत्म गौरव की रक्षा करने वाले वहाँ के वीर सैनिक इटली की नवीन और अर्वाचीन शस्त्रों से सुसज्जित सेनाओं के सामने शीश झुकाने को तैयार नहीं हैं तो उसने उन निर्दोष देशवासियों पर जहरीली गैस का प्रयोग किया। परिणाम यह हुआ कि वे लोग जो मुसोलिनी की बन्दूकों और तोपों का सामना [illegible] से कर रहे थे [illegible] को विवश [illegible]

कहा जाता है [illegible]
[illegible]

जहरीली गैस किस सीमा तक मृत्यु की धुन [illegible] बढ़ा सकती है, उसका वर्णन योरोपीय लेख[illegible] शब्दों में ही देखना उचित होगा। लार्ड हालिस[illegible] लिखा है कि "अवगत गैसों में 'मस्टर्ड गैस' [illegible] विपाक है। रिचमांड से बार्किंग तक और फिंचले[illegible] थम तक के लिए (जिला लंदन का अधिकांश क्षेत्र[illegible] आ जाता है) केवल ४२ टन मस्टर्ड गैस ही [illegible] राज्य स्थापित करने के लिए पर्याप्त होगी। १२ [illegible] में ही इस क्षेत्र के प्रत्येक प्राणी की साँस [illegible] जायगी।" चूंकि अब 'रॉयल-एयर-फोर्स' [illegible] बम-वर्षक वायुयान में दो टन गैस के बम आ स[illegible] इसलिए २० हवाई जहाज इस काम को बड़ी [illegible]लता से पूरा कर सकते हैं। एक दूसरे अंग्रे[illegible] कहना है कि "अगर कल हवाई जहाजों [illegible] झुंड उड़कर उस केन्द्रीय नगर के लाखों निवा[illegible] के मध्य एक ऐसी गैस फैलाना चाहें जिसमें [illegible] लाखों जीवों का सहसा संहार हो जाय तो [illegible] बचने के लिए कोई उपाय नहीं है। इस का[illegible] लिए २०—२५ वायुयान पर्याप्त होंगे...... लंदन की आबादी इस तरह दम घुटकर [illegible] समाप्त हो जायगी।" भौतिक विज्ञान के एक [illegible] मिस्टर लैंगविन का कथन है कि "एक [illegible] गैस रखने वाले १०० हवाई जहाज पेरिस [illegible] मीटर गैस की तह बिछा सकते हैं। यह का[illegible] घंटे में हो सकता है और यदि वायु शांत [illegible] पेरिस के नष्ट होने में कोई संदेह न रहे।"

[illegible] फौजी अफसरों का भी यही [illegible] जर्मन फौज के लेफ्टिनेंट [illegible] [illegible] में लिखते हैं। किसी बड़े [illegible] किसी समय भी तबाही की आश[illegible] सकता है। भावी युद्ध फौजों में टक्कर होने के [illegible]

के दुखों की घोर वृष्टि का संकेत दे रहा है ; प्रलय काल का गर्जन कर रहा है। महात्मा गांधी का अहिंसावाद यही सिखलाता है कि जिसका जो अधिकार हो वह उसे प्राप्त हो, मनुष्य स्वच्छंद और स्वतंत्र होकर निर्भय पृथ्वी-मंडल में भ्रमण करे और अपने शरीर, मस्तिष्क एवं हृदय की पुष्ट करे। सदाचार के आधार पर समाज का संगठन हो और प्रेम एवं सद्भाव की नींव पर सच्चे सुख की स्थापना करे। सच्चा सुख प्राणिमात्र में प्रभु की अनन्त सत्ता के दर्शन करने में है, इससे समाज और सभ्यता की निर्बाध उन्नति होती है। मानव-शक्ति निर्माण में है, संहार में नहीं। मानव जाति के निर्माण के पहले आत्मज्ञान की आवश्यकता है। आत्मज्ञान के अर्थ—अपनी आत्मा की अनंत शक्ति एवं अतुल वैभव को जान लेना है, जो प्रकृति के अणु अणु में अपना परिचय दे रहा है। इस विश्वात्मा के ऐश्वर्य को हम भूले हुए हैं. जो हमको तेजोराशि सूर्य, चंद्र और तारागणों की ज्योति में अपने प्रकाश का, असीम ब्रह्मांड में अपने विस्तार का जिसमें असंख्य ग्रह छोटे-छोटे रूप में बिखरे दिखाई देते हैं और अपने सौंदर्य का प्रकृति की निराली छटा में आभास दे रहा है। जिसको देखकर वैज्ञानिक कुण्ठित हो जाते हैं और कारण खोजने का असफल प्रयत्न करते हैं उसका कारण तो हम ही हैं। हमारा अपना आत्मज्ञान है। यह सच्चिदानंद हमारे अंदर यही प्रेरणा कर रहा है कि सबको अपने अंक में संभालो अपने दृष्टि-कोण को, उसे संकीर्ण बने बनाओ अन्यथा यह तुम्हारी सुख-शांति का अंत कर देगा। और स्वार्थ के गड्ढे-गर्त में डाल कर जीवन को अंधकार और दुखमय बना देगा। इसलिए अपने दृष्टि-कोण को विस्तृत बनाना चाहिए। शहन्शाह स्वामी राम की भांति अपने मनोरथ विश्व के वैभव का अनुभव करना चाहिए, यहीं को पूर्ण अधिकार प्राप्त है और जहाँ परस्पर ईर्ष्या द्वेष अथवा युद्ध का अवसर कभी आ ही नहीं सकता, क्योंकि यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अनंत और अनंत शक्ति की उपलब्धि हर समय रहती है। यही सतयुग है, यहीं सच्चा विवेक और यही व्यावहारिक वेदांत। इसी से हम जगत् का कल्याण कर सकते हैं, उसको विनाश से बचा सकते हैं और स्थापित कर सकते हैं यही सच्ची शांति—शांति सम सुखम्।

स्वामी राम के जीवन की कुछ घटनाएं

(स्वर्गीय प० मथुराप्रसादजी नैथानी द्वारा संग्रहीत)

स्वामी राम शिकागो (अमेरिका) में व्याख्यान दिया करते थे। एक दिन विज्ञान के प्रोफेसर ने आपसे प्रश्न किया कि क्या आप हिन्दू हैं ? राम बादशाह ने उत्तर दिया मैं क्या नहीं हूँ मैं सब कुछ हूँ। सब धर्म मेरे हैं अत: मैं हिन्दू भी हूँ। इस पर प्रोफेसर साहब ने कहा कि स्वामीजी आप हिन्दू हों न हों परन्तु यह बात तो सत्य है कि आप हिन्दू दर्शन शास्त्र का ही प्रचार करते हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया आप नहीं समझे। मैं सत्य का प्रचार करता हूँ। सत्य असीम है जिसे कोई व्यक्ति या समाज नहीं बना सकता। जो चाहे उसे अपना सकता। हिन्दू ऋषियों ने उसे पाया परन्तु इसका अर्थ यह कि सत्य को हिन्दू धर्म का ठीका देदी। फिर प्रोफेसर साहब बोले क्या कहते हैं स्वामीजी क्या हिन्दुओं के उन पुरखाओं ने जिन्होंने कि में सबसे बड़ी पौराणिक असत्य कल्पना

निर्माण किया और जन समाज को उन पर विश्वास करने के लिए नाना प्रकार के आडंबर फैलाये। क्या ऐसे लोग भी कभी सत्य का दर्शन कर सकते थे? राम बादशाह ने अपनी नैसर्गिक सरलता और हास्य के साथ कहा—मेरे प्यारे, क्या तुम उनकी कैसी झूठी कल्पना को मुझे बतला सकते हो? संभव है कि मैं तुम्हें बतला दूँ कि वह कल्पना नहीं किन्तु असीम सत्य-केवल सत्य, को शब्दों के भीतर लाने का उचित प्रयास है। प्रोफेसर साहब ने झट से उत्तर दिया? हाँ, हाँ मैं उनकी हजारों निराधार कल्पनाओं को आपके सामने रख सकता हूँ क्योंकि मैंने हिन्दू पुराणों (Mythology) का पर्याप्त अध्ययन किया है। स्वामीराम बड़े जोरों से हँसे और बोले—किसी एक को तो बतलाओ, ऐ मेरे ही दूसरे रूप! काश तुमने हिन्दू पुराणों के साथ-साथ हिन्दू दर्शनों का भी अध्ययन किया होता। प्रोफेसर साहब ने कहा-स्वामीजी क्या यह असत्य है कि हिन्दू पुराण पृथ्वी को शेषनाग, जिसके हजार सिर और भीषण-आकृति है, के ऊपर स्थित बतलाते हैं। विज्ञान के प्रकाश के सामने इन कल्पनाओं को क्या आप आजभी सत्य मानते हैं और इनके निर्माण करनेवालों को आप सत्य-सेवी कहते हैं? स्वामी राम ने कुछ गभीरता पूर्वक उत्तर दिया—'मेरे प्यारे यदि तुम्हारी सच मुच इस विषय पर सत्यासत्य का निर्णय करने की इच्छा है तो कल प्रात: एक संस्कृत कोष और आधुनिक विज्ञान की कोई पुस्तक जोकि यह बतला सके कि पृथ्वी किस पर स्थित है लेकर अपने इस दूसरे रूप के (मेरे) पास आ जाना। विश्वास रक्खो तुम्हारी शंकाएँ दूर हो जायँगी।

दूसरे दिन प्रोफेसर साहब उपरोक्त पुस्तकों को लेकर स्वामी राम के निकट पहुँचे। स्वामी जी अभी अपने नैतिक ध्यान से निवृत्त होकर अन्य प्रेमियों से वार्तालाप कर रहे थे। प्रोफेसर साहब से बोले—आओ मेरे शेषनाग पृथ्वी नहीं ब्रह्मांड तुम पर स्थित है। प्रोफेसर साहब इसे एक चुटकुला समझकर बैठ गये। रामने अपने सभी प्रेमियों की ओर देखकर कहा—मेरे ही रूपो! प्रश्न है कि क्या पृथ्वी शेषनाग रूपी हजार सिर वाले नीलवर्ण भीषण विषधर सर्प के ऊपर स्थित है। फिर प्रोफेसर साहब की ओर मुड़कर बोले—मेरे प्यारे यह बतलाओ कि विज्ञान के मतानुसार यह पृथ्वी किस पर स्थित है? प्रोफेसर साहब ने झट पट उत्तर दिया-आकाश और आकर्षण पर। स्वामीजी ने खिलखिला कर हँसते हुए कहा प्यारे, संस्कृत कोष को देखो, शेष और नाग शब्दों के क्या अर्थ हैं। कोष खोला तो प्रोफेसर साहब ने आश्चर्य पूर्वक देखा कि उसमें शेष और नाग के अर्थ आकाश और आकर्षण ही हैं। प्रोफेसर साहबने क्षमा माँगी। फिर प्रोफेसर ने यह स्वीकार करते हुए कि पृथ्वी शेष नाग पर स्थित है, आदर पूर्वक पूछा कि ऐसे रूप देने की क्या आवश्यकता थी, इस पर स्वामी जी ने कहा कि शक्ति (Energy) सहस्र धाराओं में ही प्रवाहित होकर आकर्षण आदि का कार्य करती है और उसकी गति सदैव सर्पाकार लहरियों में ही प्रवाहित होती है। फिर स्वामीजी ने कहा प्यारे अब बतलाओ क्या यह पृथ्वी शेष नाग पर स्थित है या नहीं। यह सुनकर प्रोफेसर साहब मौन हो गये

पुनः जान्हवी तीर जा वृक्ष-शिखर पर बैठ कर निर्निमेष नयनों से विरहिणी की भाँति, अनन्त की उपासिका प्रणयी को गगनमण्डल के विस्तृत कोने कोने में खोजने लगी, किन्तु घना अन्धकार धक्का देकर भगा देता था।

मैं अधीर हो उठी थी, चिल्ला कर रुदन करने लगी। अनन्त की चेरी! मेरी स्वामिनी! किधर गयी।

प्रकृति मौन हो गयी, विहग वृन्दों ने बसेरा ले लिया, वृक्षों की हरी हरी शाखाओं ने काली चादर ओढ़ ली। तारागण चमकने लगे। परन्तु मैं रोती रही। कोई पथिक मेरी स्वामिनी का मार्ग बता दे! कोई अनन्त की ओर पहुँचा दे! रोते रोते थक गयी, निद्रा देवी ने सान्त्वना दी, अर्ध तन्द्रा की अवस्था थी, मैंने स्वप्न देखा—"वही पगली उपनाम वाली स्त्री मेरे समीप खड़ी थी" कहती थी—"बेटी धीरज धरो, धीरज! धैर्य, सब ईप्सित देने वाला है, अधीर होने से साहस लुप्त हो जाता है। जो एकमात्र सोने की कसौटी है। साहसी जीव सर्वत्र विजयी होता है। अध्यात्म के मार्ग में भी साहस अत्यन्तावश्यक है।

अतः साहसी हो! पुत्री अनन्त की ओर आना सरल है, किन्तु मार्ग संकटपूर्ण है, उन संकटों को सहन करने योग्य तुम्हारा शरीर तथा अवस्था अभी नहीं है।

कुछ दिन अनन्त की स्मृति में व्यतीत करो। पुनः मैं स्वयं तुमको अनन्त की ओर लाऊँगी।

अतएव सांसारिक वस्तुओं, प्राणियों तथा जीवों मे अनन्त विभूति का अनुभव करो। अनन्त प्रेम का संचार करो। अनन्त माया का खेल देखो। अनन्त मार्गों का अन्वेषण करो।

समयानुकूल होने पर सरल छोटा मार्ग मिलेगा। इतना कह कर देवी का देदीप्यमान मुखमण्डल, कान्तिमय शरीर दोनों अन्तर्हित हो गये।

मैं ठगी सी रह गयी। प्रभात हो चुका था, माता ने कोमल करों से मस्तक स्पर्श किया, मेरी तन्द्रा टूटी, सावधान हुई, आदेशानुसार कार्य-क्रमारम्भ किया। क्रमशः अनन्त विभूति, मायादि का अनुभव प्रारम्भ किया। अब निर्जन स्थान में अधिकानन्द आता। अनन्त राशि को देखा करती। अधिकतर नदी तट पर विश्राम लेती। नदी के कलकल नाद में अनन्त का गान सुनती, उसकी गति में अनन्त की क्षमाशीलता देखती, वन वाहन को तैरते देख कर संसार की क्षणभंगुरता पर विचार करती।

नित्य दो-तीन घंटे यही कार्य-क्रम किसी एकान्त स्थान पर जाकर रहता था। समय व्यतीत हुआ, अनुकूल परिस्थिति हुई, मैं मन्दाकिनी के तीर बैठी थी, "अलक्ष्य वाणी सुन पड़ी" "अनन्त की ओर अग्रसर हो, पद-प्रदर्शक आगे है"। मैं चल पड़ी—अनन्त की ओर। असीम उत्साह है, अपार प्रेम है, अगणित मनोरथ हैं, अपार बल है। अनन्त की ओर सत्वर गति से पदार्पण किया, पीछे देखा कौन है। आगे दृष्टि फेंकी, गम्भीर स्वर से पुकारा:—पथ-प्रदर्शक! सम्मुख देखा, वही पगली, "आओ वत्से" पगली ने आलिंगन किया। दोनों चल पड़े, अनन्त की ओर। अहह! अनन्त की ओर अपार उमंग में चल रही थी, जाती थी अनन्त की ओर। धन्य है! अनन्त पुरुष! धन्य है!

अभिलाषा पूर्ण हुई? बालिके! 'अनन्त की ओर' आयी, देखा जगमग सिंहासन पर अनन्त भण्डार को, उनके वैभव को। उनकी माया को।

धन्य ध्वनि से अनन्त पूरित हो गया। धन्य है! धन्य है!
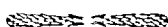
मोहन का महत्त्व

[लेखक—श्रीजगमोहन मिश्र एम॰ ए॰]

संगीत सरोवर के विमल सलिल का मधुर पान सदैव सुखदाई होता है और जब पूर्ण कलाधर उस पर सुधाधार की वर्षा करते हों तब तो उसको पीने वाला सत्यं, शिवं, सुन्दरं का रूप बन जाता है। ऐसी ज्योत्स्ना पूरित जलराशि के केंद्र में कोमल कुमुदिनियों से मण्डित, धवल मयूरासन शोभित रहता है, जिसकी रमणीयता वर्णनातीत है। वहीं समस्त ललित कलाएँ परिचारिकाएँ बनकर भगवती वीणा-पाणी की सेवा में प्रस्तुत रहती हैं। दूधिया पत्थरों को समेटे मानसरोवर का मनोहर पक्षी अपनी ग्रीवा फैलाए चरण-पीठिका के रूप में बैठा रहता है, जिस पर माता का मृदुल चरण पद तल अवलंबित रहता है। मुक्ताम्बर और पंकज मालाओं से माता का शरीर सुसज्जित है। अंक में मनोहर वीणा है, जिस के तारों पर मृदुल उंगलियों का कोमल स्पर्श हो रहा है। मुख-मंडल की अद्भुत कान्ति है। अर्द्ध निमीलित नेत्र हैं। भाल पर सुहाग का बिन्दु शोभित है और रत्नजटित मुकुट से प्रकाश की शुभ्र रेखाएँ छूट रही हैं, यथा,

कमनीय कर कंज [illegible], वीणा सदा छवि छाजत है।
[illegible] सुधा [illegible], सु वाहन हंस विराजत है।
[illegible]
[illegible] मोहन के मन मंदिर माँहि विराजत है।

यह संगीत सरोवर कवि का हृदय ही है, जहाँ [illegible] की हिलोरें उठती हैं, रस प्रवाहित होता है और जिसके केंद्र में भगवती [illegible] है जहाँ कवि दीन बालक बनकर [illegible] हुए कहता है, माँ, मैं [illegible]

लेकर प्रस्तुत हो रहा हूँ। तुम तनिक तार पर उँगली धर दो, फिर मेरी जिह्वा से जो भी स्वर अथवा शब्द-लहरी निकलेगी उसमें चमत्कार अवश्य होगा और वह समस्त जन-समूह को भावना के एक ता[illegible] में बाँध देगी। जगत् का कल्याण होगा।" इन्हीं आशु कवि श्रीयुत जगमोहननाथ जी अवस्थी इसी लोक-मंगलकारी भावना को लेकर कवि-सम्मेलन के रंग मंच पर आते हैं। उनके ध्यानावस्थित मुख मंडल में दिव्य आभा झलकती है, नेत्र बंद होते हैं, अञ्जलि बंधी होती है और कुंकुम बिन्दु से रंजित भाल भी को झुकता है मानो वह भगवती के दिव्य चरणों [illegible] आधार ले रहा है। और जैसे उन्हें अवलंब मि[illegible] जाता है वह प्रार्थना करने के बाद प्रसन्नवदन [illegible] ओर देखते हैं और लोग उठते हैं उनकी परी[illegible] लेने को।

जैसे सूर्य के तेज की माप करने के लिए वै[illegible]निक असफल प्रयत्न करते हैं, वैसे ही मोहन [illegible] प्रतिभा को परखने के लिए बड़े बड़े कुशल कला[illegible] उसे अपनी कसौटी पर कसते हैं, फिर भी उस[illegible] मूल्य वे आँक नहीं पाते। उसे अलौकिक एवं ईश्वरी[illegible] देन मानकर उन्हें चुप और चकित होना पड़ता [illegible]

ऐसे अलौकिक कवि का प्रादुर्भाव हिन्दी भ[illegible] भारत के लिए ही नहीं, अपितु सारे राष्ट्र के [illegible] गर्व की बात है। इसके द्वारा न केवल हिन्दी [illegible] सम्मान बढ़ेगा बल्कि भारत का उद्धार भी हो[illegible] इस कवि का [illegible] कल्पना के पंखों पर उड़[illegible] [illegible]

नदियाँ उमड़ आती थीं। उपदेश करते समय आपके कपड़े आँसुओं से भीग जाते थे, और कभी-कभी हिचकी बँध जाती थी। सुननेवाले भी प्रेम से घायल होकर सुन्न-से रह जाते थे, और देर तक उसी (सुन्न) अवस्था में ही रहते थे। एक बार व्याख्यान देते-देते—'हाय ! मेरे कृष्ण को लोग काला कहते हैं। हे कृष्ण ! तू भी काला, मेरा हृदय भी काला, फिर तू मुझे क्यों नहीं मिलता ?' कहते हुए आप रो पड़े, और इतना रोये कि व्याख्यान बंद करना पड़ा। इन्हीं दिनों आपके कई व्याख्यान प्रेम और भक्ति-विषय पर अजमेर, शिमला, अमृतसर, स्यालकोट और पेशावर में हुए पेशावर में आप अपने एक व्याख्यान 'तृप्ति' में इतना रोये कि आपकी आवाज़ तक नहीं निकल सकती थी। इस विषय में नारायण (लेखक) का यह निजी अनुभव है कि अमृतसर में सनातनधर्म-सभा के वार्षिक उत्सव पर जो प्रभाव आपके व्याख्यानों से लोगों के चित्त पर पड़ा, वह किसी दूसरे उपदेशक के व्याख्यान से कदापि नहीं पड़ा था। विशेषतः कृष्ण-लीला और कृष्ण-लीला के व्याख्यानों ने जो प्रभाव लेखक के हृदय पर डाला, उसका वर्णन नहीं हो सकता। इन दिनों लेखक यद्यपि कट्टर आर्यसमाजी विचार-वाला था, और कृष्ण महाराज को केवल एक महात्मा पुरुष मानता था, औरों के समान उन्हें ईश्वर का अवतार स्वीकार नहीं करता था, और कृष्ण-बालक का जीवन [illegible] गन्दा ढंग मान लिया [illegible] यही कारण था कि उस कृष्ण को [illegible] श्रीमद्भगवद्गीता [illegible] किन्तु गोसाईं [illegible] भक्ति-भर व्याख्यानों से हृदय [illegible] पड़ा कि नारायण-जैसा [illegible] वाला भी गोसाईंजी की प्रेम-तरंगों से विह्व[illegible] प्रवाहित होने लगा, वह श्रीमद्भगवद्गीता [illegible] कृष्ण-लीला के रहस्य-पूर्ण अर्थों को सम[illegible] ओर झुक गया और निरंतर इस गीता की [illegible] व्याख्याओं और भाष्यों का अध्ययन करने [illegible] और यह सब उसी प्रभाव का फल है कि [illegible] तभी से धार्मिक अनुसंधान करने को उद्यत [illegible] और ईश्वर-प्रेम ने उसके हृदय में घर बना [illegible] और उसी ने अंत में इन्हें गोसाईंजी के [illegible] डाल दिया।"

उस समय स्वामी राम के मिलनेवालों से [illegible] प्रार्थना की कि मुझे राम के पास ले चलो, उन्होंने कहा कि इस बात का वादा करो कि कठहुज्जती न करोगे। आप इस पर राज़ी हो [illegible] और बाबू हरलाल आपको अपने साथ स्वा[illegible] के मकान पर ले गये। एक सप्ताह प्रतिदिन [illegible] जाते रहे और कुतर्कों से बचे रहे। फिर स्वा[illegible] ने स्वयं ही इनसे कहा कि तुम भी अपनी [illegible] राम से निवारण कर लो। आपने कहा कि [illegible] समझे-बूझे आपकी किसी बात को मानने [illegible] तैयार नहीं हूँ। यह सुनकर राम ने उत्तर [illegible] राम तो यही चाहता है, तुम स्वतंत्र भाव [illegible] चाहो पूछो, जब तक समझ न लो तब तक [illegible] तर्क-वितर्क करते रहो। फिर क्या था, [illegible] कामना पूरी हुई, प्रश्नोत्तर का क्रम आरंभ [illegible] गया क्या दिन-रात इसकी चर्चा होती रही। [illegible] सन्देह-संशय दूर हटाकर चलने [illegible] नारायण का हृदय कुतर्कों से शुद्ध हो गय[illegible] राम के प्रकाश के लिए दर्पण बन गया। [illegible] नारायण है और राम की चौखट। रात-दिन [illegible] [illegible] और घर से उपरमता होने [illegible] समय मिलना, रात हो या दिन, राम के [illegible]

व्यतीत होता। चीफ़कोर्ट में जहाँ आपके भाई सेठ वासुदेवजी नौकर थे, वहीं आप भी नौकर हो गये थे। इससे पहले कुछ दिनों दूकान पर भी बैठ चुके थे। आपका जी दफ़्तर के काम से भी उचट गया, क्योंकि अब आपको राम की सेवा में रहने के सिवा दूसरा काम न रहा। अब उस लक्ष्मी से, जो नारायण को प्राण से अधिक प्यारी थी, कुछ विरक्ति-सी हो गयी, क्योंकि वह राम के पास जाने से रोकती थी। आपके भाई साहब तो यहाँ तक बिगड़े कि उन्होंने राम के पास एक दिन जाकर यह धमकी दी कि तुम हमारे भाई को ख़राब करते हो, हम तुम पर नालिश करेंगे। आपने जब यह ख़बर सुनी, तो एक सप्ताह तक अपने मकान ही नहीं गये, वरन् राम ही के मकान पर रहे। अंततः बहुत समझाने अनुनय-विनय करने पर घर गये। यद्यपि तन घर में रहता था, किंतु मन राम ही के चरणों में लगा रहता था। इसी अवसर पर राम बहुत रुग्ण हो गये, जीवन के लाले पड़ गये। आपने ऐसे समय में उनकी बड़ी सेवा की, मल-मूत्र साफ़ करने से न हिचके। उनको हृदय-सा रक्खा। इस सेवा से आपने राम के हृदय में घर बना लिया। "हर कि ख़िदमत कर्द ओ मख़्दूम शुद।" अर्थात् जिसने सेवा की, वही सेव्य हो गया। [illegible] अच्छे होने पर राम ने कहा [illegible]

[illegible]

'अलिफ़' नाम का मासिक पत्र जनवरी, सन् १९०० से जारी हो गया, जो अद्वैत की शिक्षा देने में अद्वितीय या अनुपम सिद्ध हुआ।

'अलिफ़' के तीन भागों के बाद जब चौथी बार उपदेश आरंभ हुआ, तो वह अभी आधा समाप्त होने न पाया था कि आनंद, जिस पर पहला भाग्य था और जिसकी खोज में सारा संसार भटकता है, 'राम' के सामने सांजलि सेवा में खड़ा हो गया और प्रतिज्ञा की कि निःसंदेह मैं आपका अपना आप हूँ, आप ही से प्रकट हुआ हूँ और आप ही हूँ। जब यह दशा हुई और चारों ओर आनंद उमड़ने लगा, तो संसार-सागर में दुःख के स्थान में सुख की लहरें लहराने लगीं। समय ने पलटा खाया, 'राम' को यही भाया कि वन को सिधारें। 'नारायण' ॐ की रसीली ध्वनि उच्चारण करते हुए 'अलिफ़' का झंडा हाथ में लिये हुए संग पधारे। घटना इस प्रकार हुई कि स्वामी शिवगुणाचार्य ने शिवगुण शान्ति-आश्रम गुजरांवाला (पंजाब प्रदेश) की ओर से सन् १९०० ई० में, लाहौर में, धर्म-पूजा का चौथा मेला बड़ी धूमधाम से करने का आयोजन किया और इस उत्सव में भारत के सारे धर्मों को एक कॉमन प्लेटफ़ार्म पर अपने-अपने विचार प्रकट करने को बुलाया। यह स्वामी शिव-[illegible]

[illegible]

जो फाड़ देखा ओहो कहूँ क्या
हुई ही कब थी ये सारी दुनिया ॥
ये राम सुनेगा क्या कहानी
शुरू न इसका खतम न हो ये ।
जो सत्य पूछो है राम ही राम
यह महज़ धोखा है सारी दुनिया ॥

(१०) महाराज टेहरी की प्रार्थना पर जब स्वामी राम ने जापान की यात्रा का इरादा किया, तब नारायण स्वामी को भी साथ ले लिया। पहले वह इन्हें साथ ले जाना नहीं चाहते थे, के बहुत अनुरोध करने पर आपको साथ ले स्वीकार किया। इस यात्रा में आप स्वामी राम के साथी हुए, इसे आप प्रकार लिखते हैं—"महाराज ने तार द्वारा कुक ऐंड कंपनी के द्वारा जहाज के किराया का सारा प्रबंध अपने आप कर लिया।" (अ

आत्मदर्शन

[लेखक—श्रीभगवन्नारायण भार्गव]

नज़र उठाऊँ तो देखूँ तुमको, सभी जगह जलवा है तुम्हारा।
सुनूँ जो कुछ गान हो तुम्हारा, जो बोलूँ मैं नाम हो तुम्हारा॥
हृदय में बस ध्यान हो तुम्हारा, करूँ जो कुछ मान हो तुम्हारा।
कहीं भी जाऊँ तुम्हारा दर हो, जो सिर झुकाऊँ तुम्हारा पद हो॥
किसी से मिलने की चाह ना हो, मिलूँ तुम्हीं में तुम्हारा होकर।
समझ में मेरी न कुछ है आता, कहाँ से आया कहाँ है जाना॥
मगर है निश्चय हृदय में मेरे, जहाँ से आया वहीं को जाना।
न और कुछ भी यहाँ वहाँ है, जहाँ जो कुछ भी वह तुम ही तुम हो॥
उठा दो प्यारे दुई का परदा, कि आप अपना ही कर लूँ दर्शन।
न चाह कुछ फिर रहेगी बाकी, बहेंगी आनन्द-प्रेम-नदियाँ॥

क्रामवेल के हाथों से जो संहार हुआ है, यदि उसे नादिरशाह देख लेता तो डर से काँपने लगता' ड्रागेडा के रहनेवालों ने बड़ी वीरता से सामना करने के बाद क्षमा प्राप्त करने के वादे पर हथियार डाल दिये, हथियार डालते थे कि ५ दिन और ५ रात लगातार निर्दोष पुरुष, स्त्री और बालकों के रक्त से पृथ्वी सींची गयी। वेक्सफोर्ड में ३०० स्त्रियाँ सलीब की छाया में आत्म-रक्षा के लिए खड़ी थीं, वे मार डाली गयीं, आयर्लैंड निवासियों ने क्लान्मेल में बदला लिया। वे हार का बहाना करते थे क्रामवेल की सेना को पास आने देते और घेरकर मार डालते थे इधर तो खून का बाजार गर्म रहा, उधर देश के प्रबंध के बहाने से नदी के पश्चिम में पूरा द्वीप आयरिशों से १ मई १६५४ तक खाली करा लिया गया, कनाट के बाहर जो आयरिश मिलता था, वह जीता नहीं छोड़ा जाता था, और पादरियों के सर के लिए दस पौंड मिलते थे। लार्ड डनरेवन ने लिखा है—

"क्रामवेल का विचार था कि वह कैथलिक मत के नष्ट करने को नियुक्त हुआ है, और इस उद्देश्य की पूर्ति में वह किसी भी कार्य से झिझकता न था।

संग्राम के अन्त तक सन् १६५२ ई० में एक तिहाई से लेकर आधी तक आबादी नष्ट हो चुकी थी। अकाल का सार्वभौम राज था। ४० लाख पौंड के माल का मूल्य गिरकर ५ लाख पौंड रह गया था। अनाज का मूल्य १२ शिलिंग की बुशल से ५० शिलिंग की बुशल चढ़ गया था। २० या ३० मील की यात्रा करने पर भी कोई चिन्ह मनुष्य-जीवन का नहीं दिखायी देता था। भेड़िये, जिनको मनुष्य के रक्त का चसका लग गया था, डब्लिन की दीवार तक घूमा करते थे। शेष आबादी को खिलाने के लिए पर्याप्त भोज्य पदार्थ न थे, बलवान् मनुष्यों को देश छोड़ने की आज्ञा दे दी गयी थी और ३०-४० हजार मनुष्य देश छोड़कर चले गये थे। निर्धन पुरुष, बालक, बालिकाएँ और युवा स्त्रियाँ वेस्ट इन्डीज भेज दिये गये थे। उनमें से जो समुद्र-यात्रा में जीवित रह गये, वह कुछ वर्ष काम करने के लिए दास-दासियों के रूप में बेच दिये गये।"*

अर्ध शताब्दि के लगातार भूमि छिनने के उपरांत सन १६४१ में कैथलिक मतावलम्बियों के पास दो तिहाई कृषि की भूमि बच रही थी किन्तु इंगलैंड में राजा के फिर अभिषिक्त होने पर २० लाख एकड़ भूमि पर पुनः कृषिकार्य आरम्भ करने पर भी उन के पास कठिनता से एक तिहाई भूमि बची होगी।

आयर्लैंड के दुःखों का उस समय में जबकि इंगलैंड ने प्रजा के लाभार्थ अपने राजा की हत्या करके प्रजातंत्र राज्य स्थापित किया था, पारावार न था।

*Cromwell thought himself appointed to stamp out Roman Catholicism and shrank from [illegible]thing to accomplish that end.

By the close of the war in 1652, between one third and one half of the population had [illegible]ished. Famine was universal. The stock, which had been valued at four millions, had [illegible]nk to half a million [illegible] from 12 to 50 shillings a bushel. [illegible]ellers [illegible] human life and [illegible]lves, [illegible] to the [illegible] were [illegible]hipped [illegible] for a term of years.

किन्तु अार भी अधिक दिन राजवंश के पुनः स्थापित होने पर वे दु:ख आनेवाले थे। आरंज का विलियम आयर्लैंड पर इसलिए कुपित हो गया कि इस द्वीप ने स्टुअर्ट वंश के साथ भक्ति प्रकट की और उसके बचाने के लिए घोर युद्ध किया, जिसका अन्त लिमरिक की संधि में हुआ। इस संधि के अनुसार द्वितीय जेम्स के सहायकों की जागीरें सुरक्षित कर दी गयीं थीं और उन्हें नागरिक और धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गयी थी और विलियम के प्रति उन्हें केवल नागरिक न कि धार्मिक स्वामिभक्ति की शपथ लेनी पड़ी थी। स्वतंत्रता के सिपाहियों को देश से बाहर जाने के लिए बिना मूल्य टिकट मिले थे। उस समय के आयरिश और अंग्रेज नेताओं की सत्यता का अंदाज इससे मिलता है कि एक तरफ तो संधि होने के थोड़े ही दिन बाद फ्रांस से आयर्लैंड को कुमक पहुँची मगर आयरिश नेता सार्सफील्ड ने यह कहकर उसे अस्वीकार कर दिया कि "अब बहुत विलम्ब हो गया है, हमारा और हमारे देश का मान इसी में है कि हम संधि पर ही डटे रहें, यदि १०,००० फ्रांसीसी सिपाही भी हमारी मदद के लिए आजायं, तो भी हम अपनी बात से नहीं हट सकते। दूसरी तरफ ज्यों ही स्वतंत्रता के सिपाही देश के बाहर हो गये, इंगलैंड की पार्लिमेंट ने लिमरिक की संधि का अन्त कर दिया और उसके स्थान पर उसने आयर्लैंड पर पीनल कोड चलाया, जिसके संबंध में लार्ड टनग्वन का कहना है कि उसका प्रभाव मनुष्य के प्रत्येक कार्य और प्रयत्न [illegible] पर [illegible] किया था [illegible] कैथलिक [illegible] पार्लिमेंट में [illegible] बना कर दिया [illegible] वकील बैरिस्टर [illegible] नहीं हो सकते थे और न कोई हथियार रख सकते थे [illegible] करने का अधिकार भी बड़ा भारी [illegible] जाता था। किसी प्रोटेस्टेंट मतावलम्बी से न भूमि को मोल ले सकते थे न दान में। [illegible] का स्वत्व रहननामा या ३१ साल से अधिक पट्टा भी लेने का अधिकार न था और ऐसा [illegible] सकते थे जिसमें लगान की एक तिहाई से [illegible] लाभ हो। वे अपनी भूमि के संबंध में [illegible] कर सकते थे। यदि किसी का एक लड़का [illegible] हो जाय, तो बाप के मरने पर कुल सम्पत्ति [illegible] मिल जाती थी; अन्य लड़कों को कुछ भी [न] मिलता था। यदि कोई प्रोटेस्टेंट सरकार को सूचना दे देता कि अमुक कैथलिक ने भूमि [illegible] है, तो वह उसकी कुल भूमि का मालिक बन [जाता] था। कैथलिक ५ पौंड से अधिक मूल्य का [घोड़ा] नहीं रख सकता था और हर प्रोटेस्टेंट को [अधिकार था] कि कैथलिक का घोड़ा ५ पौंड उसे देकर [ले] सकता था। यदि कोई जमींदार प्रोटेस्टेंट स्त्री कैथलिक पुरुष से विवाह करती, तो उसे अपनी कुल [illegible] से हाथ धो डालने पड़ते थे। ऐसा विवाह [यदि] कैथलिक पादरी ने कराया हो, तो वह [illegible] होता था। कैथलिक पुरुष से उसकी प्रोटेस्टेंट [स्त्री] और पिता से सन्तान छीन ली जाती थी। चान्सलर को अधिकार था कि स्त्री और सन्तान [के] गुजारे के लिए पुरुष की आमदनी का जो [illegible] चाहे मुकर्रर कर दे। कैथलिक बच्चे पिता की मृत्यु [पर] प्रोटेस्टेंट लोगों की देख भाल में रक्खे [जाते] [illegible] किसी विद्यालय में कैथलिक सम्मिलित नहीं [हो] सकते थे और न अपना विद्यालय खोल सकते [थे] [illegible] के लिए बच्चों को देश के बाहर भेज सकते [थे]।

आयर्लैंड के प्रोटेस्टेंट भी आपत्ति से न बचे [illegible] के [illegible] प्रोटेस्टेंट वश उन की तिजारत [illegible] कर देने से नष्ट हो गये। [illegible] बस द्वीप के

गों में इसी प्रकार मिट गये, हजारों देश से भाग
े। परिणाम यह हुआ कि प्रोटेस्टेंट और कैथ-
क दोनों ही इंगलैंड से घृणा करने लगे।

फ्रांसीसी विप्लव और अमेरिकन स्वतंत्रता-
ग्राम के समय आयर्लैंड ने अपनी स्वतंत्रता पुनः
प्त करने के लिए हजारों की सेना तैयार की और
यर्लैंड की पार्लिमेंट में, जैसी भी वह थी, एक
भिमान दल बन गया। कैथलिक और प्रोटेस्टेंट प्रजा
मिलकर सन १७७८ और सन १७८२ के बीच
र्लैंड से बहुत कुछ स्वत्व छीन लिये। अब कैथलिक
ावलम्बी सम्पत्ति रख सकते थे, विद्यालय खोल
सकते थे और बिना बाधा वाणिज्य कर सकते थे।
स से बड़ी बात यह थी कि पार्लिमेंट को भी अब
ह स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी थी। आयरिश तलवार
र अन्य परिस्थिति ने इंगलैंड की पार्लिमेंट को
बाध्य कर दिया कि वह यह घोषणा निकाले कि
यर्लैंड पर केवल वहाँ की पार्लिमेंट और राजा
ो ही अधिकार है, अन्य को नहीं और यह नियम
भी भी सन्दिग्ध न होगा। आयर्लैंड ने १,००,०००
ड इंगलैंड को अपना बेड़ा ठीक करने के लिए देकर
पनी कृतज्ञता प्रकट की। अब तो इंगलैंड का हृदय
ी कुछ पसीजा, पोनिंग्स-लॉ रद्द किया गया
ौर दोनों द्वीपों में मेल हो गया, किन्तु बहुत काल
लिए नहीं।

पिट ने लार्ड फिट्ज़ विलियम को आयर्लैंड [illegible]

[illegible]

अपने हाथ में रक्खे और इस प्रकार से दबाव व
व्यवहार करके उसे मिटा दे। यदि आयरिश पार्लिमेंट
पूर्ण रूप से राष्ट्र की प्रतिनिधि होती और कैथलिक
सम्प्रदाय पार्लिमेंट में होता तो पिट की यह चाल
कदापि सफल न होती। किन्तु ऐसे समय में जब कि
क्रान्तिकारी जोश बढ़ा हुआ था, कैथलिक मतावल-
म्बियों की आशाओं को बढ़ाकर एकदम उन पर
तुषारपात कर देने से पिट ने आयर्लैंड में फूट, हत्या,
और धार्मिक वैमनस्य का बीज बोया, जिससे समाज-
संगठन में शिथिलता आ गयी और उसकी चाल
सफल होने लगी। बैरिंगटन की सम्मति है कि पिट
ऐसी स्थिति पैदा करना चाहता था कि गृह संघर्ष
बढ़े और प्रोटेस्टेंट आत्मरक्षा के लिए इंगलैंड की
गोद में आयें। उसने विप्लव कराने का निश्चय कर
लिया, मगर यह न विचारा कि इससे लहू की नदियाँ
बह निकलेंगी और सदैव के लिए इंगलैंड के प्रति
घृणा उत्पन्न हो जायगी।

[illegible] इंगलैंड की आत्मा [illegible]
लगा, आयर्लैंड ने फिर रक्त बहाने के लिए कमर
बांधी। सन १७९४ में [illegible] की लड़ाई के बाद
ब्रिटिश अधिकारियों ने सात हजार आयरिश
पुरुष, स्त्री और बच्चे या तो मार डाले या घर से
बाहर कर दिये। सन १७९६ में बहुत से कड़े
कानून पार्लिमेंट से पास कराये गये
जिनसे कर्मचारियों को यह अधिकार प्राप्त हो गया
[illegible] जिसे चाहे बिना मुकदमा चलाये ही [illegible]

[illegible]

"There is a general and wide spread desire, on the part of respectable and conscientious Hindu gentlemen, to improve the management of these endowments ... While deprecating all direct interference of the Government, I think, as Government has withdrawn its control from all native religious institutions and endowments, it is never the less bound to provide the native communities with the power to exercise the same control which Government has relinquished and which cannot be maintained under the present law. Generally, throughout Orissa, the management of temples, maths, and other religious endowments, is a scandal, and appears likely to be so until there is strong and more efficient system of management and supervision than that exercised by the local communities."

अर्थात्—"माननीय धर्मात्मा हिंदुओं की एक साधारण और बड़ी इच्छा है कि धर्मादायों के प्रबंध का सुधार किया जाय और सरकार उनमें सीधा उस में हस्तक्षेप न करे और मेरे विचार में, जैसा कि सरकार ने सभी देशी धार्मिक संस्थाओं और धर्मादायों से अपना अधिकार दूर कर लिया है तो भी सरकार को देशी कमेटियों को वही अधिकार देना चाहिए जिसे सरकार ने हटा लिया है और जो वर्तमान कानून के अनुसार प्राप्त नहीं है। [illegible] में समस्त [illegible] में मंदिर, मठ और अन्य धर्मादायों का [illegible] है व निन्दनीय [illegible] है [illegible] और निरीक्षण अधिक उत्साह और योग्यता से न किया जाय।"

यदि चार वर्ष में ही यह दशा थी, तो [illegible] वर्ष के बाद क्या दशा होगी, किंतु [illegible] ने हिंदुओं की एक न सुनी, हिंदुओं को [illegible] रहा। उपर्युक्त प्रार्थना-पत्र पर तीन हिंदुओं [illegible] कमीशन जाँच के लिए नियुक्त किया [illegible] उड़ीसा के मठ, मंदिरों की जाँच करके लि[illegible] कि मठ, मंदिरों की दशा देखकर जनता में असन्तोष और अप्रसन्नता फैली है। ब्रिटिश[illegible] के लिए यह पर्याप्त न था, अब आज्ञा हुई कि [illegible] प्रांत में जाँच हो। अच्छा, यह भी हुआ, [illegible] की जनता और सरकारी कर्मचारी सहमत [illegible] ऐक्ट २० सं० १८६३ से बड़ी हानि हुई है। सरकार और प्रजा दोनों के लिए लज्जा [illegible] है, परन्तु फल कुछ भी न हुआ, [illegible] कानों में तेल डाले ही पड़ा रहा। यही नहीं [illegible] सुधारने की किसी भी योजना को उसने [illegible] दिया। माननीय श्री० रामायंगर ने सं० १८[illegible] बिल मद्रास में बनाकर पेश किया, उस पर [illegible] कर्मचारियों तथा जनता की सम्मति माँगी [illegible] उसके पक्ष में थी किंतु सरकार ने यह [illegible] वर्तमान कानून की अपेक्षा यह बिल उत्त[illegible] परन्तु यह नितांत अधूरा है और इससे [illegible] सिद्धि न होगी। क्यों साहब, आपने उस[illegible] पूरी क्यों न कर दी, इसके ५ वर्ष बाद सर [illegible] गवर्नमेन्ट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियत [illegible] कि वह उस बिल की त्रुटियाँ दूर करे। इस[illegible] ने रिपोर्ट निकाली कि धर्म सम्पत्ति कहाँ तक [illegible] और वर्तमान कानून कहाँ तक [illegible] में असमर्थ है। इन दोनों प्रश्नों पर [illegible] [illegible] और शीघ्र काल तक विचार हो।

ीर कमेटी और हिंदुस्तानी सब ही एकमत हैं कि हुमूल्य संपत्ति जो पूर्वकाल में धर्म संस्थाओं में गायी गयी थी बिना रोक टोक नष्ट हो रही है और बन की जा रही है मगर क़ानून और अदालतों के द बनाये नहीं बनता... इसमें किसी प्रकार के संदेह ी संभावना नहीं कि यदि हिंदू-धर्मादायों को पूरे ौर पर गबन होने से और बहुतों को उन लोगों के ाभ के लिए मिटने से जो आवारगी में उनका पैसा गा रहे हैं, बचाना है तो क़ानून में शीघ्र परिवर्तन रना चाहिए। इस कमेटी ने इंगलैंड के चैरिटी मिशनर्स की योजना पर एक बिल पेश किया। रत-सचिव ने उस बिल को साधुवाद भी दिया। ंतु भारत-सरकार ने यह कहकर कि आगामी चंद हीनों में इसे क़ानून का रूप देना वांछनीय नहीं , उसे सदा के लिए छोड़ दिया। यह चन्द महीने वर्ष में पूरे हुए।

अब सन १८८३ में कामेंस्ल ने नया बिल बना र पेश किया जो सलेक्ट कमेटी के सिपुर्द हुआ। स कमेटी ने अपना बिल बनाकर पेश किया और ोर दिया कि शीघ्र ही इसे क़ानून का रूप दिया ाय किंतु यह विषय फिर १० वर्ष तक बंद पड़ा हा। सन १८९४ में मुथु स्वामी की अध्यक्षता में नयी मेटी इस विषय पर विचार करने के लिए नियत ो गयी। उसका बनाया नया बिल भारत-सरकार े स्वीकार न [illegible] किय [illegible] ने [illegible] में चेन्नमन [illegible] कमेटी नियुक्त हुई कि वह मु[illegible] [illegible]

[illegible]

विस्तार भय से क्रमपूर्वक नहीं लिखा जा सकता, इतना कहना पर्याप्त होगा कि हमारे प्रान्त में भी सं० १८६३, अर्थात् ऐक्ट २० सं० १८६३ के ३ साल बाद से ही मेरठ, झाँसी, गढ़वाल, बनारस, इलाहाबाद और कुमायूँ के कमिश्नर और हिंदू-जनता पुकारती पुकारती थक गयी। सं० १८७१ और सन् १९२९ के सरकारी कमीशनों ने भी बड़ा ज़ोर दिया, मगर हमारी प्रान्तीय सरकार के कानों पर आज तक ७३-७४ साल में जूँ तक न रेंगी। पार साल कांग्रेस गवर्नमेंट ने श्रीबद्रीनाथ मन्दिर ऐक्ट को जुलाई में पास किया, लाट साहब ने छः महीने बाद उस पर अपनी स्वीकृति दी, किन्तु हिंदुओं का आंदोलन होते हुए भी अभी तक वह ऐक्ट लागू नहीं हुआ। (१५ अप्रैल १९४० से श्री बद्रीनाथ ऐक्ट लागू होगा। सं०)

यही दशा केन्द्रीय सरकार की है। सन् १८९७ और १९०४ में आनन्द चार्लू ने, १९०३ में श्रीनिवास राव ने, १९०८ में डा० रहस बिहारी घोष ने, सन १९२३ में ला० सुलतानसिंह ने और सन् १९२६ में डा० गौड़ ने बिल पेश किये किंतु एक भी सफल न हुआ। हाँ यु० प्र० धर्मरक्षण सभा के [illegible]र आन्दोलन पर सर विलियम विन्सेंट ने ऐक्ट १४ सन १९२० बनवा दिया किंतु सभा की एक भी न चली और वह ऐक्ट ऐसा बना कि उससे कोई लाभ नहीं हुआ।

हाँ, [illegible] दीवानी में १८७७ से एक धारा चली [illegible] है जिसके अन्तर्गत धर्मादायों के सम्बन्ध में [illegible]

[illegible]
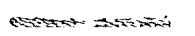
ज्ञान उपदेश

श्रवण, मनन, और निदिध्यासन

(लेखक—स्वामी प्रकाशतीर्थ परमहंस)

श्रवण का अर्थ है ज्ञानशास्त्रों को अध्ययन करना, मनन का अर्थ है बारम्बार भली प्रकार उस पर विचार करना, और निदिध्यासन का अर्थ है फिर उसका अभ्यास करना।

(१) मनन मन से होता है, मन क्या है? विचारों के समूहों के ढेर का नाम 'मन' है, अर्थात् वासनाओं की गठरी का नाम 'मन' है, अर्थात् इच्छाओं के गट्ठर का नाम 'मन' है।

(२) मनन किसको कहते हैं? मन को मन ही में छेदन करने का नाम 'मनन' है। मन की जाँच मन ही में, मन के भावों को मन ही में छानबीन करके समझना, अर्थात् अन्तःकरण में सत्य असत्य सारासार की भली प्रकार से जाँच-पड़ताल करके सत्य के सार के निश्चय को पहुँचने का नाम 'मनन' है, अर्थात् बारम्बार विचारद्वारा 'विवेक' की उपलब्धि का नाम 'मनन' है।

जिन जिन बातों को तुम जानना चाहते हो और बाहर ढूँढ़ते फिरते हो वह सब तुम्हारे मन के ही भीतर हैं, मन में मनन करके अनुभव करो। अन्तःकरण में सत्य की टटोल करो, हृदय की प्रतीति में सार की प्रतीति का अनुभव करके देखो, तुमको आप ही सब विदित हो जायगा। जो जन वास्तविक जिज्ञासु होते हैं, और भगवद्भक्ति के सच्चे पथ पर चलनेवाले होते हैं, वह मनरूपी अन्तःकरण को अनुभव सत्ता में ही काम [illegible] हैं। उनकी [illegible] क्रियाएँ गिर जाती हैं, और [illegible] ही [illegible] का परम आधार बन जाता है।

(३) मन को वश में करके कैसे माया है[illegible] हैं? विचार करके देखो तुम अपने मन के [illegible] इस माया के बीच गिरकर इस माया में नि[illegible] इसलिए तुमको इस अपने मन के द्वारा ही [illegible] अवस्था से उठकर, उस ब्रह्मकोटि, उच्च [illegible] उन्हीं ब्रह्माभ्यास की प्रणालियों से इस[illegible] चढ़ना पड़ेगा जहाँ से कि तुम इस अ[illegible] कर दुर्गति को प्राप्त हो रहे हो।

तुमको इस दुखदाई मायाजाल के फंदे[illegible] जकड़कर बाँध रक्खा है? किसी ने नहीं तुम्हारे इस मन ने ही पकड़कर इस माया[illegible] रक्खा है। तुम्हारे मन ने ही तुमको बँधुआ[illegible] है। तुम कहते हो कि माया ने पकड़ र[illegible] छोड़ती नहीं! माया ने तो नहीं पकड़ र[illegible] तुमने खुद अपने मन के द्वारा इस माया को[illegible] रक्खा है, और कहते हो कि माया ने पकड़[illegible] है। तुमने अपने आप ही अपने आप को अपने[illegible] द्वारा इस माया का बँधुवा बनाया है। तुम्हारे[illegible] को कोई नहीं आवेगा। तुमने अपने मन से मा[illegible] पकड़ा है, इसलिए अपने मन से ही माया को[illegible]

आशा और तृष्णा करके तुम इस माया[illegible] हो, इसलिए इच्छाओं का परित्याग करो न[illegible] में [illegible]। अपना कार्य धन्धा को मत त्यागो[illegible] [illegible] अब कर रहे हो उसी [illegible] [illegible] किन्तु बुरी वासनाओं क[illegible] [illegible] कर्म क्रियाओं का [illegible] संसार की हुल्लास विलास की लोलुप[illegible]

मनको स्थिर करो। इस प्रकार जब मनसे माया
ी तब भक्ति का स्वयं उदय हो जायगा।

मनकी पकड़ तब मिलती है और मनके ऊपर
तब चलता है जब कि मन के भीतर अनुभव-
का विकास हो जाता है। हृदय में अनुभवलता
विकास तब होता है जब जीव का विश्वास ईश्वर
ढ़ होता है। ईश्वर के प्रति दृढ़ता तब होती है
धर्मपरायणता का अभ्यास किया जाता है।
लिए स्वार्थ वृत्ति का मन से परित्याग करके भोग-
तव तथा माया के झूठे सुख और वैभव के नाश-
पदार्थों में मनको न लगाकर, अपने कल्याण का
य करो। जब तुम सत्य और धर्म का अभ्यास
के मनको माया से छुड़ाकर परमात्मा के चिन्तन
स्थापित करोगे, तब माया तुमको अपनी ओर
खींच सकेगी।

शुभ विचार मनमें तब उपजेंगे जब तुम सत्य
र धर्म को हृदय में बल करके स्थापित करोगे,
कर्म और शुभक्रिया का हर जगह प्रति पल
भ्यास करोगे। यह अशुभ विचार जो तुम मनमें
समय भरते रहते हो और धर्म की ओर ध्यान
ी देते, वे ही तुमको बुरे कामों के करने में लगाये
ते हैं और तुम्हारे यश और कीर्तियों को बिगाड़ने
। इसलिए अशुभ विचारों का त्याग करो और
भ विचारों को मनमें भरो एव शुभकर्म और
याओं का अनुसरण करो। यह स्मरण रहे कि
ब तक तुम स्वयं अपने को भला नहीं बना पाते
तब तक तुम संसार की कोई भलाई नहीं कर सकते
और न संसार में भले कहला सकते हो।

दुष्ट और कुटिल जनों की दुष्टता और कुटिलता
पर ध्यान मत दो, क्योंकि उनके दूषित और खोटे
कर्मों का बारम्बार चिन्तन करते रहने से वही दोष
अपने मनमें भी उपज आते हैं। इसलिए सदा
मनुष्यों के सद्गुणों पर ही दृष्टि डालो। इससे
परस्पर ईर्षा का अभाव होकर, प्रेम बढ़ता है।

अभिमान, दम्भ, लम्पटता परस्पर की घृणा,
ईर्षा और डाह यही तुम्हारे बुरे स्वभाव हैं जिनके
कारण तुम पवित्रता को भूल गये हो और परमात्मा
को नहीं जान पाते। फिर ऐसे कलुषित कर्मों और
क्रियाओं द्वारा नेकी, भलाई, भक्ति, यश, कीर्ति आदि
की किस प्रकार आशा कर सकते हो। इसलिए
सबसे पहले अपने आचरण को बनाओ। तुम्हारी
व्याकुलता, भय, परेशानियाँ और कष्ट क्लेश के ही
सब कारण हैं। इन सब बातों को बारम्बार मनमें
मनन करके समझो और भली प्रकार विचार द्वारा
छानबीन करके इन सब अपने भीतर भरे हुए अव-
गुणों को एक एक करके हृदय से निकाल बाहर
करो। हृदय को पवित्र बनाओ तब निर्मल बुद्धि
का संस्कार होगा वह सत्य और धर्म की ओर आकर्षित
होगी, ईश्वर भक्ति पर आरूढ़ होगी। तभी तुम्हारा
भला होगा और तभी तुम संसार की भी भलाई
कर सकोगे।

ओ३म्, शान्ति, शान्ति, शान्ति।

श्री कृष्णचंद्र तथा उनकी मूर्तियाँ आ[illegible]

[लेखक—श्री[illegible]बिहारीलाल]

बहुत से मित्र मुझसे मेरे अपने विचार के अनुसार श्रीकृष्ण भगवान का चित्र माँगते हैं। मैं कलाकार हूँ, ड्राइंग मास्टर हूँ, चित्र बनाता हूँ, यह सब सत्य है, किन्तु कृष्ण भगवान् का चित्र बनाऊँ तो बनाऊँ कैसे? उनकी अनगिनत शक्तियों को कैसे दर्शाऊँ, बिना इनके दर्शाए भगवान् कृष्ण का चित्र कैसा होगा? क्या जो भूल अगले चित्रकारों तथा कारीगरों ने की, वही मैं भी करूँ? सच तो यह है कि कलाकार जिस-जिस भाव से भी भगवान की शक्तियों को दिखा सकते थे, दिखा चुके हैं।

यदि हम किसी को बहादुर दिखाना चाहते हैं तो कारटून (हास्य चित्र) में आज भी उसका शिर शेर के बदन पर लगा देते हैं। बर्तानिया को शेर बर्तानिया कहते और ऐसा ही दिखाते हैं, चेहरा इस लिए लगाते हैं कि मनुष्य की पहचान ही चेहरे से होती है। अब यदि कोई यह समझने लगे कि ब्रिटेनवालों (अँगरेजों) का बदन सिंह का होता है, या विद्वान कहलानेवाले श्रद्धा के पात्र ऐसा विश्वास दिलाने लगें, बुद्धिवानों की बुद्धि भ्रष्ट करके उन्हें समझाने के लिए नाना ग्रंथों की रचना करें और इस प्रकार उनको भ्रम में डाले रहें, तो दोष किसका? कलाकार का या उन पंडितों का? परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती, कलाकार अपनी कला पर अवश्य ही गौरव [illegible] है [illegible] प्रशंसनीय पर [illegible] ऐसी मूर्ति न बनाता [illegible] न पड़ते। रावण को [illegible] हाथी गधे का शिर तथा बीस भुजायें [illegible] समझ लेने, जो उसकी मूर्खता और बहादुरी दिखाने के लिए बनाये गये थे।

श्रीकृष्णमहाराज प्रेम के अवतार थे। [illegible] प्रेम को दिखाने ही के लिए उन कलाकारों ने [illegible] को अपने अपने विचारों के अनुसार [illegible] दिखाया। चित्रकारों ने उनके चित्र बनाये [illegible] ने उनकी मूर्तियाँ बनायीं और कथावाचकों [illegible] ताओं ने नाना ग्रंथ रच डाले, जिनका [illegible] कि यह परिणाम हुआ कि हम मूर्ख बन गये। हमारी दृष्टि में, ईश्वर क्षमा करें, कृष्ण योगिराज कृष्ण, एक व्यभिचारी के रूप में [illegible] जने हैं। ओफ़!! कैसा उलटा परिणाम!!

फिर भी अगले चित्रों तथा मूर्तियों में एक [illegible] पायी जाती है जो विद्वानों तथा समझदारों के यथेष्ट विचार-सामग्री पैदा कर देती है। वह [illegible] श्री राधाकृष्ण को छोटी अवस्था में, अथवा [illegible] रूप ही में दिखाया है, जिस अवस्था में [illegible] का विचार भी मन में नहीं उठ सकता। यदि कहा जाय कि श्रीरामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम अर्थात् छोटी अवस्था वाले ही बनाये जाते [illegible] ही कृष्ण भी हैं, पर भगवान् राम पर कृष्ण [illegible] की तरह यह लांछन कहाँ लगाया जाता है। [illegible] ना कृष्ण [illegible] के साथ [illegible] जाता है। [illegible] [illegible] कारण है। [illegible] रहती है, पर पुरुष [illegible] निकलने पर [illegible] मूछ दाढ़ी निकलने पर [illegible] कठोर हो जाता है। बच्चा [illegible] रहता है तब तक उसे प्यार करते हैं।

केवल मनुष्य का वरन् सबका ही प्यार करने योग्य होता है, बड़ा नहीं, और इसी से राम, कृष्ण आदि अवतारों को सदा बाल्यावस्था ही में दिखाया गया है। दाढ़ी मूछ वाले राम तथा कृष्ण इतने प्रेम के पात्र न रहते, परन्तु इस कला-प्रदर्शन ने जो हानि पहुँचाई, वह इससे कहीं बढ़कर है। इन मूर्तियों तथा चित्रों ने, इन ग्रंथों तथा पदों ने सीधे-सादे श्रद्धालु भारत-निवासियों के विचारों में महान् परिवर्तन कर दिया है और वे इसी को सत्य मानने लगे हैं जैसे वे कृष्ण को मूर्तियों में देखते या चित्रों में निरखते हैं, पुस्तकों या कविताओं में पढ़ते हैं। इसका परिणाम आज दिन यह हो रहा है कि अन्य सम्प्रदाय वाले, भगवान कृष्ण पर न जाने क्या क्या दोष आरोपण करते और क्या क्या कहते हैं। इसी आधार पर रासलीला का प्रचार हुआ, प्रेमी भगत इन रास लीलाओं द्वारा भगवान् को अथाह प्रेमसागर समझते और इसमें स्नान करते थे, पर आज क्या हो रहा है लिखने की बात नहीं। क्या अब भी इस रासलीला तथा अंधविश्वास की आवश्यकता है?

प्रश्न यह उठता है कि जब पहले प्रेमी रासलीला इत्यादि में लीन होकर ईश्वर-दर्शन करते थे, तो अब क्यों नहीं कर पाते?

मनुष्य स्वभाव ही से ऐसा है कि वह उस वस्तु [illegible]

दूरी पर अंत में सुखदाई है और उसका फल देर से मिलता है, इसी रीति के अनुसार वह उत्तम प्रेम-भाव जो कृष्ण की मूर्तियों तथा चित्रों में प्रदर्शित किया गया है नहीं अपनाया गया वरन् उसे नीची काम वासनाओं में परिवर्तित कर दिया गया है। वही प्रेम जिसमें प्रेमी और प्रेमिका में भेद नहीं रहता जो वेदांत का अटल सिद्धांत है जो समस्त ब्रह्मांड को एक बना देता है, जो 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का डंका बजा रहा है, जो संसार को सुख-सदन बना देता है, बिलकुल जाता रहा। उसका स्थान कामना, वासना, लालसा और राग द्वेष ने ले लिया। धोखे में आकर जनता अपने आचरण से स्वयम् गिर गयी और साथ ही भगवान कृष्ण को भी ले बैठी। कुछ से कुछ समझने और कहने लगे, विष को अमृत समझकर पान करने लगे और विष को अमृत सिद्ध करने के लिए नाना ग्रंथों की रचना करने लगे।

इसके पीछे आजकल की अवस्था दशा है, जो अत्यंत ही शोचनीय है। आज दिन तो भगवान कृष्ण केवल नाचने गाने वाले नटवर, चोरी करने वाले [illegible], माखन चुराने वाले निर्दई लुटेरा अथवा गोपियों के साथ विलास करने वाले विलासी ही रह गये हैं। मुझे बड़ा आश्चर्य है कि सनातन धर्म नीति और धर्म इन बातों में ही [illegible]

दौलत अर्थात् धन सम्पत्ति

[महात्मा शाहन्शाहजी]

यह एक साधारण नियम है कि मनुष्य बहुमूल्य को मोल लेने के लिए उस वस्तु का त्याग करता उसको वह समझता है कि स्वल्प मूल्य की है। जिस प्रकार एक मनुष्य को हाथी मिलना हो तो

इससे यह सिद्ध होता है कि सांसारिक समस्त वस्तुओं से रुपया पैसा स्वल्प मूल्य का है यदि पैसा मिट्टी से अधिक काम का होता तो मिट्टी के बदले कोई देना पसन्द न करता। एक उदाहरण लीजिए एक शिष्य

इस लेख के लेखक

महात्मा शाहन्शाह जी
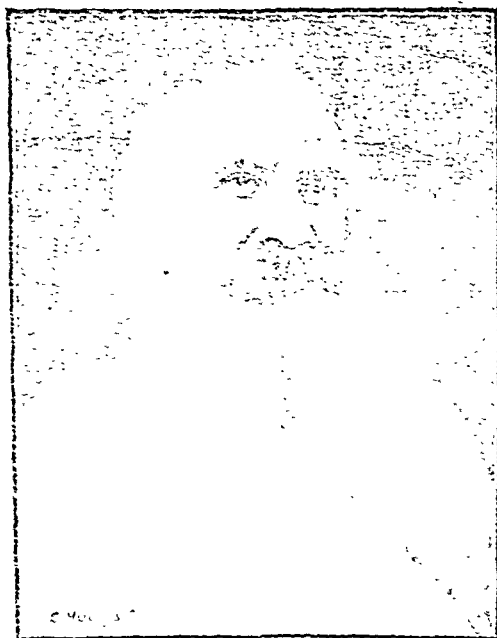
अश्व का परित्याग कर देगा और गाय मिलनी हो तो बकरी का। अब स्पष्टतया ज्ञान होता है कि संसार भर की वस्तुएँ धन के त्याग से प्राप्त होती हैं।

और गुरु यात्रा में थे और इस विषय पर विवाद हो रहा था कि पैसे का त्याग श्रेष्ठ है या संग्रह करना। गुरु का विषय "त्याग" और शिष्य का "संग्रह करना" था।

जिस स्थान पर उनको पहुँचना था उस मार्ग में एक नदी पड़ती थी जब ये दोनों नदी तटपर पहुँचे तो पार जाने के लिए सोचने लगे। नदी बहुत गहरी थी विना नौका के पार होना असम्भव था और नौकावाला विना पैसे के पार न पहुँचाता था, इस समय शिष्य ने अपनी अंटी टटोलकर दो पैसे निकाले और केवट को देकर पार चले गये। वहाँ जाकर शिष्य ने कहा, "कहो महाराज! पैसे रखना अच्छा है या त्याग, यदि पैसा न होता तो पार क्योंकर आते।"

गुरुजी ने मुस्कुराकर कहा कि "मूर्ख! जब तक तेरे पास पैसे थे तब तक वार थे और जब पैसे का त्याग किया (अर्थात मल्लाह को दिये) तभी तो पार पहुँचे।" यह सुनकर शिष्य अति लज्जित हुआ और उसने गुरुजी की न्यायोक्ति के सामने सिर झुकाया।

हमारा इससे यह तात्पर्य न समझना कि हम केवल धनाभाव को ही शांति का कारण समझते हैं क्योंकि यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो जिनके समीप संपत्ति है वे भी, और जिनके पास कुछ भी नहीं है, वे भी रोने पीटने में ही समय व्यतीत करते हैं। धनाढ्यों को धन की रक्षा के शोक ने ग्रस्त कर रक्खा है और निर्धनों को उसकी प्राप्ति के सोच ने और भी निर्धन और चिन्ता-ग्रस्त बनाया हुआ है। संपत्ति और धनाभाव दारिद्र्य नहीं किंतु उसको पैदा करने की अयुक्त चिंता दारिद्रता, हीनता व क्षीणता है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि संपत्ति का न होना, होने से अच्छा है। यथा—

"उसी दस्तों का दर्जा अहले दौलत से ज़ियादा है।
सुराही सर झुका देती है जबकि जाम आता है॥"

अर्थात् निर्धन का दर्जा धनवानों से ऊँचा है क्योंकि प्याले के सामने सुराही को ही सर झुकाना पड़ता है। शांति, सम्पत्तिवालों को सम्पत्ति के और निर्धनों को इसके मिलने की अयुक्त आशा के त्याग से होती है। निर्धन मनुष्य इन विवा[illegible] सांसारिक झगड़ों से स्वतंत्र होता है जिनमें वि[illegible] पेट भर कर भी रात्रि दिवस चिंता में निमग्न है। निर्धन मनुष्य को तो केवल पेट भरने की होती है सो यह सुगमता से दूर हो जाती चिन्ता करे या न करे उदर पालन तो सर हो जाता है। पेट भरना, सन्दूक और थैलि[illegible] भरने से अधिक आवश्यक या सुलभ है क्योंकि या थैलियों के भरने के विना तो कार्य चल [illegible] परंतु उदर पूर्ति के विना निर्वाह होना असं[illegible] यही कारण है कि केवल उदर पूर्ति के लिए सोच और चिन्ता की आवश्यकता नहीं यथ[illegible]

"बा नादां आं चुनां रोज़ी रसानद।
कि दाना अन्दरां हैरां बिमानद॥"

अर्थात् अज्ञानों को प्रभु इस प्रकार ज[illegible] पहुँचाता है कि ज्ञानी लोग चकित रह जाते हैं

यदि विचार दृष्टि से कार्य को और मानसिक[illegible] देखो तो तुम अनुभव करोगे कि संसार रूपी य[illegible] चलना निम्नलिखित नियम पर निर्भर है। यह नियम टूट जाय तो शायद संसार की स्थि[illegible] न रहे। वह नियम यह है कि—

जो जितनी ही आवश्यक वस्तु मनुष्य जी[illegible] निर्वाह के लिए है वह उतनी ही सस्ती या मु[illegible] से है।

यथा—वायु मनुष्य के लिए सबसे अधिक [illegible]श्यक पदार्थ है, इसका मूल्य प्रकृति ने कुछ[illegible] रक्खा। साधारणतया इसके विना मनुष्य दो मिनट भी जीवित नहीं रह सकता। वायु से कम आवश्यक जल है। इसके विना दो चार दि[illegible] जा सकता है, इसका मूल्य भी कुछ नहीं रक्खा हां क्योंकि वायु से यह कुछ कम आवश्यक है लिए उसकी प्राप्ति के लिए हाथ, पाँव अवश्य हि[illegible]

हैं। जिस तरह वायु बिना किसी श्रम के अना-
ही प्राप्त होता है, जल के लिए कूप, सर या नदी
य ढूँढ़नी होती है और वहाँ तक पहुँचने में
म करना पड़ता है वही जल का मूल्य है। जल
नन्तर आवश्यक वस्तु अन्न इत्यादि है इसके
प्राणी प्रायः पक्ष या सप्ताह तक जीवित रह
ा है क्योंकि यह वायु, तेज और जल की अपेक्षा
कम आवश्यक है इसलिए प्रकृति ने इसका
मूल्य भी रख दिया है। परंतु याद रहे कि सुवर्ण,
, मणि, मोती और अनेक प्रकार की शृंगारिक
मी से उसका मूल्य अल्प है। सोने चाँदी के बिना
ड़ों मनुष्य जीवित रहते हैं परंतु ऐसा उदाहरण
होना असंभव है कि एक भी मनुष्य बिना
, तेज, जल या अन्न के जीवित रहा हो।
ए रहे कि जीवन के लिये जो-जो आवश्यक
एँ हैं, उनकी प्राप्ति के लिए प्रकृति हमारी सहायक
हाँ तक कि यदि इसको माँग भी लिया जाय तो
क्षति नहीं। यही कारण है कि भिक्षान्न को पवित्र
ने हैं। और जो वस्तु आवश्यक नहीं है उसकी
र के लिए प्रकृति हमारी सहायक नहीं है, प्रत्युत
ोधिनी है।

जिस तरह संसार यात्रा निर्वाहार्थ उपर्युक्त
म अटल है इसी तरह धन धान्य की हु प्राप्ति के
निम्नस्थ तीन नियम अटल समझने चाहिए –

१—निरवधि श्रम से।

२—चोरी से या इलबल से।

३—विश्वासघात या लोभ और बेईमानी से।

यही तीन नियम प्रकृति विरुद्ध है। स्पष्ट है कि
मनुष्य प्रकृति विरुद्ध कार्य करते है वह न केवल
पना जीवन ही जोखों मे डालते है किंतु अपने
म्बन्धी या इष्ट मित्रों एवं कुल तक के जीवन को
भयभीत बना देते हैं। यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर
देना चाहते हैं कि पाप का वास्तविक अर्थ उस कर्म
से है जो प्रकृति के विरुद्ध हो। अतः कोई भी बुद्धि-
मान यह नहीं कह सकता कि पापी को कहीं भी सुख
या शांति प्राप्त हो सकती है। यही कारण है कि
जहाँ-जहाँ धन ने अपना अड्डा जमाया है वहाँ ही
चिंता, दुख, आपत्ति, व्याधि आदि प्रायः विद्यमान
रहते हैं क्योंकि ऐसे स्थानपर, इन वस्तुओं को
सुख अधिक और दीर्घकाल तक प्राप्त होता है।
प्रकृति ने जितनी वस्तुएँ निर्माण की हैं वह सब
की सब सुख के लिए हैं। इसमें संदेह नहीं कि यदि
कोई कहे कि धन भी सुखार्थ है यह भी ठीक है
परंतु यह तभी सुखकर हो सकता है जब उसका
त्याग किया जाय। यदि धन न होता तो त्याग का
आनंद भी कभी प्राप्त न होता फिर यदि यह पूछो कि
निर्धन मनुष्य जो सर्वथा ही धनहीन है वह त्याग
किस प्रकार कर सकता है। विचार से काम लो कि
जो वस्तु प्राप्त है उसका त्याग सुलभ है परंतु जो
प्राप्त नहीं और उसकी आशा बनी रहती है उसका
त्याग करना बहुत कठिन है अर्थात् निर्धन पुरुष
उसकी आशा का त्याग करके उस आनंद से अधिक
आनंद ले सकते हैं जो कि इन्द्र अपनी समस्त संपत्ति
का त्याग करके प्राप्त कर सकता है। सुवर्ण का पर्वत
प्रकृति ने व्यर्थ ही बनाया है क्योंकि सन्तोषियों को
यह कुछ भी हानि, लाभ या प्रसन्नता नहीं पहुँचा
सकता और न असन्तोषी या लोभी ही को।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥भर्तृहरि॥

अर्थात धन की तीन अवस्थाएं होती है प्रथम—
दान, द्वितीय भोग, तृतीय नाश। बस, जो न दान
करता है और न उसे भोग में ही लाता है उसके धन
की तीसरी अवस्था अर्थात नाश अवश्य होती है।

इन परोपकारी भाई बहन को गाँव के लोग अपने घर रोगी की सेवा करने, तीज-त्यौहारों में काम का निरीक्षण करने को सर्वदा बुलाते थे। और सच तो यह है कि बंधु भाव से इन दोनों ने गाँव वालों का मन जीत लिया था। लोग इनको स्नेह ही नहीं बल्कि श्रद्धा भाव से भी देखते थे।

उस दिन दोपहर को क़रीब तीन बजे लखिया के पास खबर आयी कि रामपुर में उनके एक संबंधी बहुत बीमार हैं—बस क्या था शाम को मंदिर की पूजा समाप्त कर फौरन भाई बहन दोनों रामपुर की ओर पालकी में चल पड़े। यही पालकी हमें पहिले मिली थी—पालकी के भीतर भाई बहन दोनों बैठे थे। पालकी के कहार कुछ थक कर एक पेड़ के तले रुक गये—इसी समय सनसनाती हुई एक बंदूक की गोली एक कहार के लगी। वह वहीं पर धराशायी हो गया।

"क्या हुआ ?" कहकर लखिया पहिले पालकी के बाहर आ खड़ी हुई।

"मारो मारो ! मारो इनको !" कहकर सात-आठ गुंडे इधर उधर से निकल कर दौड़ आये "ज़मींदार के शिकारी कुत्ते" जिस पालकी-वाहक के गोली लगी थी उसने कहा। पालकी फेंककर कहार इधर-उधर भाग गये बस क्या था ? पास पड़ी हुई एक लाठी को उठाकर राधेश्याम इन गुंडों पर टूट पड़ा। मगर अकेला क्या करता ? आखिर पैर में खाकर वह वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ा। इसी ... लखिया ने देखा तीन चार गुंडे कामातुर नेत्रों ... उसकी ओर देख रहे हैं। वह समझ गयी। "प्रा... जाय पर आन न जाय' सोचकर वह ... में रक्खे हुए दो कपड़े के बंडलों से आग उड़ाती हु... भागने लगी। डाकू भी उसके पीछे दौड़े। ... आग के कारण पास कोई पहुँच न पाता था। ... वह बेचारी दौड़ रही थी—सरपट ! पीछे पीछे चिल्ला... हुए दो तीन डाकू दौड़ रहे थे।

रामपुर के सीमांचल में पुराना पीपल का पे... उसी के सामने से दौड़ती हुई लखिया निकली। ... पेड़ के नीचे रक्खे हुए प्राचीन पाषाण देवता को ... पर दया आयी। अचानक एक डाकू वहीं ... ठोकर खाकर गिरा और मर गया—और उसका दू... साथी वहीं रुक गया। मगर तीसरे ने पीछा करना न छोड़ा। लखिया के पीछे वह अंधा दौड़ रहा ... ऊषा लोक में क्षितिज के उस पार, अरुण ... दीख पड़ा। गर्मी से सताये हुए लोग एक ... आराम से करवट बदल कर फिर सो गये। नदी ... ओर जाते हुये पथिक का गीत सुनाई दिया—"... की लाठी तुही है। तुहीं जीवन उजियाला है।" ... ही में गीत बंद हो गया। पथिक ने देखा सामने ... देवी की लाश पड़ी है। वह देवी लखिया ही थी...

स्मृति तुम्हारी है अमर प्रिय !

[लेखक—गोस्वामी बाबूराम गिरि बी० ए०]

प्रेम के संयोग के लम्बे झँकोरे,
झूलते थे साथ में दोनों हिंडोरे,
कहाँ समझ पाये कभी हम थे नमोरे,
भूलते भटके फिरेंगे हम चितेरे।
प्यार से उद्गार था हिय।
स्मृति तुम्हारी है अमर प्रिय ॥

वर्ष शत-शत बीतकर शतयुग गये हैं,
पूर्ण परलय के समय अब आ गये हैं,
कौन जाने कल्प कितने इन नयन में,
जन्म ले-ले देखने आये नये हैं।
श्रद्धा सी आज नित्य वह प्रि...
स्मृति तुम्हारी है अमर प्रिय

पथिक

[लेखक—श्रीशिवलाल 'छवि']

प्यारे पथिक सावधान! यह माना कि तेरा पथ बहुत लंबा था कष्टमय था, पर अब क्या? प्रसन्न हो, सामने ही वाटिका का द्वार है। खुला ही चाहता है। तेरा मनोरथ पूर्ण होनेवाला है।

रोना धोना बन्द कर, काम के समय पश्चाताप मूर्खता है! द्वार खुल गये, देर हो रही है, आ जल्दी कर 'शुभस्य शीघ्रम्'। समय अमूल्य है, व्यर्थ न नष्ट कर, वाटिका की शोभा में मत भूल, बेंच पर बैठकर ऊँघ मत, उठ खड़ा हो, तू बटोही है, पथिक है, या भ्रमी है! कुछ हो, प्यारे पथिक, तेरा यहाँ तक आने में कुछ उद्देश्य अवश्य है! याद कर, भूल मत, काम के समय सुस्ती करना उसको टालना अच्छा नहीं। अवसर न चूक जाय शीघ्र वाटिका के खिले फूलों को देख, अपना कर्तव्य पालन कर, इधर उधर भटकने में मन मत उलझा! चुन ले वही फूल जिसके लिए तू इतना परिश्रम करके यहाँ तक आया है।

फिर उठ! बैठे-बैठे क्या सोच रहा है? उठ, जल्दी कर, ओ भोले पथिक समय को नष्ट न कर, समय नहीं ठहरता। दिन निकले देर हुई, वाटिका में आ गया है। अब आँखें खोल! देख, पुष्प-वाटिका में खिले पुष्पों को देख! और शीघ्र ही चुन ले, उन फूलों को जिन्हें तू चुनना चाहता है, अपनाना चाहता है।

अरे चुपचाप क्यों खड़ा है? क्या तुझे इतना भी ज्ञान नहीं, कि तू यहाँ क्यों आया है. इधर-उधर की वस्तुओं में मन उलझ. मत देख उन्हें नहीं तो तू फूलों की क्यारियों को छोड़ जायगा जिनकी खोज में तू भेजा गया है।

जल्दी कर जल्दी! समय बीतता जा रहा है, जो फूल तुझे अभी सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं संभव है क्षण भर में धूप और लू के थपेड़े उन्हें मुर्झा दें। तब फिर........

हाँ! ठीक सोचता है, "और भी कलियाँ तो खिलेंगी, चिटककर फूल का रूप धारण करेंगी"। पर कौन जानता है कि तू उन्हें देख भी पावेगा या नहीं?

तोड़ ले! तोड़ ले!! सोच विचार कैसा? देर न कर, क्षितिज पर से सूर्य भगवान अंधकार को दूर कर पृथ्वी को देदीप्यमान बना रहे हैं, क्या ऐसे स्वच्छ प्रकाश में भी तुझे फूल चुनने में आगा पीछा है? छोड़ सोच विचार! दौड़कर जो कुछ करना है कर डाल, जो लेना है ले ले। अभी रात नहीं दिन है अच्छी तरह देख भाल ले, जो सर्व श्रेष्ठ हो उसी को ले (make hay while the sun shines) "घास को सूर्यास्त से पहले ही सुखा ले"।

शीघ्र उठ! और अपनी सारी उमंग, सारा उत्साह लगाकर काम आरंभ कर दे; अवसर मत चूक! पर सावधान! उमंगों के साथ बहक न जाना, खबरदार! उद्देश्य से न हट जाना, लक्ष्य पुष्प आँख से ओझल न हो जाय!

देख, और अभी देख अपने सुख स्वप्नों को सच्चा होता हुआ।

अंधकारमय कलियुगी विचारों को अतुल प्रकाशमयी सतयुगी भावनाओं में परिवर्तित होना

यह ब्रह्म-प्रणीत सुन्दरता है, इसे ज्यों का त्यों रहने दे। इसमे लाखों का हिस्सा है।

अब माला गूँथ और भगवान के गले मे डाल। जिस मूर्छित मनुष्य को इसकी आवश्यकता है उसी के पास जा और जल्दी उसके गले में डाल! उसकी मूर्छा भङ्ग होगी और चित्त प्रसन्न, केवल अपने ही गले मे मत पहन, जो इसके लिए हाथ फैला रहा है उसे सहर्ष दे डाल, गीता मे कृष्ण भगवान का वचन है :—

'जो मनुष्य अपने निमित भोजन धरत बनाय।
अघी पाप वह करत है पाप अन्न वह खाय॥'

इस प्रकार तू अनेकता मे एकता, एक मे अनेकता का व्यवहार करने लगेगा और वेदान्त को व्यावहारिक रूप दे सकेगा।

'जग में हैं जितने जी ... हैं ...
मुख, कर, नेत्र, कान, पग, उर, हैं ...'

यही है अनन्त भगवान का विराट रूप अर्जुन ने देखा था। बन जा अर्जुन और कर रूप का दर्शन।

तू पथिक है समझ! विश्राम का स्थल दूर है, पाँव न पसार। अभी काम करने है। काम कर और चलता बन।

नव वर्ष

(श्रीकेशवनाथ मिश्र 'अशंक' विशारद)

प्रिय नव निधियाँ नव वर्ष तुम साथ लै,
भारत परतंत्र को लुभाने क्या आये हो।
आशा औ निराशा के बादल घिरे चहुँ ओर,
खिन्न भिन्न जातिन को लुभाने क्या आये हो॥
याकि मंत्र मेल का सुनाने जगती को तुम,
अथवा रुंड मुंडों से पटाने क्या आये हो।
बोलो बतलाओ तो 'अशंक' होलिका मे इस,
दुष्ट परतंत्रता को जलाने क्या आये हो! १॥

आगमन तुम्हारा शुभ हो नव वर्ष ...
भारत हमारा यह भारत हमारा हो।
दुखी दीन देश की दशा पै नेकु दीठै ...
पूर्ण व्रत गाँधी का होवे कुछ सहारा हो।
लीग कांग्रेस हिन्दू दल सब मेल ...
विश्व भी काँपै कर स्वराज्य की दुधारा हो।
आशा भारतीयों की 'अशंक' है स्वतंत्र ...
जग में कीर्ति का हो गड़ा झंडा तुम्हारा हो।

नव-वर्ष वधाई!

(श्रीरसिकविहारीलाल श्रीवास्तव)

व्याधि सकल मिटाने आया व्यावहारिक वेदान्त
वही मंत्र देगा अब सबको जिससे हो मन शान्त॥
हारी बाजी जीतेगी अब भारत की सन्तान।
विपुल दारिद्र, क्लेश, दुःख आदिक का मेट निशान॥
कलियुग निशा गयी निकलेगा सत-युग रवि नहि देर।
वेद-शास्त्र मम रामतीर्थ का मृषा न होगा टेर॥
दानिप यश बढ़ेगा हाग, सत्य धर्म का राज।
तुमा लिए नव-वर्ष बधाई ... आया आज॥

रहती कि उसे चुपचाप सह लिया जाय वरन् बुद्धि और आत्मा का विषय होजाता है।

मनुष्य जीवन में यदि दुःख का अस्थायी उद्भव न होता तो मनुष्य लगातार जागृत तथा श्रेष्ठ पद पाने के योग्य कदापि न होता, फिर भी दुःख मनुष्य की उन्नति के शिखर पर पहुँचाने का वक्र मार्ग भर हो सकता है। जीवन उद्देश्य कभी नहीं। दुःख के प्रति हमारा मुख्य उद्देश्य उसे ठीक ठीक समझना तथा उसके कारणों को दूर करना है, उसे सहन कर लेना या बढ़ावा देना नहीं।

बहुतों को इस बात पर यह शंका पैदा होगी कि क्या प्रारब्ध की बात नितांत झूठी है? या "कर्मफल" केवल मन घड़त है? क्या दुःख के लिए केवल हम ही उत्तरदाता हैं?

ऊपर कही बातों में से एक भी असत्य नहीं है, दुःख के पैदा होने में तो किसी अंश तक ही हमारा हाथ है पर उसे सुख सदन तक पहुँचने का पथ बनाने के लिए हम पूर्णतया स्वतंत्र हैं और दुःख सुख पैदा करना हमारे हाथ की बात है।

यदि हमारी जीवन अवस्था या प्रकृति हमें दुःख पहुँचाती है तो इसमें हमारा प्रयत्न तथा बुद्धि कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकती परन्तु उसी दुःख को दूर न भगाने या उसे सुख भोग का कारण न समझने के लिए हम आपही ज़िम्मेदार हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या बिना पाँच कारणों के योग के कोई भी कार्य सफल हो सकता है? जैसा कि सांख्य मतानुसार श्रीगीताजी में भगवान कृष्ण ने वर्णन किया है (अ १८ श्लोक १३.१४) "पहला स्थिति, दूसरा कर्ता, तीसरा कारण, चौथा बहुविध चेष्टा और पाँचवाँ दैव" इन पाँचों कारणों के मेल के बिना कोई काम नहीं हो सकता। अब इन पाँचों कारणों में से चार में यदि मनुष्य का कुछ वश है, ऐसा मान भी लें तो पाँचवाँ कारण तो नितांत मनुष्य के अधिकार बाहर है। तब मनुष्य क्या कर सकता है और कहना पड़ेगा कि "हरि इच्छा बलवान्" और फि कर्मभोग वाली शंका का भी समाधान नहीं हुआ, जबकर्म भोग अटल हैं तो उसमें मनुष्य क्या क सकता है, सिवाय चुपचाप सहन कर लेने के और उपाय ही क्या है? यदि कर्म सिद्धांत को न मानें जो भारतवर्ष का एक मात्र अटल सिद्धांत है तो समस्त शास्त्र ही अर्थहीन नहीं होते वरन् लूले लंगड़ी, अँधी, बहरी संतान के उत्पन्न होने का कारण भी लुप्त हुआ जाता है।

ऐसी शंकाओं का समाधान तो स्वयं शंका करने वालों के वाक्यों ही में रक्खा है। कर्म चक्र को मानना दिन को रात कहना है। कर्मभोग सिद्धांत तो अटल है, और उसी से संस्कारों का बनना भी अटल ही है, प्रारब्ध और संचित फल भोग भी सत्य है, सुख दुःख का होना इसी भोग सिद्धांत पर निर्भर है और हमारा लेख भी कर्म फल सिद्धांत को सत्यतः समझ लेने के लिए ही है।

यदि मनुष्य दुःख का ठीक ठीक कारण समझ जाय तो फिर ऐसा कौन मूर्ख होगा जो उसे हटाने का साधन न करके उसे चुपचाप सहन करने का साधन करे।

मनुष्य अब पहली बार ही विज्ञान की सहायता से अपने उत्तरदायित्व को अपने सिर पर लेने योग्य हो रहा है। अंधकार और अज्ञान में तो ऐसा होना सम्भव ही न था क्योंकि मनुष्य का सारा ज्ञान आत्मा ही में है। केवल शरीर या शरीर के रंग ढंग में नहीं। मनुष्य जीवन में अब यह एक नये युग प्रवेश कर रहा है जिसमें हम पहली बार ही

जानने लगे हैं कि संसार में रोग, शोक, निर्दयता, वैर और उपद्रव इत्यादि के लिए स्वयं हम ही उत्तरदायी (सामूहिक या एकाकी तौर पर) हैं। बच्चे यदि दुर्बल, रोगी, पागल, चोर, डकैत या लूले लंगड़े और अंधे पैदा होते हैं तो उनके लिए स्वयं हम तथा कुछ अंशों तक वे बालक भी उत्तरदायी हैं।

ऐसे दुःखी बालक तो अपने कर्मों का फल पा रहे हैं और इसीलिए उनका इतना ही दोष है कि उन्होंने ऐसे कर्म क्यों किये जिनका ऐसा निकृष्ट फल उन्हें भोगना पड़ा, जिस भोग के लिए वे मजबूर थे, पर हमारी जिम्मेदारी कहीं अधिक है, यह माना कि ऐसे बालकों का हमारे घर पैदा होना हमारे कर्मों का भोग भी है परन्तु जैसे चतुर मनुष्य यह जानकर कि उसने भंग पी ली है और उसका फल भोगना अर्थात् नशा आना अमिट है, नाना प्रकार की ओषधियों द्वारा उस फल अर्थात् नशे को कम या नष्ट कर सकता है, इसी प्रकार अपूर्ण संतान पैदा होने के यथार्थ कारण को यदि मनुष्य जान ले तो ऐसी संतान न पैदा करे और इसी हेतु हम स्वयं इन सब कष्टदायक बातों के जिम्मेदार हैं। अब तक मनुष्य ने संतान उत्पत्ति के धर्म को पूरी तरह नहीं समझा था, अथवा जिन्होंने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया था उनका वह ज्ञान हम तक आते आते लोप होगया, इसीलिए हम बेरोक टोक संतान पैदा करते जारहे हैं और अपनी संतान के लिए अपने आपको जिम्मेदार नहीं समझते, क्या यह बात शोकजनक नहीं ? अपूर्ण रोगी, मूढ़, चोर या आततायी प्रकृति वाला बालक जब पैदा होता है तो उसके माता पिता उसके इस प्रकार पैदा होने को केवल उसी के [illegible] संस्कारों पर आरोपण करके अथवा परमात्मा की इच्छा कहकर अपने आपको भारी जिम्मेदारी से अलग कर लेते हैं वास्तव में हम चाहे अज्ञान दोष से या अपने दोष से ऐसी संतान पैदा करने के जिम्मेदार हैं। क्या बीमार माता पिता की स्वस्थ संतान पैदा हो सकती है ? और यह सब संतान-शास्त्र को भली भांति न जानने का कारण है।

मनुष्य जीवन बड़ी जिम्मेदारी का जीवन है, और जब तक अपनी जिम्मेदारी को हम अपने सिर पर नहीं लेते, और इधर उधर फेंकते फिरते हैं, तब तक हम मनुष्यत्व से गिरे हुए हैं। थोथी कल्पनाओं से जब तक हम संतुष्ट होते रहेंगे और उस बुराई, उस दुःख के नाश का यत्न नहीं करेंगे हम कदापि उन्नति नहीं कर सकते।

हमारी दुनिया के लिए कोई बाहरी ईश्वर नहीं वरन् हमारा अंदरूनी ईश्वर ही जिम्मेदार है। अन्य बाहरी देवताओं का पुजारी देवताओं का पशु है। मनुष्यत्व तो यह है कि हम अपनी जीवित अवस्था ही में भीतरी तथा बाहरी अवस्था को जानने और बदलने वाली, अपने प्रारब्ध को बनाने वाली वस्तु की ओर सचेत होकर चलने लगें, और वीरता से समस्त भीतरी तथा बाहरी बातों की पूरी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लें।

इस जिम्मेदारी की जाग्रति चेष्टा ने मनुष्य जाति में नयी आशा पैदा करदी है और वह यह कि हमारी वर्तमान दुनिया हमारे सामूहिक प्रयत्नों से श्रेष्ठ बनायी जा सकती है और हमारा जीवन अति उत्तम तथा सुख रूपी हो सकता है। हम अपने अहंकार रूपी परिधि पर तो सांसारिक जीव ही ज्ञात होते हैं परन्तु उसी के केन्द्र पर हम स्वयं ही ब्रह्म हैं। अथवा मनुष्य शरीर में स्वयं नूतन होकर ब्रह्म ही तो निवास करता है [illegible]

टि०—स्वामी [illegible]
[illegible], नित्य [illegible]
मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की [illegible] पर

है। बशर्ते कि धारा ५ की उपधारा (१) के अनुसार यदि प्रांतीय सरकार और श्रीमहाराजा टेहरी के बीच इस ऐक्ट के प्रारंभ होने पर ६ मास के भीतर कोई समझौता न होगा तो प्रांतीय सरकार गढ़वाल जिले के तीन मेम्बरों की नियुक्ति करेगी जिनमें एक दर्जी जातियों का मेम्बर होगा।

धारा ७ के अनुसार श्रीबद्रीनाथ मंदिर कमेटी को यह अधिकार होगा कि वह मंदिर की ओर से मुक़दमा कर सकेगी या उस पर मुक़दमा हो सकेगा।

धारा ८ के अनुसार कमेटी के सभापति तथा मेम्बरों का समय ३ साल तक के लिए होगा और उनकी नियुक्ति या निर्वाचन दोबारा भी हो सकेगा।

धारा ९ का आशय यह है कि इस ऐक्ट की शर्तों की पाबंदी करते हुए इस मंदिर के अनुकूल श्रीमहाराजा टेहरी इस मंदिर के संबंध में ऐसे अधिकारों का उपयोग कर सकेंगे जैसा कि महाराजा साहब और प्रांतीय सरकार के बीच समझौता होगा।

धारा १० के अनुसार प्रांतीय सरकार निम्नलिखित आधारों पर कमेटी के सभापति या किसी मेम्बर को रोक या हटा सकती है—

१—(क) जो कि किसी फौजदारी अदालत से अपराधी माना गया हो, अतएव सरकार की सम्मति में आचार-भ्रष्ट हो।

(ख) जिसका मस्तिष्क ठीक न हो, जो बहरा, गूँगा या कोढ़ आदि बीमारी से ग्रसित हो।

(ग) जिसने दिवालिया होने की दरख्वास्त दी हो।

[illegible]

(घ) जिसने कमेटी की लगातार [illegible] अधिक बैठकों में भाग न लिया हो और [illegible] अनुपस्थिति का कारण कमेटी की सम्मति में [illegible]जनक न रहा हो।

(छ) जिसने वकील के रूप में कमेटी [illegible] विरुद्ध किसी क़ानूनी कार्रवाई में भाग लिया [illegible] या जो मन्दिर से वेतन पाता हो।

२—कोई मेम्बर तब तक इस धारा के अनुसार अलग न किया जायगा जब तक उसके [illegible] जाने के विरुद्ध उसे कारण दर्शाने का अवसर दिया जायगा।

धारा ११ में कमेटी को तोड़ने या [illegible] करने के निम्न-लिखित कारण प्रदर्शित किये गये [illegible]

(१) अगर प्रान्तीय सरकार की [illegible] कमेटी उस कर्तव्य के पालन में अयोग्य है या [illegible] अधिकार का अनुचित प्रयोग करती है, तो प्रान्तीय सरकार उचित जाँच करके उस कमेटी को [illegible] स्थगित कर देगी, और इस ऐक्ट के मुताबिक [illegible] कमेटी के निर्माण को सरकारी गज़ट में [illegible] करेगी।

(२) उपधारा १ के अनुसार जो कमेटी [illegible] या स्थगित की जायगी उसके तोड़ने या [illegible] करने से पहले प्रान्तीय सरकार कमेटी को [illegible] करने का कारण बतायगी, और कमेटी को प्रस्ताव के विरुद्ध कारण बताने के लिए या [illegible] विचार करने के लिए पर्याप्त समय देगी।

(३) कमेटी के तोड़ने या स्थगित करने [illegible] बाद प्रान्तीय सरकार किसी ऐसे आदमी को [illegible] [illegible] या दूसरी कमेटी के बनने से पहले [illegible]

(४) ऐसे अवसर के लिए प्रान्तीय सर[illegible]

...मिक नियत करेगी जो मन्दिर के फंड से ... जायगा।

धारा १२ के अनुसार—

(१) सभापति या कमेटी के मेम्बरों के ...ली स्थान धारा ५ की शर्तों के मुताबिक भर ...जायेंगे।

(२) सभापति तथा नियुक्त या निर्वाचित मेम्बर जो कि अस्थायी जगह पर रक्खा गया उस अस्थायी समय के बाद हटा दिया ...गा।

(३) अस्थायी स्थान के कारण कमेटी का ...ा हुआ कोई काम व्यर्थ न समझा जायगा।

(४) अगर स्थान के खाली होने के तीन ...ने के भीतर कोई मेम्बर निर्वाचित या नियोजित ...होगा तो प्रान्तीय सरकार उस स्थान को पूरा ...ने के लिए किसी मेम्बर की नियुक्ति करेगी।

धारा १३ का कमेटी के आफिस और बैठकों ...सम्बन्ध है—

(१) कमेटी अपने आफिस को वहां रक्खेगी ...हाँ प्रान्तीय सरकार निश्चित करेगी।

(२) अगर कमेटी की बैठक में सभापति ...अनुपस्थित रहेगा तो कमेटी उसकी जगह पर अपने ...से किसी मेम्बर को उसके स्थान पर निर्वाचित ...करेगी।

(३) किसी मीटिंग में यदि ४ से कम मेम्बर ...हों, तो कोई काम न हो सकेगा।

धारा १४ का आशय है कि कमेटी मन्दिर ...रावल, नायब रावल और एक मन्त्री की नियुक्ति ...करेगी जो कि मन्दिर का प्रधान कार्यकर्ता होगा।

धारा १५ में कमेटी के अफसरों, नौकरों और ...की नियुक्ति और [illegible] का वर्णन है—

(१) [illegible]

देने या हटाये जाने तक कार्य करता रहेगा।

(२) रावल के स्थान के खाली होने पर कमेटी नायब रावल को रावल बना देगी।

(३) रावल और नायब रावल ऐसे कार्य करेंगे या उनके ऐसे अधिकार होंगे जैसा कि कमेटी नियत करेगी।

(४) कमेटी प्रान्तीय सरकार की स्वीकृति से समय समय पर अफसरों और नौकरों की संख्या, पद और पदोन्नति तथा वेतन का परिमाण या उनके लिए तथा रावल, नायब रावल और मंत्री के लिए पारिश्रमिक निश्चित करेगी।

(५) रावल, नायब रावल और मन्त्री को छोड़कर जिन्हें कमेटी ही दण्ड दे सकती या हटा सकती है कमेटी के सभापति को उन नियमों के अनुसार, जिन्हें कमेटी बनायगी अन्य अफसरों और नौकरों को नियुक्त करने या बदलने का अधिकार होगा और उन्हें नियम या अनुशासन को भङ्ग करने और असावधानता, या अयोग्यता या कर्तव्य न पालन करने, या अनुचित आचरण या किसी और पर्याप्त कारण के लिए जुर्माना करने, वेतन कम करने या रोकने या हटाने का अधिकार होगा।

उन नौकरों के विषय में जिनकी तनख्वाह ४०) माहवार से कम है प्रेसिडेंट अपना अधिकार मन्त्री को दे देगा। प्रेसिडेंट या मन्त्री की आज्ञा के विरुद्ध अपील उस आज्ञा मिलने के ३० दिन के भीतर कमेटी में की जा सकेगी।

(६) अगर कमेटी रावल या नायब रावल या मन्त्री को हटा देगी, तो कमेटी के ऐसे निश्चय के ३० दिन के भीतर वह व्यक्ति प्रान्तीय सरकार से [illegible] कर सकेगा और सरकार [illegible] विचार करके [illegible] करेगी, जो कि [illegible]

धारा १६ में कमेटी का उत्तरदायित्व बनाया गया है।

धारा १७ में बताया गया है :—

(१) कि ज़ेवर या अन्य मूल्यवान् धन जो कमेटी के अधिकार में है, उसकी आज्ञा के बिना नहीं हटाया जायगा और अगर उसकी कीमत एक हज़ार रुपये से अधिक है तो उसको हटाने के लिए प्रांतीय सरकार की स्वीकृति लेना आवश्यक होगा।

(२) कोई अचल संपत्ति, रेहन रक्खी हुई या पट्टे पर उठायी हुई ज़मीन जो कि कमेटी के अधिकार में है वह ५ साल से अधिक के लिए कमेटी और सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना न रेहन की जायगी, न पट्टे पर दी जायगी और न बेची जायगी।

धारा १८ में दर्शाया गया है कि कमेटी प्रांतीय सरकार से पूर्व स्वीकृति लिए बिना किसी से कर्ज न ले सकेगी।

धारा १९ के अनुसार प्रांतीय सरकार प्रति वर्ष मंदिर के और उसके धर्मादायों के हिसाब की जाँच के लिए आडीटर नियुक्त करेगी जिसका पारिश्रमिक मंदिर फंड से दिया जाया करेगा और वह अपनी रिपोर्ट को कमेटी तथा प्रांतीय सरकार के पास भेजेगा।

धारा २० के अनुसार कमेटी मंदिर के प्रबंध की रिपोर्ट प्रति वर्ष प्रांतीय सरकार के पास सरकार द्वारा नियत समय पर भेजेगी।

धारा २१ के अनुसार प्रांतीय सरकार को मंदिर विषयक सूचना तथा हिसाब लेने का अधिकार होगा।

धारा २२ के अनुसार

[illegible] सरकार [illegible] को किसी चल या अचल सम्पत्ति [illegible] का निरीक्षण करने के लिए किसी [illegible] ऐसे अफ़सर को कमेटी और उसके [illegible] का सुभीता पहुँचायेंगे।

(२) ऐसे अफ़सर के लिए प्रांतीय [illegible] पारिश्रमिक निश्चित करेगी जो मंदिर के [illegible] दिया जायगा।

धारा २३ का आशय है कि इस [illegible] की पाबंदी करते हुए कमेटी के निम्न-लिखित [illegible] होंगे—

(१) मंदिर में उचित पूजा का प्रबंध [illegible]

(२) यात्रियों को उचित पूजा के लिए [illegible] पहुँचाना।

(३) फंडों की कीमती अमानतों और [illegible] की सुरक्षा के लिए और श्रीबद्रीनाथ की [illegible] सम्पत्ति रक्षा के लिए प्रबंध करना।

(४) जहाँ तक संभव हो, यह विश्वास [illegible] कि धर्मादाय के फंड दानियों की इच्छा के [illegible] खर्च किये गये हैं।

(५) पुजारियों और यात्रियों की [illegible] लिए निम्न लिखित कार्यों का करना:—

क—रहने के लिए मकान बनाना।

ख—स्वास्थ्य के विचार से सड़कों [illegible] निर्माण।

ग—यात्रा के साधनों में उन्नति।

(६) धार्मिक तथा साधारण शिक्षा [illegible] उचित प्रबंध करना।

(७) पुजारियों और यात्रियों को औष[illegible] की सहायता पहुँचाना।

[illegible] वेतन वाले कर्मचारियों के लिए [illegible] का प्रबंध करना।

[illegible] और सामयिक कार्यों को [illegible]

...दिर तथा उसके धर्मादायों और यात्रियों के सुभीते उचित प्रबंध के लिए हों।

धारा २४ के अनुसार प्रांतीय सरकार के उस कार्य के विरुद्ध कार्रवाई किसी अदालत में न होगी जो कार्य इस ऐक्ट के अनुसार किया गया हो।

धारा २५ के अनुसार—

(१) कमेटी को निम्न-लिखित उपनियम बनाने का अधिकार होगा।

क—सभापति तथा कमेटी के मेम्बरों तथा मंत्री के लिए कार्य-वितरण करना।

ख—वह ढंग जिससे बैठकों के अतिरिक्त उनके निर्णय का निश्चय किया जा सकेगा।

ग—कमेटी की बैठकों में कार्य की प्रणाली और उसका संचालन।

घ—कमेटी के अधिकारों का व्यक्तिगत मेम्बर को या उपकमेटी या उपकमेटियों को प्रतिनिधित्व देना।

ङ—कमेटी के आफिस में किताबों और हिसाब की व्यवस्था करना।

च—कमेटी के फंडों की सुरक्षा और उपयोग।

छ—कमेटी के बजट से विस्तार को हटाना या रखना।

ज—बैठकों का समय और स्थान नियत करना।

झ—कमेटी की बैठकों के लिए नोटिस देने का ढंग बताना।

ञ—बैठकों में नियमों की रक्षा करना, कार्रवाई का संचालन करना और उन अधिकारों की रक्षा करना जिन्हें सभापति अपने निर्णय को लागू करने के लिए काम में लावे

ट—उस ढंग का [illegible] करना जिसमें बैठकों की कार्रवाइयां लिखी जावेंगी और [illegible] होंगी

ठ उन आफिसरों का निर्वाचन करना जो उन द्रव्य के लिए रसीदों को मंजूर करेंगे जो कमेटी के पास जमा कर दिया गया है।

ड—मंदिर के भीतर नियमों की रक्षा करना और मंदिर में लोगों के प्रवेश के लिए ठीक नियम बनाना।

ढ—उन कर्तव्यों को पूरा करना जो धारा २३ में दर्शाये गये हैं।

(२) कमेटी के ऐसे उपनियम या उपनियमों का हटाना या बदलना तब तक लागू न होगा जब तक वे जनता की आलोचना के लिए प्रकाशित न होंगे और तदनंतर प्रांतीय सरकार द्वारा स्वीकृत न होंगे।

(३) ऐसे उपनियम प्रांतीय सरकार द्वारा मंजूर होने पर सरकारी गजट में प्रकाशित होंगे और तदनंतर वे क़ानून बनेंगे।

धारा २६ में—

(१) प्रांतीय सरकार को इस ऐक्ट के साथ मेल रखने वाले कार्य संपादन के लिए नियम बनाने का अधिकार है।

(२) विशेष रूप से और उपरोक्त सार्वजनिक अधिकार की अवहेलना न करके ऐसे नियमों के अन्तर्गत निम्न-लिखित बातें रहेंगी :—

(क) वे सब बातें जो इस ऐक्ट में स्पष्ट रूप से आवश्यक हैं या नियमों के द्वारा की जानी चाहिए।

(ख) मेम्बरों के निर्वाचन, निर्वाचन के झगड़ों को तय करने के लिए हाकिम और निर्वाचन की कार्य-प्रणाली।

(ग) कमेटी के द्वारा दिये जाने वाले बजट से हिसाब की तालिकाएँ, हिसाब, रिपोर्ट और अन्य सूचनाएं

(घ) कमेटी के अफसरों और नौकरों के लिए [illegible], उनके [illegible] फंड का स्थापित करना और साधारण रूप से उनकी नौकरी की शर्तें।

स्त्री-शिक्षा

[लेखिका—श्रीकलावती देवी गर्ग]

रूपयौवन-सम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥

भारतवर्ष में स्त्री-धर्म-शिक्षा की बहुत न्यूनता है। इसकी दुर्दशा स्त्री-शिक्षा न होने के कारण ही हो रही है और अन्धकार छाया हुआ है। कितने पापाचार हो रहे हैं। हमारी माताओं, बहिनों और पुत्रियों को शिक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। पुरुषों को भी इसमें हाथ बटाना होगा। पहिले की अपेक्षा अब स्त्री-शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है किन्तु फिर भी अभी बहुत अभाव है। शहरों में तो बहुत सी कन्या-पाठशालाएँ खुल गयी हैं। ग्रामों में भी कहीं-कहीं कन्या पाठशालाएँ खुल गयी हैं और लड़कों के साथ साथ कन्याएँ भी एक ही श्रेणी में पढ़ायी जाती हैं किन्तु धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती। बालकों को तो अब काफी शिक्षा दी जाती है और उनके पढ़ने के लिए अधिक प्रबन्ध किया जाता है। भारतवर्ष में कन्याओं की शिक्षा का प्रबन्ध विशेष रूप से होना चाहिए और उसमें धर्म-शिक्षा सम्मिलित होनी चाहिए। जब कन्याएँ धर्म शिक्षा की बातों का अध्ययन करेंगी तब शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उसको अपने काम में लायेंगी तो आगे दिन वही कन्याएँ अपने बालकों तथा पुत्रियों को स्वयं शिक्षा दे सकेंगी और उन्हें सुमार्ग पर चला सकेंगी। उनकी शिक्षा के लिए अधिक कठिनता न होगी और हमारे भारतवर्ष की वृद्धि भी होगी। बालकों तथा बालिकाओं को मात भारा [illegible] क [illegible] म [illegible] क [illegible] पर डालना चाहिए। भारत के सपूतों और पुरुषों से [illegible] है कि बिना स्त्रियों का सुधार किए [illegible] का सुधार होना दुर्लभ है। मनु [illegible] लिखा है:—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देव[illegible]"

जब इस देश में अहिल्या तारा आदि [illegible] थीं तब भारत अमर था। गार्गी मदालसा [illegible] नाम जगत विख्यात है। बहुधा माताओं के [illegible] यह विचार उत्पन्न होते हैं कि क्या कन्याएँ [illegible] नौकरी करेंगी उनको ऐसा विचार न करना [illegible] बल्कि हमारी माताओं को हृदय में ऐसा [illegible] करना चाहिए कि अपनी कन्याओं को [illegible] बनाएँ जिसमें उनका जीवन सफल बने और [illegible] सन्तानें भी सुशिक्षित हों।

पढ़ने लिखनेका उद्देश्य मनुष्यता का लाभ [illegible] है, धन प्राप्ति तो गौण है। व्यावहारिक वेद [illegible] पत्र अगर स्त्री सुधार सम्बन्ध में अम[illegible] तो एक बड़ा उपकार होगा। हमारे आर्य ग्रन्थ[illegible] अनेकानेक रत्न भरे पड़े हैं मगर कमी यही है कि [illegible] व्यवहार में नहीं लाये जाते। बाचक ज्ञान के [illegible] से वेदान्त बदनाम हो गया है। क्या मैं आशा [illegible] सकती हूँ कि यह पत्र कुछ कर दिखायगा।

त्रिशाविशालमनसो धृतशान्तिशिक्षा
सत्यव्रता रहित मानमलप्रहाराः ।
ये
संसारदुःखदलनेनसुभूषिता
धन्या नरा विहित कर्मपरोपकाराः ॥

कुछ इधर उधर की

(लेखक—श्रीगिरधारीलाल बी० ए०)

गांधी वायसराय मुलाक़ात

नई दिल्ली, ५ फरवरी सन् १९४० को महात्मा गांधी ने वायसराय से ११ बजे से १½ बजे तक मुलाक़ात की। युद्ध छिड़ने के बाद वायसराय से गांधी जी की यह पाँचवीं मुलाक़ात थी। इस संबंध में महात्मा जी ने निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया है :—

"कांग्रेस की माँग और वायसराय के कथन में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वायसराय का विचार है कि भारत के भाग्य का निर्णय ब्रिटिश सरकार ही कर सकती है और इसके विपरीत कांग्रेस की सम्मति में भारत स्वयं अपना भाग्य निर्णय कर सकता है। कांग्रेस की राय में तो सच्ची आज़ादी की परख यही है कि भारत की जनता बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपने भाग्य का स्वयं निर्णय करे; जब तक यह अन्तर न मिट जाय इंगलैंड और भारत में शांति-जनक सम्मानपूर्ण समझौता होने के आसार मुझे नज़र नहीं आते।" (देखिए शेर और गाय एक घाट पानी पीते हैं या नहीं।)

मि० हक़ का पश्चाताप

बंगाल के प्रधान मन्त्री मि० ए० के० फजलुलहक़ ने अपने हाल के जबलपुर के भाषण पर पश्चाताप प्रकट किया है और कहा है कि मुझे इस बात का गहरा दुख है कि उस भाषण में मैंने कुछ शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं किया [illegible] पर आक्षेप करने का अथवा उनकी भावनाओं पर आघात करने का मेरा कोई इरादा नहीं था। मैं समझता हूँ कि मुझे संबंधित जनों द्वारा मैं माफ़ किया जाऊँगा। मैं एक भावुक व्यक्ति हूँ और मैं आवेश में बहुधा बह जाता हूँ।

(एक प्रधान मन्त्री ऐसे ज़िम्मेदार आदमी को आवेश में न आना चाहिए। बहरहाल यदि सुबह का भूला शाम को घर आ जाय तो उसे भूला नहीं कहते।)

स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू की बर्सी

६ फ़रवरी १९४० को त्यागमूर्ति स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू की बर्सी सारे भारतवर्ष में बड़ी धूम धाम से मनायी गयी। प्रत्येक नगर में विशाल सभाएँ की गयीं, वक्ताओं ने उनको श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनकी देश-सेवाओं का वर्णन किया।

शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले।
वतन पै मरने वालों का यही बाक़ी निशां होगा॥

टर्की में फिर भूकम्प

५ फ़रवरी को अरज़िन्जान के पास की आबादी में फिर भयंकर भूकम्प ने ४५ आदमियों की बलि ली। बीसियों को बुरी तरह घायल कर दिया। २७ दिसम्बर से अब तक वहाँ बराबर भूकम्प के धक्के आ रहे हैं

अब ये मुल्ला लोग भी बड़े हैरान हैं [illegible] के मरने की देर थी कि उन्होंने [illegible] [illegible] कर दिया

फिनलैंड की भौगोलिक स्थिति

इंगलैंड के एक [illegible] समाचार पत्र ने सोवियट रूस और फिनलैंड के युद्ध के बारे में [illegible]

लेख प्रकाशित हुआ है। इसका आशय यह है कि युद्ध प्रारम्भ होने पर तो फिनलैंड की सेना सोवियट की अपेक्षा अधिक सतर्क और मजबूत थी, पर जब सोवियट ने जबरदस्त धावा बोला तो फिन सिपाही उसके आगे न टिक सके। सोवियट रूस की शक्ति का गलत अन्दाजा लगाना व्यर्थ में भ्रम में पड़ना है।

(फिक्र मत करो कुत्ते भौंकते रहेंगे और क़ाफ़िला चलता रहेगा।)

रेल दुर्घटना से १०१ की मौत

पेरिस में सरकारी तौर पर बयान किया गया है कि फ्रेंच इंडोचीन में यूनन और हैंटग के बीच एक फ्रांसीसी रेलवे पर जापानियों ने बम वर्षा की जिस से १०१ व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी। मरने वालों में ५ फ्रांसीसी भी थे। इनके अतिरिक्त १२० व्यक्ति घायल हुए।

(गोरों की चिन्ता न करनी चाहिए। मरने वालों में ९० एशिया वासी थे)

अमेरिकन तांबा जर्मनी को

न्यूयार्क 'टाइम्स' को मैक्सिको से समाचार मिला है कि अमेरिकन तांबा मज्ज़ानिल बन्दरगाह में उतारा जाता है और शक किया जाता है कि यहाँ से ट्रान्स साइबेरियन रेलवे द्वारा उपयुक्त सारा तांबा जर्मनी में जाया जायगा। इस [illegible] रुपया तो बना रहेगा [illegible] जायगा

[illegible]

हैं कि युद्ध के बाद ऐसी व्यवस्था स्थापित की जाय जो स्थायी हो और सब राष्ट्रों की शान्ति बनी रहे। इसी उद्देश से राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने समर वेल्स को योरप भेजा है। अमेरिका की नीति का मुख्य आधार है हथियार बनाना बन्द देना, और उनकी संख्या में कमी करना।

(लेकिन पहले दरवेश बाद हू दरवेश)

लाहौर में शराब की खपत

लाहौर में शराब की बिक्री दिन पर दिन बढ़ रही है। अगले साल के लिए ठेकों की जो [illegible] हुई है उससे इस कथन की पुष्टि होती है। इस सहत्तर हजार रुपये की वृद्धि हुई है। अभी बहुत ठेके बिना बिके पड़े हैं। यदि सब बिक गये तो लगभग एक लाख की वृद्धि हो जायगी।

(क्या कहते हैं सर सिकन्दर हयात- मुसलमानों में तो शराब पीना हराम है!)

शत्रु देशों से रेडियो न मिलाओ

कहा जाता है कि पटना के अधिकारियों ने स्थानीय रेडियो के व्यापारियों को यह आदेश दिया है कि जनता के आमोद-प्रमोद के लिए शत्रु के [illegible] भी [illegible] जब वहाँ से खबरें [illegible] तो वे अपने रेडियो न मिलावें।

[illegible] अमर कर रही है।

[illegible] प्रतिनिधि मण्डल भारत को

[illegible] विचार किया जा [illegible] प्रतिनिधि-मण्डल १२ [illegible] लिए [illegible] शामिल हो सके [illegible] का अनुमान [illegible] में जा पार्लिमेंट

ईशावास्य उपनिषद्

(लेखक—श्रीशिवप्रसाद खरे)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

जो उपनिषदें अब पायी जाती हैं, वे संख्या में १०० से अधिक हैं। मुक्ति उपनिषद् के कथनानुसार इनकी गिनती १०८ है। परन्तु मुख्य और प्राचीन उपनिषदें १० हैं।

ईशकेनकठप्रश्न मुंडमाण्डूक्यतित्तिरः।
ऐतरेयं च छांदोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥

उनके नाम इस श्लोक के अनुसार ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, माण्डूक्य, तैत्तिरेय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्यक हैं। इनमें ईश उपनिषद् सबसे श्रेष्ठ और सबसे छोटी है। बृहदारण्यक उपनिषद् सबसे बड़ी है। श्री स्वामी शंकराचार्य्य, श्री रामानुज, श्री माधवाचार्य्य आदि बड़े बड़े महापुरुषों ने इन्हीं दस को प्रामाणिक मानकर इन पर टीका की है। ईश उपनिषद् की यह विशेषता और गौरव है कि यह श्वेत यजुर्वेद का

इस लेख के लेखक श्रीशिवप्रसाद खरे

चालीसवाँ अध्याय है और अन्तिम है। इसमें यह मुख्य वेदान्त है। दूसरी उपनिषदें आरण्यक के भाग हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। ईश उपनिषद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं। इसको ईश उपनिषद् इस लिए भी कहते हैं कि इसका आरम्भ ईश शब्द से होता है। हर वेद की उपनिषदें अलग अलग हैं जैसे ऋक् का ऐतरेय, आरण्यक और कौसतकी, श्वेत यजुर् [illegible] बृहदारण्यक, कृष्ण यजुर् की तैत्तिरेय, सा[illegible] छांदोग्य और केन, अथर्व की मुंडक, प्रश्न, [illegible] मांडूक्य आदि हैं। ११वीं उपनिषद् [illegible] कहीं-कहीं प्रामाणिक मानी गयी है। आज कल [illegible] कुछ लोगों का कहना है कि उपनिषदें वेद नहीं [illegible] लेकिन जैसा कि अभी कहा गया है कि वेद ही के पृथक् भाग हैं, वे अवश्य श्रुति और [illegible] हैं। ईश उपनिषद् में १८ [illegible] हैं। परन्तु अन्तिम दो [illegible] यजुर्वेद के ४० वें अध्याय [illegible] नहीं हैं, और कहीं हो [illegible] हैं। ईश उपनिषद् में [illegible] अविद्या, पराविद्या और [illegible] विद्या के संकेत हैं। तीन [illegible] का संकेत इस प्रकार है:-पह[illegible] अन्धकार, दूसरा कर्म, तीस[illegible] ज्ञान। इसमें कर्म और [illegible] दोनों को साथ-साथ चलाने [illegible] बात कही गयी है। [illegible] और सगुण ब्रह्म को [illegible] साथ समझने की ओर संकेत [illegible]
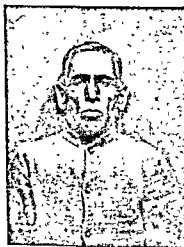
इसका भाव है कि ज्ञान ही सर्व श्रेष्ठ नहीं [illegible] कर्म भी व्यवहार में लाने के योग्य है। व्यावहा[illegible] वेदान्त के विचार से यह उपनिषद् एक अमूल्य [illegible] है। अत: ईश उपनिषद् को व्यावहारिक वेदान्त [illegible] प्रथम स्थान दिया गया है।

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

(शेष ११५ पृष्ठ के नीचे)

(ख)

आसाम	९६ लाख	साढ़े २७ लाख
बिहार	२ करोड़ ५६ लाख	४१ लाख
बंबई	१ करोड़ ५६ लाख	१६ लाख
मद्रास	४ करोड़	३३ लाख
मध्य प्रान्त	१ करोड़ ३२ लाख	७ लाख
उड़ीसा	६५ लाख	१ लाख २६ ह०
यू० पी०	४ करोड़ १० लाख	७२ लाख
देहली-अजमेर	१० लाख	सवा ३ लाख

अर्थात् आसाम में ३३ प्रतिशत मुसलमान, बिहार में १२, बंबई में ९, मध्य प्रान्त में साढ़े ४, मद्रास में ७, उड़ीसा में २, यू० पी० में सोलह और देहली-अजमेर प्रान्त में ढाई प्रतिशत हैं।

(ग) मुस्लिम प्रधान रियासतें

	हिन्दू	मुसलमान	आबादी
कपूरथला	५४,०००	१,३६,०००	३१७०००
लासबेला	७,०००	६२,०००	६३०००
बहावलपुर	११,०००	३,३१,०००	३४२०००
बहावलपुर	१,८६,८००	८,००,०००	९८५००
मैरपुर	४०,०००	१,८७,०००	२२७०००
काश्मीर	७,३७,०००	२८,१७०००	३६४६०००

जेटलैंड की शर्तों पर महात्मा जी का वक्तव्य

सदन में यह प्रश्न पूछा गया है कि कांग्रेस ने समझौते का द्वार बंद किया है या नहीं। मेरी समझ में कांग्रेस-कार्य-समिति के प्रस्ताव ने तो नहीं, पर लार्ड जेटलैंड ने द्वार बंद कर दिया है। उनकी शर्तों पर समझौते की बातचीत नहीं हो सकती। भारत नहीं चाहता कि वह अपने ही शोषण और विदेशियों द्वारा शासित होने में सहायक हो। जब तक भारत ब्रिटेन की भाँति स्वतंत्र नहीं हो जाता तब तक कांग्रेस चैन नहीं लेगी। यदि देश अहिंसा का प्रेमी हो जाय तो ब्रिटेन से भी अधिक स्वतन्त्र होगा। दूसरों पर शासन करने वाले ब्रिटेन की स्वाधीनता तो खतरे में है।

मैंने यह उत्तर पूछा गया है कि [illegible] मूर्खता का [illegible] नहीं [illegible] वा नहीं, यह [illegible] [illegible] है [illegible] नहीं कर [illegible]

दूसरी बात, जो कांग्रेस ने पूर्णतः स्पष्ट कर दी है, कि ब्रिटेन का उद्देश्य साम्राज्य को दृढ़ करना है कारण, कांग्रेस द्वारा प्रभावित भारत युद्ध में नहीं ले सकता। यानी ब्रिटेन को कांग्रेस का नैतिक प्राप्त नहीं हो सकता। तीसरी बात यह स्पष्ट कर दी है कि संग्राम चाहे जब छिड़े वह पूर्ण रूप से अहिंसक और इसलिए अनुशासित होगा। अब यह प्रश्न नहीं बल्कि ब्रिटेन की पसंदगी की बात होगी भारत को ब्रिटेन या किसी दूसरी शक्ति की फहराते हुए देखना सहन न कर जेल या उससे तकलीफें उठाना मंज़ूर करते हैं।

जनता की सेवा

इसमें सन्देह नहीं कि आज भी इस युग में भारतीय आयुर्वैदिक प्रणाली का म कम नहीं। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने हि कंदराओं में निवास करके जनता के हितार्थ जि औषधियों का आविष्कार किया है, उन सब महत्वशाली वस्तु शिलाजीत या शिलाजतु है प्राचीन आयुर्वेद से संबंध रखनेवाले शास्त्रों में कि ऐसा कोई भी रोग नहीं जिसका उपचार से न हो सके (न सोऽस्ति रोगो भुवि मानव जतुर्य न जयेत् प्रसह्य)। आज संसार है, जो कोई बड़े-बड़े विज्ञापन छपवा ले, लाखों कमा लेता है। आज संसार में प्रधानता है, इसी कारण इन अमूल्य महत्व सर्वथा छिप गया है। परन्तु हमें करते हुए हर्ष होता है कि इस समय सचाई सर्वथा लुप्त नहीं हुई है पं० शर्मा एण्ड सन्स मालिक बद्रीश शिल बद्रीनाथ, पो० जोशीमठ (गढ़वाल) भी है, जिनका ध्येय लोक-सेवा से है न पार्जन की वृत्ति से। आपके काम में अनेक बड़ी त्रुटियों के अतिरिक्त जो यह शुद्ध शिलाजीत है। इसका हमें ज्ञान है कि इसके प्रयोग से वास्तव में भारतीय स्फूर्ति और अनुपम बल आ आशा है कि जनता इस फर्म की सेवाओं लाभ उठाकर अपनी भारतीय संस्कृति को

OM

VYAVAHARIKA VEDANTA

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

MY MOTTO

"GOD IS REAL, WORLD UNREAL,
SELF-REALIZATION THROUGH RENUNCIATION."

VOL. 1 — Feb. & Mar. 1940. — No. 2-3.

The Law of Karma.

By Dr. M. H. Syed, M.A., PH.D., D. Litt.
(Allahabad University)

There is nothing which has wrought so much havoc in the practical life of the Hindus, as the misconception of the Law of Karma—the eternal Law of cause and effect that works with unerring precision in all the departments of human life. It is said that it is a gloomy doctrine and that it tends to paralyse human effort, and closes the spring of all right action. In popular language this doctrine means predestination pure and simple. It is believed that a man is a creature of his past actions and all his present life with its varied activities, joys, sorrows, pain and pleasure, success and failure, gain and loss, is predetermined by his past doings over which he has no control, and, therefore, he should be utterly [illegible] and waste no time in [illegible] bour's lot

The[illegible] attitude [illegible] that is understood and followed. Unless the whole truth is grasped with regard to this doctrine, it will always prove a source of confusion and cause a great deal of harm. If Indian people are to rise from their present state of degradation and shake off the fetters of their thraldom, it is time that they should clearly try to understand the true meaning and philosophy of actions, and the reign of the Law of Karma under which the whole of the human race has to evolve.

It is true that a man's present abilities or disabilities are the direct outcome of his own thoughts, and actions in the past: his congenital endowments, his physical heredity, his [illegible] and mental instincts and capacities are [illegible] results of his own thoughts and feelings [illegible]

sow the seed, water and manure it, he would not be in a position to enjoy the fruit of his toil. What he sowed yesterday, he is reaping to-day and what he sows to-day he will reap to-morrow. This is an immutable law and holds good in every thing without an exception. To say that one's capacity for fresh effort, and new lines of action, is paralysed or doomed by one's past doings is as futile and groundless as to say that because one sowed yesterday one cannot sow fresh seeds in new grounds to-day. The fact of the matter is that free will is never choked and stifled by any past action. The only thing is that a man cannot achieve what he wants all at once, and without any delay. The good law pays every person according to his need and in due time. The law runs its own course. The results of past actions, thoughts and feelings, appear to us as effects of causes we set up from our own free choice and similarly we are equally free and unfettered to choose a line of action, which is sure to bring its fruit in due time. A man is bound by the past debts he incurred or contracts he made. As soon as he pays up his liabilities he is once more free to choose whether he should incur fresh debts or not. Over the inevitable he has no control and if the law is to be justified, he should have no reason to complain against it. It is always open to him to mould the Karma which is in the course of making in any way he likes. Under the security of the changeless law of cause and effect a man can serenely proceed to achieve any thing he desires to accomplish [illegible] sooner or later he is sure to succeed [illegible] well-directed eff[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] last. Again [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] natural law.

If we once understand the law that g[illegible] our life and action, we shall be able to [illegible] such a manner as to make this law our [illegible] and helpmate rather than our adversary. [illegible] long as the conditions laid down by a law [illegible] meticulously fulfilled and observed we [illegible] fullest certainty of our success in any [illegible] tion.

The three aspects of the law of [illegible] should clearly be grasped. The *first* [illegible] *Sanchita Karma*—the sum total and [illegible] of all our actions good or bad in the [illegible] rable past lives that we have left beh[illegible] from the time we began to discriminate ri[illegible] from wrong and thus started acting on [illegible] own responsibility, and with our own [illegible] tive. The whole of it is recorded and p[illegible] served: how could it be otherwise when we [illegible] under the reign of an immutable law. T[illegible] second is *Praraldha*, the inevitable Karm[illegible] that portion of our Karma which is assig[illegible] to us to be worked out in a single life in r[illegible] tion to men and things we met and experien[illegible] in previous lives. This is also called [illegible] Karma, because it is a debt which is ow[illegible] and it is time that it should be paid in [illegible] form of sorrow and suffering, gain and [illegible] to the uttermost farthing whether we like [illegible] not. The third form is that of *Kriya*[illegible] that Karma which is in the course of ma[illegible] It is this which preserves our free will [illegible] certain limitations and ensures our [illegible] success. Because man is made in God's i[illegible] and shares divine life, he is free to act i[illegible] [illegible] he likes. In virtue of the same pri[illegible] whatever he intensely desires he is [illegible] [illegible] in the course of time.

[illegible] right action, for act[illegible] [illegible] and in inaction eve[illegible]

maintenance of thy body would be impossible." So says, Sri Krishna.

Whatever is true in the case of an individual is also true in the case of a nation. "As in small so in great," says ancient Hermes.

The collective Karma of a race or a nation is as much a fact in nature as an individual one. The same principle underlying the Karmic laws apply without much wide difference, to nations and groups of men. The nations rise and fall, empires flourish and are dismembered on the same ground. The wise heads in a nation should not neglect the dominating sway of this law.

In the midst of a national calamity it is well to remember that nothing can come to us which we have not deserved. We may not be able to see the immediate cause of a catastrophe, but it does not follow that it took place without sufficient cause. Take the case of India. In the long course of her history many heartrending and humiliating events have occurred on her soil devastating the whole land, robbing her sons of their precious jewels and even more precious lives.

The incidents of our own times are too fresh in our memory to need any repetition. Have these soul-scorching incidents and cataclysms taken place without any rhyme or reason? No: there is nothing that can happen to us beyond the scope of the good and utterly just laws. Everything has its own time and place. In our ignorance we may not be able to trace the immediate cause with certainty, definiteness and accuracy but this much is certain beyond the least shadow of doubt that nothing unmerited can happen to us or to our country.

Our own apathy, indifference, lack of patriotism, communal and caste dissensions, mutual hatred, suspicion and strife, have been it the *main cause of our present and past degeneration.*

As our collective Karma brought on us the wrath of divine justice and fit retribution closely followed in the wake of our evil deeds and we deservedly suffered and paid for them heavily, so we can again exert our collective will in the right direction and learn to be wise and circumspect in the light of our bitter experience and deep humiliation. In the course of time we shall begin to see the eclipse of downfall, servitude and humiliation gradually disappearing from our motherland and we shall once more be free and great as our forbears were.

—:o:—

Practical Vedanta.

(Swami Sivananda)

Vedanta is that sublime philosophy which teaches that the individual soul is identical with the Supreme Soul and removes the illusion of the Jiva. Vedanta is the science of Atman that helps the aspirants to eradicate fear, sorrow, grief, delusion and to realise the Self. Vedanta is that magnanimous philosophy which raises the ignorant Jiva to the sublime heights of *[illegible]*. Vedanta is a panacea for all human ailments. Vedanta is a sovereign specific for the disease of birth and death. Mere theorising of Vedantic principles will not do. You should live in the spirit of Vedanta. You should become a practical Vedantin. You should realise this Atman which Vedanta treats of. Then only you will become a liberated sage.

Brahman or Atman or the Supreme Self is self luminous. Brahman cannot be manifested by anything else. Brahman manifests everything. The doctrine of self luminousity is one of the foundational tenets on which the entire edifice of Vedanta is constructed. Atma gives light to the sun, the moon, the stars, the lightning, the fire, the intellect and the senses. By the light of Atman all these shine but they cannot illumine Atman. Vedanta treats of this ultimate Truth
Supreme Principle.

This world of names and forms is con-
changing. Seas dry up and vast sandy
come into being in their place. Elev-
become depressions and depressions be-
elevations. Sand becomes stone and s
becomes sand. Blocks of stones becom
and lime becomes dust. Forests become
towns and cities become deserted places
becomes blood, blood becomes milk,
again becomes blood, blood becomes
young man becomes an old man and a
ful girl beomes an ugly woman. The
man becomes thin and a thin girl becom
fatty woman. A Zamindar becomes a
and a beggar becomes a Zamindar.
back of these ever changing objects there
changeless, eternal, Immortal Brahman
Supreme Self. He who realises this
attains Immortality, freedom and eterna

Naturally the mind runs towards the
of the world. The usual flow of the
current is towards worldly objects. Yo
have to turn the mind inwards towa
through Vairagya and Abhyasa
In the beginning
the worldly objec
turned towards
necessary to

Tear to pieces the veil of ignorance. Catch e fickle deer, the mind with the snare of quiry and Brahma-Chintan. Mount yourself n the elephant of self-knowledge and roam bout freely in the hilly tracts on the highest eak of Supreme Wisdom of the Self.

Shake off the bonds of Karma through iscrimination, dispassion and non-attachment. now the secret of true bliss through concenration and meditation. Root out the passion. mbrace Peace. Enjoy the glory of self-bliss. elight in the Self within.

Abandon the thoughts of this little body. ise above the worldy thoughts. Live always in e all-blissful Self. Thou art the sun, the ire, the sky, the stars, the mountains, the ceans, and the rivers. The whole world is your ody. The whole wealth of the world is yours. he whole world is your Lila. Maya is your llusory power. Exercise your power of Sat Sankalpa. She is ever ready to fulfil your wishes. Thou art Immortal, beginningless and endless. Death, sickness, sorrow, sin, old age, cannot touch thee. Feel the majesty of thy real nature. Feel, feel that thou art the all pervading imperishable, diseaseless, fearless Atman. Rest in that stupendous ocean of peace. Be perfectly happy.

Learn to discriminate between the permanent and the impermanent. Behold the Self in all beings, in all objects. Names and forms are illusory. There [illegible] that there is n [illegible] you have phys [illegible] with a [illegible] Se [illegible] you serve [illegible] Self [illegible] that separat [illegible]

Embrace all. Destroy the sex idea and body idea by constantly thinking on the Self or the sexless and bodiless Atman. Fix the mind on the Self when you work. This is practical Vedanta. This is the essence of the teachings of the Upanishads and sages of yore. This is real, eternal life in Atman. Put these things in practice in the daily battle of life. You will shine as a dynamic Yogi or a Jivanmukta. There is no doubt of this. There is no doubt of this.

OM is a symbol of Brahman. OM or Pranava is a sparkling ferry-boat for men who have fallen into the never-ending ocean of mundane life. Many have crossed this ocean of Sansara with the help of this ferry-boat. You can also do so if you will. Meditate constantly on OM with Bhava and meaning and realise the Self.

That illumined sage whose mind is merged in his true nature of Satchidananda, who has conquered the enemy ignorance, who is destitute of 'I-ness and mine-ness', who has rooted out pride, self-love, envy and hatred, revels in the ocean of boundless bliss.

A cat made up of sugar is a real cat for a child. Sugar does not appear for the child as it is swallowed up by the cat. The cat has concealed the sugar. For an adult it is just sugar only. The sugar has swallowed up the cat. Even so for a Jivanmukta or Liberated [illegible] are all illusory names [illegible] Brahman every [illegible]

as his bed. He embraces renunciation as his wife and sleeps fearlessly without any anxiety anywhere and enjoys the supreme bliss of the Self or the unalloyed felicity of Atman.

O Ram!

In Essence Thou art the light of lights. Thou art the source for everything. Thou art the infinite power-house. Thou art the beauty of beauties. It is Thy effulgent light that lends life and lustre to the Himalayan snowy peaks, sun, moon, stars, flowers, and trees, the great scientists, poets, orators, politicians, scholars, philosophers, doctors. Thou art that power which moves the steam-engine, aeroplanes, steamers, railway engines, motor cars, etc. Thou art the beauty at sunset, brilliance in the diamond, the sweet charming smile in a young maiden, strength in atheletes, endurance in ascetics, intelligence in genius. Above, below, to the right, to the left, in front, behind and everywhere Thy sweet effulgent, majestic, magnanimous presence shines. Feel this. Realise this. Rejoice in the Self. Move about with perfect joy. Get yourself saturated with deep abiding peace.

Thou art the peasant and the king. Thou art the rogue and the saint. Thou art the maiden and the man. Thou art the child and the father. Thou art the seed and the fruit. Thou art the five elements and their com-tions. Thou art the ocean and the [illegible] Thou art the ugliness and beauty. Thou [illegible] merit and demerit. The whole universe [illegible] within thy womb. Feel this. Realise [illegible] through silent meditation.

Through Thy light the sun shines, the in-tellect functions, the senses operate. Through Thy power the fire burns. Through Thy [illegible] the wind blows, the rivers flow towards the sea, the magnet attracts the iron, the flowers blossom and atoms move. Thou art electricity, magnetism and ultra-violet rays.

Feel your oneness with all. Feel your oneness with the sun, the sky, the wind, flowers, trees, buds, animals, stones, rivers, and [illegible] Realise the oneness of life, unity of conscious-ness. Behold the one homogeneous Self every-where in all beings, in all animals, in all places.

Rise above the conventional distinctions of mundane life. Abandon the lower [illegible] Assume your true nature of Satchidananda. Meditate on the true principle of Brahman. Dispel the cloud of Ignorance by the [illegible] Gyana-Surya or the Sun of Knowledge. Extricate yourself from the three bodies [illegible] the five sheaths. Dwell in the abode of Supreme Peace. Revel in the ocean of boundless joy, O Ram!

Swami Rama Tirtha: An Appreciation

By Rev. C. F. Andrews

The name of Swami Rama is one that I ve learnt to honour through long residence the Punjab, where his chief inspiration is ill to be found. In the United Provinces, so, his influence has spread far and wide. gain and again, I have seen faces light up at e mention of his name. Educated men and omen in North India have told me how uch they owed to him.

He came at a time when a deep unsettlement was disturbing the minds of educated ndians with regard to religious truth; when he outer claims of the material world were eeming almost too absorbing. The training the western sciences given in Indian Universities, divorced as it usually is from any eligious culture, had frequently led to an ndifference to religion altogether. After ollege days, the modern students' struggle or existence in the world had left little opportunity for the cultivation of the inner spirit. A concentration of the mind on worldly uccess had gathered round advanced education. The strain of being obliged to live at a more expensive standard was often itself the cause of the ... until it suffere...

In... ...

feeling that the highest happiness in life was to be found, not in the things of the body, but in the things of the Soul. He seemed, from his earliest childhood, to have grown up instinctively with a realization of the spiritual realities. Every instinct in his nature pressed him forward to the devout, religious life. Many of those, with whom I have conversed about him, have told me of the innate spiritual power which he possessed,—a power which moved them profoundly whenever they met him personally and talked with him. His very presence was able to take their thoughts away from material things. He made them feel, if only for the moment, the reality of spiritual experience.

The published writings of Swami Rama Tirtha show clearly the inner secret of his great personal influence. There is a unique child-like simplicity in what he writes, and an over-flowing joy and happiness, won through self-discipline and suffering. These qualities reveal a soul that is at peace within itself and has found a priceless treasure that it desires to impart to others. There is a striking persona... ...writings which makes itself felt ... or address. On ... to appeal ... happiness

The lectures that have been published have not had the revision of the author himself. He would have corrected the metrical form of some of his poems, which have clearly been put down on paper just as the inspiration to write came to him, without any laboured correction. But while there is certain loss to the reader on this account, there is also an advantage. For what is lost in correctness is gained in freshness. I cannot doubt that the friends of the author were right in tenderly and piously preserving every word of the manuscript before them. The readers will gladly make allowance for repetition and lack of finish, when the individuality of the Swami himself is brought so vividly before them We feel the Swami himself present in his own words, and can almost picture him writing and speaking,—with a smile of happiness always on his face.

If I were asked to point out what I consider to be the special characteristics that mark out Swami Rama Tirtha's writings, I should mention first of all the point I have already emphasised, namely, the unworldliness that is every-where apparent. Wealth, riches, luxuries, these are all laid aside without a murmur. The Swami's own life had reached a calm heaven, into which the stormy passions that are roused by the acquisition of wealth and worldly honours had never come His inner life had been free from such things. He is such a child that he cannot even understand them This child nature seems to come out in him as he speaks of them He [illegible] at them [illegible]
laugh [illegible]
[illegible]
[illegible]
In [illegible]

overflowing charity. He tries to [illegible] not to drive them; to make the best of [illegible] not to blame them; to attract them, [illegible] argue with them. The bitter and [illegible] spirit is remarkably absent; and the [illegible] spirit prevails. This is especially [illegible] when he is dealing with religious beliefs [illegible] than his own. Here he is always [illegible] and sympathetic. He is the perfect [illegible] in such matters.

Usually his one attempt is to absorb [illegible] assimilate all that he can approve in the [illegible] gion of another; his one desire is to try [illegible] it into his own system of religious thought. In this respect, he shows the truly catholic [illegible] For he has a very large share of that [illegible] which 'thinketh no evil' and 'rejoiceth [illegible] the truth.'

The third feature that I should [illegible] notice in the life and writings of the Swami [illegible] his abounding joy. He was not in the [illegible] one of those gloomy ascetics, who seem to [illegible] left behind them all human happiness [illegible] knew what physical hardship meant, in a [illegible] that few can have experienced. Yet [illegible] not embitter him, or make his central [illegible] one of harshness. On the contrary, the [illegible] titles of his lectures are sufficient to [illegible] picture of the character of his own [illegible] "Happiness Within," "How to Make [illegible] Homes Happy"—such are the subjects [illegible] appeal to him, and his heart goes out [illegible] tries to make his joyous message clear [illegible] the [illegible] of his own experience, [illegible] [illegible] He [illegible] full of happiness [illegible] [illegible] to impart to the world [illegible] [illegible] spirit as when [illegible] [illegible] ject It is this, also, [illegible]

bubbles over in his poems, waking in others an echo of his own laughter. The outward setting of these poems, as I have already said, may often be crude, but the inner spirit is caught by the sympathetic reader beneath the imperfect vehicle of expression. The message of this gay spirit, this 'troubadour' of divine song, laughing at hardship and smiling at pain, is one that the world sorely needs.

This mention of his poems leads me on to one further feature which I would wish to mention. I do so with diffidence, as it is quite possible that others may take a different view to my own. But what I would venture to say is briefly this, that I find in Swami Rama Tirtha's *poetic* spirit, which lies beyond his own philosophy, the highest value of his written work. In this seems to lie its freshness, its originality, its contribution to the world of thought. His romantic love of Nature, strong in his life as in his death; his passion for sacrifice and renunciation; his eager thirst for reality and self-abandonment in search of truth; his joy and laughter in the victory he had won, are the true emblems of his inner poetic pirit. They go beyond the philosopher and eveal his true personality. It is the presence these qualities which make him break out o song. To these qualities my own heart e out most warmly in response. On these s I find by far the strongest attraction of writer.

certain persistent facts of human experi am always conscious of obstinate and i cible elements in the equation of God, the and the Universe, which the Advaita sy does not seem seriously to take into acc I would refer for an instance, in Swami R Tirtha's book, to the chapter on the 'Progn and Diagnosis of Sin.' While containing so valuable thoughts, this chapter appears to unsatisfying in its conclusions, intended as the are to form a final answer to the problems o the origin of evil.

But, on the other hand, with the poetic spirit of Swami Rama where his thought is still in solution, and not crystallised into a formal logical system, I have a deep sympathy. Here I feel again on common ground; and my whole heart goes out to the young writer in his beautiful passages, on renunciation as the Law of Life Eternal; or again in his vivid appreciation of beauty in nature; or again, to mention only one more instance, in his pure ideal of married life. The same sympathy rises within me as when I read some of the poetry of the Upanishads, or certain passages from that greatest of all Sanskrit poems, the Bhagavad Gita. There also the note is struck, which is heard many times in Swami Rama's writings, that only in the silence of the soul can the devine harmony of the Universe be heard.

The spirit of Wordsworth, among the English poets, appears to me very near akin to ... Swami Rama Tirtha. In Swamiji's

beautiful and attractive objects, as not his, as not belonging to him, but as God's,—not mine, not mine, but God's.— That does not mean begging, but renouncing: giving up: renouncing unto God. You know how unreasonable it is, on the part of a king, to offer that prayer, 'Give us this day our daily bread,' if it be taken in its ordinary sense. How unreasonable! But it becomes reasonable enough, when the king, while he is offering that prayer puts himself into the mood, where all the jewels in his treasury, all the riches in his house, the house itself,—all these he renounces, as it were he gives them up, he disclaims them. He breaks connection with them, so to say; and he stands apart from them. He is the monk of monks. He says, 'This is God's: this table, everything lying upon the table, is His, not mine; I do not possess anything that comes to me, comes from my Beloved One.'"

Such a passage as this gives, on the one hand, an example of Swami Rama's style, so simple, so direct, so careless with regard to repetition, if only the meaning can be made clear; and, on the other hand, it explains what I have called the approximation of two different streams of human thought, issuing from two different springs. These, in their conjunction, should do very much to lead to [illegible]

Among the different intersecting channels of new thought, which are being cut, three appear to me to be of special significance:—

(1) There is the approach made by the West towards the East, in what Tennyson has called 'the Higher Pantheism.'

> The sun, the moon, the stars, the seas, the hills and plains,
> Are not these, O Soul, the Vision of Him who reigns?
> Is not the Vision He? Though He be not that which He seems,
> Dreams are true while they last, and do we not live in dreams?

As we read many passages in modern English poetry, we feel as though we were back in the Upanishads, repeating Indian thoughts uttered long centuries ago.

(2) Along with this conception of an all-pervading Divine Nature, there has developed in the West, even more clearly and distinctly in modern times, the conception of an eternally persisting personality.

> Dark is the world to thee? Thyself art the reason why;
> For is He not [illegible] that has power to feel 'I am I'?

Should move his rounds, and fusing all
The skirts of self again, should fall,
Remerging in the general soul,
Is faith as vague as all unsweet.
Eternal Form shall still divide.
The eternal soul from all besides,
And I shall know him when we meet.

So the poet sings of his dead friend, again and again in more passionate accents at the close.

Dear friend, far off, my lost desire
So far, so near, in woe and weal,
O loved the most, when most I feel
There is a lower and a higher;
Known and unknown, human, divine
Sweet human hand, and lips, and eye
Dear human friend, that cannot die,
Mine, mine, for ever, ever mine

Thus the modern West to day expresses the conviction, which for century after century it has cherished, that love is eternal; and that each individual soul has an eternal, individual existence through the medium of Love

Love is and was my king and Lord,
And I will be though as yet I keep
Within his court on earth, and sleep
Encompassed by his faithful guard,
And hear at times a sentinel,
Who moves about from place to place,
And whispers to the worlds of space,
In the deep night, that all is well.

It is again this central conviction of the [illegible]

For Life, with all its yield of joy and
And hope and fear,—believe the
friend—

Is just our chance o' the prize of learn-
Love,

How Love might be, hath been inde-
and is.

There is a certain real danger in the emphasis on personality in the West, in individual forms even when thus closely associated with the highest ideal of Love. Love itself may become too individual and possessive. It may lead to a subtle self-[illegible] tion and to an individualism of a selfish type. But one thing is certain, the West will [illegible] accept as finally satisfying any philosophy [illegible] does not allow it to hold the faith that between human souls may be an eternal [illegible]

(3) There is a remarkable approach [illegible] from the side of the East in what both Swami Vivekananda and Swami Rama Tirtha [illegible] made familiar by the name of 'Pra[illegible] Vedanta'—the approximation of the [illegible] Vedanta to Christain philanthropy in its [illegible] and national applications. Here again [illegible] approach may well have its limits, and [illegible] social and national development of the E[illegible] may differ both in kind and in degree [illegible] that of Europe, with its own religious [illegible] line of nearly two thousand years.

I do not wish it to be understood that religious contact between East and We[illegible] [illegible] and deliberate On [illegible] both sides, it appears [illegible] [illegible] than the con[illegible]

[illegible] Page 21)

Constipation, the Veritable Mother of Ailments.

Dr. S. J. Singh M. A., B. Sc., N. D. (London)
(Nature Cure Specialist)

Constipation is characterized by sluggish tion of the bowels. For some reason the acuation of waste matter from the large testines has become difficult. Normally an dividual should have a copious movement f the bowels twice in 24 hours.

Constipation has become so common mong people of civilized countries that this as been called the age of constipation. At east ¾ ths. of the chronic patients that come o us for treatment, suffer from constipation n its worst forms. Many of them tell us hat they have not had a natural movement of the bowels for many years. This alone s sufficient to show that the ordinary methods of living and of treating human ailments are faulty and inadequate.

While itself only a symptom of failure on the part of the muscles of the large intestine, constipation becomes in turn one of the primary causes of other constitutional diseases. Inactivity of the eliminating organs, the skin, kidneys, and bowels causes retention of waste and morbid matter which results in body poisoning or auto-intoxication. Any system of treatment which cannot restore the normal activity of the organs of cleaning cannot accomplish anything else.

RESULTS OF PILL USING

The medical treatment of constipation, consisting largely in the administration of laxatives and cathartics, gives only temporary relief and tends to benumb and paralyze the intestines more completely This is just like whipping a tired horse ; for a time the whip appears to be a pretty good remedy but soon a time comes when you may whip and whip but the horse just topples down.

All laxatives and purgatives are poisonous to the system or they would not produce

---

(Continued from Page 20)

acceptance of any new definitions. Many would repudiate the idea that any approximation as yet existed. But those who look beneath the surface, and have watched the trend of thought, both in the East and in the West, tell us clearly that an intermingling is actually taking place, not from one side only but with [illegible] tage.

It is because Swami [illegible] singularly fitted to make [illegible] ces, that I regard his published works, and the tradition he has left behind, to be of true historic value. Therefore I would wish to do all in my power to keep his memory fresh and green. Such a saintly personality should be an inspiration both to those of the older generation who knew and loved him and also [illegible] younger student [illegible] of India which has [illegible] since he passed away.

'Prabuddha Bharata

their peculiar drastic effects. *They do not act upon the system but the system acts upon the drugs.* Being poisons, the body tries to expel these enemies to healthy life by copious excretions from the liver and from the walls of the intestines. This eventually produces an evacuation of the contents of the bowels, but every time such *violent artificial stimulation* is *resorted to*, the liver *and the membranous* linings of the intestinal tract and the nerves which supply them, become more benumbed and inactive. Many cases of inflammation of the intestines, called "colitis" etc., are simply inflammation injuries due to the use of drastic drugs of purgation.

Inflammation of the tender lining of the *intestines, is only one evil. The violent and* drastic stimulation following drugging causes the muscles of the digestive system to shrink, thrivel up and become flabby. The lower end of the bowel may become so benumbed and flabby that it protrudes from the body toneless and with no power.

We find this frequently in people who have habitually used calomel or have taken other mercurial laxatives. Quinine and the derivatives of opium also have a very paralyzing effect upon the digestive tract. The acute catarrhal conditions characterized by frequent *purging* are indicated *by recurring* attacks of diarrhoea, mucus appearing in the stools, *etc.*

CAUSES OF CONSTIPATION

Causes of constipation are : (1) congestion of the liver caus... product... blood ... insufficient ... lubrication and ...

faecal matter ; (3) interference with the motor nerve supply to *the muscular walls* of the intestines (partial paralysis) thus reduces the peristaltic action of the intestines, which in turn causes stagnation and fermentation of faecal matter; (4) spasm of the sphincter muscles of the rectum, *inhibiting* the act of evacuation; (5) *sluggishness* and flabbiness of the muscles of the stomach and intestines (muscle tissues comprise the majority of tissues of this part of the body).

CONGESTION OF THE LIVER

Hyperactivity, due to excessive overwork is always followed by corresponding weakness and gradual flabbiness. The ordinary high protein and starchy diet produces excessive amounts of poisonous waste, ptomains, alkaloids, *xanthins (collectively called toxins).* These *morbid* materials are powerful stimulants.

This results at times, when the digestive organs become clogged with waste matter, in periodic diarrhoeas. This is the case *during infancy* and youth. Gradually however, continual irritation and over-stimulation, with the attendant purging, change in accordance with the laws of action and reaction, into the opposite condition of chronic constipation which is aggravated and made more stubborn by the use of laxatives and cathartics.

Constant clogging of the liver with morbid by-products of a high protein ... leaves that organ in a congested condition. This interferes ... *fluid* which in turn ... contents of the bowels

deprives them of the lubricants necessary for easy evacuation of the faeces.

The factor of overwork enters also. The liver manufactures and stores a form of sugar prepared from starchy foods, such as bread, potatoes, cereals, etc. A person who lives exclusively on this class of food, in time breaks down the liver from overwork.

Meats, fish, eggs, beans, peas, and lentils, legumes and pulses, the protein foods are converted into urea and other products by the liver. It follows that the individual who lives almost exclusively on highly protein foods will cause liver-overwork and congestion, consequently an interference with bile production and constipation.

LACK OF BULK

Continual overirritation and overstimulation resulting from toxic poisoning and the use of laxatives and purgatives also benumbs and paralyzes the motor nerves which supply the muscular walls of the intestines, resulting in partial paralysis and diminished muscular action. This is aggravated by the continual intake of food materials deficient in cellulose and woody fiber, such as white flour products, polished rice. The hulls of cereals, which act as natural stimulants to the peristaltic action of the bowels, are removed in the [illegible]

[illegible]

ently they shrink, atrophy, and become soft. They fail to move wastes and food from the digestive tract, this we call constipation.

It is for this reason that the followers of Nature Cure have always advocated the use of whole grain foods and the liberal consumption of fruits and vegetables whose fibrous wastes serve as scouring material for the intestinal tract and as a natural stimulant for peristaltic action.

NERVOUS CONSTIPATION.

Spasm of the sphincter muscles of the anus, or spasm of the rectum, is usually caused by long-continued overirritation with systemic poison or by the paralyzing effect of drug poisons. Many such cases I have traced back to nervous, mental and emotional conditions. The nervous, jumpy, fretful individual always has a tight, tense rectal sphincter (outside muscle).

The opposite of spasm, too much relaxation, is met with in victims of the daily enema habit.

Mental and emotional conditions exert a powerful influence upon the alimentary tract. Certain emotions have a benumbing, others a stimulating effect upon the secretions and the peristaltic action of the bowels. A few days ago I read about certain experiments made with living animals. [illegible]

ॐ

विषय-सूची ।

विषय — लेखक

— —

…हाँ लोग धर्म को मानते हों, जहाँ गीता का अध्ययन …जाता हो, जहाँ सन्त-महात्माओं की सार्वभौमिक …ई हों, वहाँ भी धार्मिक कट्टरता और अन्ध पक्षपात …नमें रहकर शुभ क्या हो सकता है? आज भी मनुष्य … और अहंकार-वश कहते सुने जाते हैं—मेरा धर्म …वल मेरा धर्म ही सर्व श्रेष्ठ है।

…शुद्धि के लिए, सार्वभौमिक बनने के लिए, विश्वप्रेमी … के लिए, कर्मयोगी और स्वार्थ-त्यागी बनने के …तुम्हें सम्पूर्ण गीता को याद करने की आवश्यकता है। यदि कोई केवल एक ही अध्याय का, उस दिव्य … के केवल एक ही श्लोक का आचरण करता है तो … कल्याण हुए बिना नहीं रह सकता। गीता का प्रत्येक …, प्रत्येक शब्द गंभीर, दिव्य और व्यवहारात्मक है।

…गीता जीवन-संगीत है, वह आत्म-संगीत है। भगवद्- … प्रत्येक मनुष्य के जीवन की गीता है। तुम उसे … के रूप में पढ़ व सुन सकते हो किन्तु धन्य हैं वे …ने अपने भीतर अपने शुद्ध हृदय की नीरवता …सका गान सुना और अनुभव किया है।

…गीता में व्यष्टि समष्टि से बातें करता है, उस सार्वभौमिक … में प्रेम करता है। फिर समष्टि व्यष्टि से बातें करके …आशीर्वाद देता है, जिससे व्यष्टि को परम शान्ति …ती है, क्योंकि व्यष्टि की शांति ही निश्चयात्मक रूप से …भौमिक शान्ति का मार्ग प्रस्तुत कर सकती है।

…गीता की महिमा और सुन्दरता, मौलिकता और …लिकता, ज्ञान और गंभीरता और सबसे अधिक गीता …व्यावहारिक उपयोगिता के बारे में ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिखे …सकते हैं किन्तु मैं यह काम उन विद्वानों और पण्डितों …लिए ही छोड़ता हूँ, जिन्होंने गीता का अध्ययन अपना … बनाया है। मुझे तो यहाँ केवल आत्मा के संगीत का …र्ष ही इष्ट है।

…पाश्चात्य देशों के भ्रमण से लौटने पर बम्बई में मेरे … मुझे 'राधाकृष्ण' का फिल्म देखने लिवा ले गये। वह …म मेरे लिए पवित्र, आनन्द और स्फूर्तिदायक था। मैंने …ने को धन्य समझा, मुझे वह शान्ति मिली जिसका वर्णन … हो सकता। भगवान् कृष्ण की बंसी के दिव्य संगीत …ऐसी ही अद्भुत शक्ति है।

श्रीकृष्ण बंसी बजाते थे, नहीं, नहीं, वह तो भीतर …र बाहर अब भी बज रही है, मनुष्यों के समुदाय के समुदाय, पशु-पक्षियों के समूह के समूह उसे सुनने के लिए आतुरता से दौड़े जा रहे हैं। प्रत्येक वस्तु उसकी ओर खिंची जा रही है, मैं भी भीड़ के साथ हूँ और गीता के उस दिव्य संगीत की कल्याणमय ध्वनि का मधुरपान कर रहा हूँ।

यह कितना सत्य, कितना हृदय-उद्वेलित करने वाला संगीत है। उसकी स्मृति आते ही मैं पुनः उस मधुर और पवित्र संगीत को सुनने लगता हूँ।

श्रीकृष्ण अपनी दिव्य बाँसुरी बजा रहे हैं। कहीं से कोई आदमी आता है और श्रीकृष्ण के हाथों से उसे छीन कर तोड़ डालता है। लो, उस टूटी हुई बाँसुरी से वही मीठी और मधुर तानें निकल रही हैं। आदमी घबरा उठा, क्रोध के मारे उसने बाँसुरी को पत्थर से पीस कर चूर्ण कर डाला, किन्तु आश्चर्य! उस चूर्ण से भी वही दिव्य मधुर संगीत निकल रहा था।

मित्रो, मेरे मित्रो, सुनो, गीता की मधुर ध्वनि को सुनने का समय यही और अभी है। भीतर घुसो, कृष्ण—प्रेम और ज्ञान के अधिष्ठान कृष्ण के पास बैठो, तुम्हारे शुद्ध हृदय की नीरवता में वे धैर्य के साथ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहम् त्वाम् सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ अ० १८।६६

प्रभु ईसा मसीह ने भी भगवान् कृष्ण के यही शब्द दूसरी भाषा में दुहराये हैं—

आओ, तुम सब मेरे पास आओ, जो दुःखों से दबे हुए और संतप्त हो, मैं तुम्हें विश्राम दूँगा। मैथ्यू—२८

कृष्ण ही ईसा में प्रकट हुए हैं और ईसा ही कृष्ण में प्रकट हुए हैं। एक ही चैतन्य, एक ही ईश्वर दोनों ईसा और कृष्ण में व्यक्त हुआ है। नहीं, सब अवतारों में वही चैतन्य है और तुम सब में भी वही चैतन्य है।

हमें इसी सर्व-व्यापक चैतन्य की वन्दना करना चाहिए, जिससे नाशवान् व्यक्तियों का मोह दूर हो जाय। बस, गीता के आत्म-संगीत को सुनने में अपने कान लगा दो, ऐसे लगा दो कि वहाँ से वे हटें ही नहीं, तभी तुम वेद और बाइबिल, नाम और रूप से ऊपर उठ सकते हो।

यही दिव्य आत्मसंगीत हमारे काम का है, इसी से हमें स्फूर्ति मिल सकती है। अनादि शान्ति ही मनुष्य को सान्त से अनन्त बना देती है।

सन्त-महात्माओं ने बतलाया है कि हमारा शरीर ही भगवान् की बंशी है। पहले इस बंशी, इस शरीर को स्वार्थपरता और धार्मिक कट्टरता, मिथ्या अहंकार और राष्ट्रीय पक्षपात, अर्थात् सभी प्रकार के अज्ञान से खाली कर दो। बस, तुम्हें तुरन्त उस दिव्य संगीत की मधुर ध्वनि अपने ही भीतर सुनाई देने लगेगी।

गीता अनुभूतिगम्य ॐ से प्रारम्भ होती है। वह इस सार्वभौमिक शब्द ॐ की महिमा का वर्णन करती है और इसी अक्षर परमब्रह्म—अकथनीय महा शब्द ॐ के साथ समाप्त होती है।

गीता वह गीत नहीं, जो केवल एक ही बार गाया गया है। किन्तु वह तो वह दिव्य संगीत है, जो अनादि काल से गाया जा रहा है। वह चिरन्तन संगीत है, जो निरन्तर गाया जाता है, जब से सृष्टि है तब से गाया जाता है। वह सर्वकालीन और सर्वव्यापक है। पूर्व के और पश्चिम के सभी देशों के भक्तों और ज्ञानियों के हृदयों में ... मधुर कोमल ध्वनि उठा करती है।

प्यारे भाइयो, अब गीता के सौंदर्य और महि... करने में अपना अमूल्य समय लगाने की आवश्यक... आओ, अपने आत्म-केन्द्र में चलें और स्वयं गीत ... में अवगाहन करें। क्षणभर, अभी, यहीं, इसे इसकी ... की परमावश्यकता है।

शान्ति—भीतर और बाहर—चारों ओर शान्ति... प्रकाश—ऊपर और नीचे—चारों ओर प्रकाश है। ... हम प्रेमसागर में डूबे हुए हैं। ऐसी पवित्र नीरवता ... हम अपने आत्मसंगीत का माधुर्य लेने का आनन्द...

ॐ ॐ ॐ

शब्दों में कुछ कहा नहीं जा सकता। यहाँ ... पूर्ण नीरवता है। यहाँ हम सब एक ही जाते हैं, ... कहाँ है? शान्ति, शान्ति, शान्ति, सब शान्तिमय...

आँसू

श्री श्रवण 'ऋषि'

होकर भी खारी खारी,
तुम बड़े मधुर हो आँसू!
जब मैं अपनी करनी पर, रोता पछता-पछता कर,
अरु कोई पास न आता,
हो विकल निकल तुम आते, अरु मुझे शांति दे जाते।
तुम से क्या मेरा नाता!
सेवा निस्वार्थ तुम्हारी, खो देती बाधा सारी।
होकर भी खारी खारी,
तुम बड़े मधुर हो आँसू!
करते ऋषि-तप्त-हृदय तर, तुम छाती से लग लग कर।
पर स्वयम् नष्ट हो जाते,
हो शीतल कर मम छाती, छाया विलीन हो जाती।
फिर ढूंढ़े भी नहिं पाते,
हे बहु रस के अधिकारी, हलका करते मन भारी।
होकर भी खारी खारी,
तुम बड़े मधुर हो आँसू!

दिलवर का जलवा

[श्रीभगवन्नारायण भार्गव एम० एल० ए० ...

हर रूप में, हर राग में, हर रंग में देखा
हर फूल में, काँटे में भी उस यार को देखा
आकाश में, पाताल में, भूतल में भी देखा
पशुओं में, पक्षियों में भी, उस ईश को देखा
दरिया पहाड़ जंगलों में उसका...
महलों में, झोपड़ों में वही रहता...
गिरिजा में, वही मन्दिरो मसजिद ...
हर शान में, हर बान में, हर ध्यान...
वह छांह में, वह धूप में, उजियाले अँधे...
दिलदार रमा दिल में दुपहर शाम स...
वह चांद में, सूरज में, सितारों चमक...
गुलशन के गुलों में भी वह दिन रात महक...
चिड़ियों की चौंचहाट में, चमनों...
शेरों की भी दहाड़ में, वन में ...
दिलवर के अजब जलवे को हर जा...
हर चाल में, हर काल में सुरा ह...

स्वामी राम और समाजवाद

[श्री[illegible]]

समाजवाद का संक्षिप्त अर्थ है—समाज के अन्तर्गत
...ति के जितने भी साधन हों, उन पर थोड़े से विशेष
...क्तियों का अधिकार न होकर सारे समाज का आधिपत्य
...। आज से थोड़े ही दिन पहले हमारे देश में यह
...ल एक सैद्धान्तिक विषय था। किन्तु अब इसकी चर्चा
...न जोरों पर है, क्योंकि अब इसे व्यवहार-क्षेत्र में लाने
...चेष्टा की जा रही है। फिर भी अभी तक इस पर
...ानों में मतैक्य नहीं। कुछ तो यह कहते हैं कि समाज-
...द के उत्पत्तिस्थान रूस में जैसा समाजवाद प्रचलित है,
...क वैसा ही समाजवाद भारत में होना चाहिए, तभी
...का उद्धार होगा। कुछ एकदम इसके विरुद्ध हैं। कुछ
...ो समाजवाद में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन करके उसे
...न के अनुकूल बनाना चाहते हैं। प्रस्तुत लेख में हम
... विषय पर स्वामी राम के विचार देना चाहते हैं, जो
...होंने आज से लगभग ३५ वर्ष पहले व्यक्त किये थे। स्वामी
... राजनीतिज्ञ नहीं थे। वे पूर्णतः अध्यात्म-परायण थे। उनका
...कहना था कि किसी भी देश की उन्नति के लिए आध्या-
...त्मिकता आवश्यक ही नहीं, वरन् सबसे पहली आवश्यकता
...। उनकी दृष्टि में देश के उत्थान-पतन का एक मात्र कारण
...की आत्मिक स्थिति होती है। अतएव ऐसे धर्म-प्राण
...पुरुष के विचार इस विषय पर हमारे लिए मननयोग्य होने
...चाहिए। वे कहते हैं—

"सम्पत्ति का बटवारा कृत्रिम, अस्वाभाविक तथा मनुष्य
...सहज स्थिति के सर्वथा प्रतिकूल है। सम्पत्ति का यह
...मान बटवारा मनुष्यों के विकास में बाधक है, यह सारे
...लोगों को उन्नति की दौड़ में एक समान आगे बढ़ने का
...अवसर प्रदान नहीं करता, साथ ही इसके कारण समान
...व्यक्तियों के परस्पर मेल-मिलाप में भी रुकावट पड़ती है।
...लिए समाज के इस अस्वाभाविक तत्त्व को हटा देना
...चाहिए। ठीक उसी प्रकार जैसे समय की प्रगति ने
...सीमित राज्यसत्ता के लिए पहले निरंकुश शासन को
...हटा दिया और बाद में जनतंत्र-राज्य-प्रणाली के लिए
...सीमित राज्य-सत्ता से भी किनारा किया। × × समाज-
वाद से यह शंका कभी न करना कि उसके कारण पारस्परिक
स्पर्द्धा का अन्त हो जायगा, प्रत्युत उसके द्वारा स्पर्द्धा
प्रत्येक दिशा में और भी तीव्र होगी। हाँ, समाजवाद के
क्षेत्र में जो पारस्परिक स्पर्द्धा होगी, वह सर्वथा स्पष्ट और
स्वाभाविक होगी।

"जिसे हम समाजवाद कहते हैं उसका सीधा-सादा अर्थ
है दुर्जनवाद का नाश—यहाँ तक उसके और वेदान्त के
उद्देश में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि वेदान्त भी मनुष्य को
सम्पूर्ण अधिकार-भावना के त्याग का आदेश देता है।
वेदान्त कहता है—पहले अपने हृदय से अपनी व्यक्तिगत
सम्पत्ति, धन-दौलत आदि का नामनिशान मिटा दो। यही
वेदान्त है, यही समाजवाद है, दोनों का उद्देश एक है।

"वेदान्त समानता की शिक्षा देता है, इसी प्रकार सच्चे
समाजवाद को भी बाह्य अधिकारों के प्रति किसी भी प्रकार का
आदर, श्रद्धा एवं प्रशंसा का भाव न रखना चाहिए। यह
बात सुनने में आपको बहुत ही कठोर, बहुत ही भयंकर
मालूम हो सकती है। किन्तु जब तक मनुष्य अपने हृदय
से सम्पत्ति, अधिकार और आसक्ति की भावनाओं को कतई
दूर नहीं कर देता तब तक इस भूमण्डल पर ढूंढे से भी कहीं
आनन्द का नाम नहीं मिल सकता। समाजवाद भावी सुख
की आशा पर लोगों से सम्पत्ति छोड़ने के लिए कहता है,
किन्तु वेदान्त इस त्याग के लिए एक महत्वपूर्ण हेतु
उपस्थित करता है। वास्तव में समाजवाद ने समाज का
केवल ऊपर ही ऊपर से अध्ययन किया है और इस निष्कर्ष
पर पहुँचा है कि मनुष्यों को भाई-भाई की तरह प्रेम और
समानता के आधार पर व्यवहार करना चाहिए। किन्तु
वेदान्त इसी समस्या का अन्तरंग रूप से, मनुष्य के सहज
स्वरूप की दृष्टि से अध्ययन करता है। वेदान्त के अनुसार
मनुष्य अपनी आत्मा, वास्तविक आत्मा के प्रति जो घोर से
घोर पाप कर सकता है वह है किसी व्यक्तिगत सम्पत्ति और
अधिकार की भावना का रखना। वेदान्त के अनुसार मनुष्य
को केवल देने का अधिकार है, लेने का नहीं। यदि तुम्हारे
पास और कोई वस्तु देने के लिए नहीं है तो अपना शरीर ही

प्रभु-दर्शन

[महात्मा शांतिप्रकाश जी, लखनऊ ।]

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मेऽपराम् प्रकृतिरष्टधा ।७-४
जीवभूताम् पराम् विद्धि ययेदं धार्यते जगत ।७-५

ये श्लोक 'आदि भगवद्गीता' से लिये गये हैं। यह 'आदि गीता' अभी हाल में ताड़-पत्र पर लिखी हुई 'बालि' द्वीप में और ताम्र-पत्र पर लिखी हुई यू० पी० के फर्रुखाबाद जिले में प्राप्त हुई है। इसमें केवल ८४ श्लोक हैं। इसके बहुत से श्लोक तो वर्तमान ७०० श्लोक वाली श्रीमद्भगवद्-गीता में ज्यों के त्यों हैं और कुछ में बहुत थोड़ा परिवर्तन है। उपर्युक्त श्लोकों में "अपराम्" और "पराविद्धि" शब्दों के स्थान में क्रमशः "भिन्न" और "महाबाहु" शब्द हैं। अब हम 'आदि गीता' के इन्हीं श्लोकों पर कुछ विवेचन करते हैं—

१—इसमें भगवान् की प्रकृति दो प्रकार की बतलाई गयी है—एक "अपरा" जो निम्न कोटि की है और दूसरी "परा" जो श्रेष्ठ कोटि की है। प्रकृति या स्वभाव किसी प्राणी या वस्तु विशेष का वह आन्तरिक गुण कहलाता है जो उससे कभी पृथक नहीं हो सकता और जिसके द्वारा वह पहचानी जाती है। जैसे गर्मी अग्नि की प्रकृति है अथवा शीतलता पानी का स्वाभाविक गुण है। जब हमारा किसी वस्तु के गुण से सम्पर्क होता है, तब हमें सहज ही उसका बोध हो जाता है अथवा जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उसके स्वाभाविक गुणों की सहज ही कल्पना कर लेते हैं। इसलिए यदि हम भगवान् की "अपरा" और "परा" प्रकृतियों को ठीक रूप में समझ लें, तो हमें उनके स्वरूप का साक्षात् भी आसानी से हो सकता है।

२—भगवान की "अपरा" अथवा निम्न प्रकृति ८ प्रकार की है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, और मन बुद्धि अहंकार। इनमें से प्रथम पांच तत्वों का तो हम प्रत्यक्ष [illegible]

[illegible]

हैं। भगवान् की परा प्रकृति इनसे परे है, [illegible] अध्यात्म कहते हैं।

आइये, पहले हम अपरा प्रकृति में प्रभु [illegible] करें। इसे प्राप्त करने के लिए हमें अपनी दृष्टि [illegible] करनी होगी। जब हमारा ध्यान पृथ्वी की ओर [illegible] हमें यह सोचना चाहिए कि हमारा प्रभु ही [illegible] हम सबको सम्भाले हुए है और वही सबका [illegible] जिस प्रकार पृथ्वी से निरन्तर गंध उठती रहती है [illegible] प्रकार ईश्वर के द्वारा आध्यात्मिक धारायें चारों ओर [illegible] रही हैं। जिन्होंने इस भाव का अनुभव किया है, [illegible] पृथ्वी की गंध के समान अपने प्रभु की भी सुगंध [illegible] है। ऐसे महापुरुष स्वयं भी अपने भीतर से [illegible] बिखेरने लगते हैं, चाहे वे अपने मुँह से एक भी शब्द [illegible] या न बोलें।

४—इसी प्रकार जब हमारा जल से सम्बन्ध हो, [illegible] हमें यह ध्यान करना चाहिए कि जल में जो [illegible] शान्ति-प्रदायनी शक्ति है, वह हमारे प्रभु का ही [illegible] है और वही जल रूप होकर हमें अपने मधुर [illegible] रसास्वादन का अवसर प्रदान कर रहा है। [illegible] ऐसे महात्माओं के सत्संग में पहुँच जाते हैं, [illegible] दिव्य शान्ति और दिव्य माधुर्य से हमारा [illegible] हृदय उसी प्रकार शान्त होने लगता है, जैसे [illegible] को पानी से शान्ति मिलती है।

५—जब हम अग्नि को देखें तब हमें ईश्वर के [illegible] प्रकाश (ज्ञान) और दिव्य जीवन का [illegible] चाहिए, क्योंकि अग्नि के प्रकाश से ही सब [illegible] पड़ते हैं और उसकी उष्णता ही तो जीवन [illegible] है। बस इसलिए हमें सब रूपों और [illegible] अपने प्रभु का दर्शन करना चाहिए। [illegible] यह सारा प्राकृतिक संसार और उसका [illegible] अनन्त और असीम स्वरूप का स्थूल प्रतीकरण है।

६— अब ईश्वर का वायु प्रकृति को [illegible] [illegible] गुण है [illegible]। और [illegible] का [illegible]

तत्त्व। इसी लिए जब हमारा ध्यान वायु की ओर जावे तब हमें समझना चाहिए कि संसार के सारे क्रिया-कलापों का यही एक मात्र कारण है। जिस प्रकार वायु उस दुर्गंध और सुगंध से जिन्हें वह दूर दूर ले जाती है स्वयं लिप्तायमान नहीं होती, ठीक उसी प्रकार हमारा प्रभु उन शुभाशुभ कर्मों से जो उसी के आश्रय से किये जाते हैं, लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसे फल की कामना नहीं होती, जैसा गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहता है—

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा"

फिर वायु का दूसरा गुण है स्पर्श। यही हमारे वैषयानन्दों की जड़ है, जिनके लिये आज हम इतने व्याकुल हो रहे हैं। किन्तु यह सुख तो वास्तव में प्रभु के उस परम सुख की, जो अनादि, अनन्त महानन्द है, छाया मात्र है। धन्य हैं वे पुरुष जो वायु-स्पर्श से इस महानन्द का मजा लूटते हैं।

७—आकाश सबसे सूक्ष्म और सर्वव्यापक तत्त्व है। जब हमारा ध्यान उसकी ओर जावे तब हमें परमात्मा की सूक्ष्मता और सर्वव्यापकत्व का अनुभव करना चाहिए। आकाश का प्रधान गुण है शब्द। इसलिए जब हम कोई शब्द सुनें, वह चाहे कैसा ही क्यों न हो, वर्णात्मक या ध्वन्यात्मक, मधुर अथवा कटु, संगीत या कोलाहल, उन सब में हमें अपने प्रभु की ही वाणी सुननी चाहिए।

८—आकाश से, जो बाह्य जगत् का आदिभौतिक कारण है, आगे बढ़कर हम अन्तरंग जगत् पर आते हैं। अन्तरंग में हमारा मन ही तो हमारे सारे संकल्पों का उद्गम है। जिस प्रकार हमारे मन से हमारे छोटे छोटे संकल्प निकलते हैं, उसी प्रकार प्रभु के मन से यह सारा ब्रह्माण्ड निकला हुआ है।

९—मन के आगे बुद्धि है। ईश्वर से सृष्टि केवल प्रकट ही नहीं हुई है, वरन् उसका धारण करने वाला भी केवल वही है। इसका पता हमें उस समय लगता है जब हम इस विश्व के तले एक 'सामञ्जस्य हाथ' देख लेते हैं। यदि हम उस सर्वव्यापक नियम को पूर्णतः नहीं समझते तो वह इसी कारण कि हम स्वयं अपनी बुद्धि के [illegible] अपने मन के मंडल में नहीं ला पाते [illegible] जब कभी हम अपनी बुद्धि के सहारे से चलते हैं तब हमें अपने प्रभु के व्यापक नियम का ध्यान करना चाहिए [illegible] सत्य रूप ही मिल जाता है।

१०—परमात्मा के द्वारा संसार का केवल स्पष्टीकरण और पालन-पोषण ही नहीं होता, वरन् यह संसार उसमें लय भी होता है। जिस प्रकार जन्म और पालन-पोषण के आगे मरण है, उसी प्रकार मन और बुद्धि के आगे अहंकार है। जब तक हम अपने क्षुद्र अहंकार के चक्कर में हैं, तब तक मानो मरण अथवा अवनतिशील हैं। जब इससे छूटे, जब इसका सम्पूर्णतया नाश हो गया, वहीं परमात्मा, ब्रह्म का साक्षात्कार है। यही मन, बुद्धि, अहंकार हिन्दुओं के त्रिविध दैवत्व का रूप है। इसीलिए धार्मिक रूपक की भाषा में हिन्दू परमात्मा को ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिपुटी में देखते हैं। और यही प्रकृति के सत्, रज, तम गुणों का मर्म है।

११—संक्षेप में ऊपर के श्लोकों में भगवान् की जो अष्टधा प्रकृति बतलाई गयी है, उसकी प्रथम पाँच कोटियाँ तो स्थूल, प्राकृतिक जगत् के पाँच तत्त्व हैं और शेष तीन कोटियाँ हमारे मानसिक जगत् की त्रिपुटी हैं। इनके सिवा हम जगत् में और जानते ही क्या हैं? यदि यही सचमुच ईश्वर की प्रकृति है और यदि हम सचमुच केवल मुख से नहीं, वरन् आचरण से इसमें अपने प्रभु के दर्शन करने लगें तो हमारा एक क्षण भी ऐसा नहीं जा सकता जब हम सीधे ईश्वर के सम्पर्क में न हों। जब हमें निरन्तर भगवान् की इस अपरा प्रकृति का अनुभव होने लगेगा तब हम उस परम जीवन से जो नित्य (अनादि), अविनाशी (अनन्त) और अप्रमेय (अपरिच्छिन्न) है और जिसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता के इन्हीं श्लोकों में और यहीं गीता के दूसरे अध्याय के १८ वें श्लोक में हुआ है, बहुत दूर नहीं रह सकते। यही जीवन भगवान् की परा प्रकृति है।

१२—बस, तात्पर्य यह कि सार्वभौमिक अनादि जीवन ही नाम और रूप के घेरे में व्यक्तिगत मनुष्य जीवन है। इसीलिए ज्यों ज्यों हमारे जीवन का विकास होता जाता है, त्यों त्यों हम सार्वभौमिक जीवन, ईश्वर, परमात्मा के समीप पहुँचते जाते हैं। दूसरे शब्दों में, व्यक्तिगत जीवन ही [illegible] है और सार्वभौमिक जीवन ही [illegible] है, ज्यों ज्यों [illegible]

उन्नति के लिए दुःख की आवश्यकता

[ब्रह्मलीन आर० एस० नारायण स्वामी]

लोग समझे बैठे हैं कि दुःख एक निकृष्ट, अति निकृष्ट वस्तु है जो शायद किसी मन्दभागी को ही प्राप्त हो सकती है। परन्तु जब विचार-दृष्टि से देखा जाय तो सिद्धान्त या परिणाम नितान्त उलटा ही निकलता दीखता है और कहना पड़ता है कि वे लोग बड़े ही मन्दभागी हैं, जिनको दुःख प्राप्त नहीं हुआ, या जो दुःख से डरने और उसे बुरा और निकृष्ट मानते हैं। क्योंकि जगत में दुःख ही एक वस्तु है, जो मनुष्य के हृदय में दहक उत्पन्न करके उसे संसार से निरासक्त या उपराम करती और उन्नति की ओर लगाती है। बिना दुःख के संसार में उन्नति होती दीखती नहीं। जिस मनुष्य या जाति को पहले दुःख मिला, उसी ने फिर सुख पाने का यत्न किया, वही वास्तव में सुख की अधिकारिणी हुई, और उसी के यहाँ सुख का सम्मान भी ठीक होता है, अन्य के यहाँ नहीं। क्योंकि जहाँ जिसकी आवश्यकता होती है, वहीं वास्तव में उसका आदर-सम्मान हुआ करता है, अन्य स्थान पर नहीं। जैसे भूखे पुरुष को पेट भरने की सूझती है, रजे हुए (तृप्त) पुरुष को नहीं, वैसे ही दुःखी, अशान्त और शोकातुर को सुख, शान्ति और प्रसन्नता पाने की सूझती है, सुखी, शान्त और प्रसन्नचित्त पुरुष को नहीं। हाँ, कभी-कभी इतनी समानता ऊपर से इनमें अवश्य दीखती है कि जो दुःखी, अशान्त और शोकातुर होता है, वह अपने दुःख, अशान्ति और शोक के निवारण के लिए यत्न करता है; और जो सुखी, शान्त तथा प्रसन्नचित्त हो जाता है वह प्रथम तो यत्न करता ही नहीं और यदि यत्न करता दीखता है तो दुःख, अशान्ति और शोक के निवारण निमित्त नहीं (क्योंकि वे तो उसके पहले ही दूर हुए होते हैं) किन्तु सुख, शान्ति और प्रसन्नता को स्थिर रखने के लिए यत्न करता है। अर्थात् एक (दुःखी, अशान्त और शोकातुर पुरुष) तो सुख, शान्ति और प्रसन्नता पाने की इच्छा से प्रेरित होकर दुःख, अशान्ति और शोक के निवारण-निमित्त यत्न करता है, और दूसरा (सुखी, शान्त और प्रसन्नचित्त पुरुष) प्राप्त हुए सुख शान्ति और प्रसन्नता को स्वाभाविक रूप से उनको सदा स्थिर रखने के लिये यत्न करता है। एक इच्छा का दास बन कर चेष्टा करता है और दूसरा किसी इच्छा का दास बन कर नहीं किन्तु स्वाभाविक चेष्टा करता है। इसलिए कहना है कि दुःखी और भूखे पुरुष को सुख पाने और पेट भरने की सूझती है, सुखी और तृप्त पुरुष को नहीं। भगवान् ने भी गीता में कहा है कि चार प्रकार के पुण्यात्मा पुरुष मेरा भजन करते हैं—पीड़ित (दुःखी), जिज्ञासु, अर्थ का अर्थी और ज्ञानी। इसमें भी तात्पर्य यही निकलता है कि पहले के तीन (दुःखी, जिज्ञासु और अर्थार्थी) तो सुख और अर्थ की इच्छा से प्रेरित होकर भगवान् का भजन करते हैं, और ज्ञानी केवल स्वभाव से ही भजन रूप चेष्टा करता है। पर इन चारों को भगवान् ने पुण्यात्मा जन अर्थात् पुण्यात्मा ही कहा है, पापात्मा नहीं। इस दुःखी पुरुष गीता में भी पुण्यात्मा कहा गया है, पापात्मा नहीं। इसलिए जो पुरुष मूढ़ हैं, वे दुःख को निकृष्ट वस्तु समझते हैं, विचारवान् पुरुष तो दुःख को उत्तम वस्तु और दुःखी को पुण्यात्मा और भाग्यवान् पुरुष ही समझते हैं, निकृष्ट वस्तु या पापात्मा अभाग्यवान् पुरुष नहीं।

दुःख की इस आवश्यकता को अमेरिका देश के प्रसिद्ध लेखक 'एमरसन' ने भी अपने उपदेशों में कुछ बड़े शब्दों में ऐसे लिखा है—"उच्च अवस्था में या स्वभाव की शुद्धि तथा उन्नति के लिए दुःख का आवश्यक है। जगत् में बड़े बड़े प्रसिद्ध पुरुष ऐसे हैं, जिन्होंने प्रथम अत्यन्त दुःख और कष्ट सहे फिर जगद्विख्यात गुरु, महात्मा और सुप्रसिद्ध मनुष्य हुए, बिना दुःख के कोई उत्तम आदर्श आचरण वाला सकता, बल्कि जगत्प्रसिद्ध (भगवान् रामचन्द्र, बुद्ध, ईसामसीह, और गुरु नानक इत्यादि) ऐसे महात्मा, महात्मा ही तब बने जब कि उन्होंने प्रथम आनन्द पूर्वक सहन किया। दुःख से दया, नम्रता, स्वार्थ त्याग या दानशीलता का भाव, आत्म वि आत्म-सम्मान और आचरण-बल उत्पन्न करता है।

र की आगे चलकर भी आवश्यकता होती है"।
न रूपी स्वर्ण की शुद्धि के लिए उसका दुःखों की
पकना (अर्थात् दुःखों में से गुज़रना) आवश्यक
लिक सिद्धान्त यह है कि जब दुःख अधिक से अधिक
मनस होना चाहिए कि ईश्वर-प्राप्ति (अर्थात्
साक्षात्कार) अत्यन्त निकट है (क्योंकि भारी दुःखों
र का अत्यन्त स्मरण स्वतः होने लगता है)।
द्धान्त को स्पष्ट रूप से दर्शाने के लिए वेदव्यास
गीता में सब से पहले अर्जुन-विषाद-योग नाम का
आरम्भ किया है; या यों कहा जाय कि यहीं
त श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में ही
रूप से दर्शाया गया है, जिससे उसका नाम अर्जुन-
योग पड़ा है। इस अध्याय के अन्त तक केवल
के शोक या दुःख ही दुःख का वर्णन हुआ है, जिस
सन्ताप के वशीभूत होने से अर्जुन का सब प्रकार का
दूर होता है यह अपने आप को निर्बल, दुःखी, अशान्त
अज्ञानी समझता हुआ आगे चलकर भगवान्
रन लेता है, उनका शिष्य बनता है और उनसे उप-
ने की प्रार्थना करता है, जिससे वह (इस दुःख के
) अपने आचरण से अपने आप को तत्त्वोपदेश का
ारी दर्शाता और सिद्ध करता है, और जिस अवस्था के
होने पर फिर उसे साक्षात् भगवान् के मुखारविन्द से
पदेश मिलता है। इस सारे वृत्तान्त से यही स्पष्ट
है कि उन्नति या ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में दुःख भी एक
आवश्यक अवस्था है, जिसका पाना और शान्ति
से उसे सहना पुरुष को उच्च तथा तत्त्वोपदेश
ोग्य बना देता है। बस, भारतवासियों को अपने तईं
यवान् समझना चाहिए कि उन पर हज़ारों वर्षों से दुःख
और आरहे हैं। जब भी दुःख पड़े, उनके नेत्र खुले
उनकी कुछ उन्नति होगई, और जब सुख ने मुँह
ाया, झट उन्हें निद्रा आ गई। आज कल तो हमारे विशेष
ाग्य के दिन हैं। क्योंकि क्या अमीर क्या गरीब क्या
ु क्या गृहस्थ, क्या बड़े क्या छोटे—सब के सब
को प्राप्त हो रहे हैं। यह धर्म-शास्त्र-सिद्ध नियम है
दुःख देने वाले का तो अपना नाश और दुःख पाने
के का नित्य कल्याण होता है। इसलिए जिन
यों ने भारतवासियों को दुःख दिये व अविरल दे रहे
दुःख दे, वे सब धन्यवाद के पात्र हैं और होने चाहिए

क्योंकि उन्होंने अपने ऐसे कर्मों से चाहे अपना तो बुरा
या नाश कर लिया पर भारतवासियों का तो अति कल्याण
किया और करेंगे। और इसी से वे भारतवासियों के तो
कल्याणदाता हुए और बनेंगे। यदि कैकेयी और रावण ने
श्रीरामचन्द्र जी को अत्यन्त दुःख न दिया होता तो श्रीराम
भगवान् को नित्य के लिए कीर्ति, यश और विजय प्राप्त न
होती, यदि श्रीप्रह्लाद को अपने धर्म-मार्ग में अपने अधर्मी
पिता से अत्यन्त कष्ट न मिलते तो आज प्रह्लाद के धर्म में
दृढ़ रहने के यश का डंका कैसे बजता, न वह स्वयं आज तक
इतना पूजा जाता, और न उसके अधर्मी पिता 'हिरण्य-
कशिपु' का साक्षात् भगवान् द्वारा नित्य के लिए नाश होता।
यदि श्रीकृष्णचन्द्र जी को बालकपन से ही अपने मामा
कंस से दुःख न मिलते तो उसका नित्य के लिए नाश और
श्रीकृष्णचन्द्र का प्रताप और यश आज तक बने न रहते,
और वे (भगवान् कृष्ण) अपने समय में भी सर्वोपरि
श्रेष्ठ और पूजनीय माने न जाते। यदि दुष्ट दुर्योधन ने
पांडवों को अत्यन्त कष्ट न दिये होते तो उसका सपरिवार
नाश, और पांडवों का यश, नाम, विजय और धर्म कैसे
बने रहते, और न यह अमूल्य गीता-रूप-रत्न संसार को
प्राप्त होता, और न पांडवों को श्री-विजय और कीर्ति प्राप्त
होती। यदि हज़रत ईसामसीह को अत्यन्त कष्ट न मिलते
तो न उनका अपना धार्मिक-दल दृढ़ और प्रभावशाली
होता और न वह आज तक करोड़ों के सिर पर राज्य करते
और न सारे संसार में पूजे जाते। यदि गुरु नानक
मीराबाई इत्यादि को अत्यन्त कष्ट न मिलते तो संभव नहीं
था कि वे उस पदवी को कदापि पाते जो आज उन्हें मिल
रही है। यदि औरंगज़ेब के हाथों हिन्दुओं को दुःख न
मिलता तो न हिन्दू जाति के नेत्र खुलते, न हिन्दू धर्म के
रक्षक शिवाजी और गुरु गोविंदसिंह जी प्रकट होते।
यदि गुरु गोविंदसिंह जी को औरंगज़ेब के हाथों कष्ट न
मिलते और उनके बच्चे मारे न जाते तो न गुरु जी का
धार्मिक बल दृढ़ होता और न उनको वह यश और प्रताप
प्राप्त होता जो आज उन्हें प्राप्त हो रहा है।

यदि स्वामी दयानन्द जी को दुःख न दिया जाता तो
न उनका अपना मिशन और धार्मिक दल वृद्धि पाता और
न उनका उद्देश्य इतना भारतवर्ष में फैलता। यदि
आधुनिक काल में श्रीयुत बालगंगाधर तिलक तथा महात्मा
गाँधी को अत्यन्त दुःख न मिलते तो भारतवर्ष के

कोने कोने में जो "तिलक महाराज की जै, गाँधी महराज की जै" हो रही है, कभी न होती, न ये कदापि इस यश और कीर्ति को प्राप्त होते, न उनके उपदेशों का किञ्चित प्रभाव भारतवासियों पर पड़ता, और न कोटिशः प्राणी नाना प्रकार के राजकीय बंधन होने पर भी उनके चरणों पर गिरने के लिए उद्यत होते। यह सब दुःख का ही प्रताप है जिससे उक्त पुरुषों को यह महान बल, विजय, कीर्ति और यश प्राप्त हुआ और हो रहा है, इसलिए दुःख प्राणिमात्र की उन्नति और विजय के मार्ग में पहली उपयोगी और आवश्यक अवस्था या मंज़िल है। पस, गीता के प्रथम अध्याय से पुरुष को यह उपदेश मिलता है कि (१) वह पुरुष धन्य है जिसको अर्जुन के समान दुःख मिले, (२) दुःख के प्राप्त होने पर चित्त में विकल न होना चाहिए किन्तु अर्जुन के समान घमंड रहित होकर साक्षात् [illegible] महात्मा के शरण में जाना चाहिए। इस [illegible] या महात्मा के शरणागत होकर उनसे [illegible] निवारण-निमित्त उपाय या साधन पूछे [illegible] साधनों का उपदेश मिलने पर उस पर पूर्ण [illegible] श्रद्धा रखते हुए उस उपदेश को अपने [illegible] चाहिए। इस प्रकार महात्माओं के [illegible] निवृत्ति का यत्न करना चाहिए। (३) दुःख [illegible] अपने आपको अभागी नहीं किन्तु उत्तम [illegible] होना चाहिए और (४) अन्त में दुःख [illegible] धन्यवाद देना चाहिए, [illegible]

—लेखक की अप्रकाशित भगवद्गीता [illegible]

चाह

[साहित्य-रत्न श्रीभगवती लाल वर्मा "पुष्प" काशी।]

(१)

चाह यही नित दीनन के ढिग—
वास करूँ, अपनाऊँ उन्हें।
अन्त की वे घड़ियाँ उनके ही—
समान बिताऊँ, सिखाऊँ उन्हें॥
अज्ञान के तम-कूप में भीत के—
कर्म की भूमि में लाऊँ उन्हें।
और निशा पर आश्रय का—
प्रकाश की याद दिलाऊँ उन्हें॥

(२)

वैभव के कुत्सलोभनों में न पड़ूँ—
नित दूर भगाऊँ [illegible]
स्वारथ के घन घेरें जहाँ—
बन रूप समीर उड़ाऊँ [illegible]
गर्व-गुमान महामद आवें तो—
मर्दि के गर्द मिलाऊँ [illegible]
आपद-मग्न भयाकुल के मन—
आपद मेटूँ, उबारूँ [illegible]

(३)

'आहें' सिनो में दुखी जन के—
नित 'आहें' रहूँ, न भुलाऊँ उन्हें।
दुर्गुण, दैन्य, दुराशा-दुखादि—
दूरी, सुख-शान्ति दिखाऊँ उन्हें॥
[illegible] की [illegible] रह—
[illegible] हो [illegible] पढ़ाऊँ उन्हें
[illegible] के [illegible] के—
[illegible] की [illegible] उन्हें॥

...ति का उपादान हो। अग्नि तत्व से विशिष्ट होकर सोम ...त्व ही शरीर, इन्द्रिय, जल, पृथ्वी, आदि नाना रूपों में ...रिणत हो जाता है। कहीं कहीं अग्नि तथा सोम देवता ...ये ही पुरुष प्रकृति और पुमान् योषित रूप से भी कहा ...। जो कुछ हम जानते हैं, सुनते हैं, देखते हैं, यह सब ...न्हीं अग्नि सोम देवताओं के संयोग से हुआ है। पिंड ...या ब्रह्मांड भी इन्हीं दो से बना है। एक ही ब्रह्म अग्नि ...मि होकर जगदात्मा हुआ है। इसीलिए कहा जाता है— "अग्नी षोमात्मकं जगत्"।

आदित्य विम्ब का केन्द्रस्थल ब्रह्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म "अणोरणीयान्" स्वरूप है तथा समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म का ...है मे यहा 'महतो महीयान्' रूप है। उसी का नाम ...विष्णु है, यही सर्व व्यापक है। उसके उदर में समस्त ...गत है। जिस प्रकार अति सूक्ष्म वट-बीज में उतने बड़े ...ट वृक्ष का समावेश है, वैसे ही उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म ...में सारा ब्रह्माण्ड भरा हुआ है। उसका अन्वेषण करना ...चाहिए।

ब्रह्माण्ड में भूः, भुवः, स्वः—ये तीन लोक हैं। स्थूल ...भूलोक यही है जहाँ हम लोग रहते हैं। हमारे और ...सूर्य के बीच में सूक्ष्म अन्तरिक्ष नाम का भुवर्लोक है। ...सूर्य विम्ब को स्वर्लोक कहते हैं। निरुक्त के मत में अग्नि, ...वायु, आदित्य—ये तीन देवता हैं। इन्हीं से तीनों लोकों की ...चना तथा इन्हीं के सत्त्व से तीनों लोकों की स्थिति, ...विकृति होती है। इन्हीं में और सबका अन्तर्भाव है। भग-...वान् यास्क ने निरुक्त के दैवत् काण्ड में कहा है कि "तिस्र ...एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्नि पृथिवी स्थानो वायुर्वा ...इन्द्रोवान्तरिक्ष स्थानः सूर्योद्युस्थानस्तासां माहाभाग्यादे-...कैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति" इत्यादि। इसमें ...अग्नि पद से पार्थिव अग्नि लेना है, क्योंकि यह पार्थिव ...पदार्थों में आसानी से उपलब्ध होता है। इसीसे यह ...पृथ्वी का स्थानीय देव कहलाता है। यावद् वस्तु में जो ...केन (अंग्रेजी में थाइनेशन) होता है, यावद् वस्तुओं ...की जो स्थिति है वह सब अग्नि के ही कार्य हैं।

वायु और इन्द्र (विद्युत) एकही तत्त्व हैं। दोनों के कार्य एकही देवता के अधीन हैं। विद्युच्छक्ति का ... सर्वत्र होने पर भी उसकी राजधानी अन्तरिक्ष में ही है, इससे वह अन्तरिक्ष स्थानीय देवता कहलाता है।

सर्वोत्तम देवता द्युस्थानवासी सूर्य है। जिसके बल से समस्त ब्रह्माण्ड विधृत होता है। जो प्राणशक्ति का पिण्ड और ज्ञानशक्ति का कोष है।

वेद में इन्हीं तीन देवताओं के सारतत्त्व को ऋग्यजुः-साम शब्दों से कहा गया है। अग्नि का सारभाग ऋग्, वायु देवता का सारभाग यजुः और साम शब्द का अर्थ सूर्य का सार भाग है। सन्निहित अग्निदेवता की ऋषियों ने पद्यमय छन्दों में स्तुति की है। इससे उन पद्यों को ऋक् कहते हैं। उन पद्यों के संग्रह स्वरूप संहिता को ऋग्वेद कहते हैं। अन्तरिक्ष स्थानीय वायुदेव की स्तुति उनकी गति अटपटी टेढ़ीमेढ़ी होने से गद्य में की गयी। उन गद्य मंत्रों को यजुः कहते हैं। सूर्यदेव द्युस्थान में हमसे बहुत दूर पर रहते हैं, इसलिये उन्हीं मन्त्रों को उच्चस्वर से गाकर ऋषियों ने सूर्यदेव की स्तुति की, जिससे उन गेय ऋग्मन्त्रों की साम संज्ञा हुई। एवं ऋग्यजुःसामत्रयी अग्नि-वायु-आदित्य देवताओं के सारभाग से हुई। इसी से छान्दोग्यश्रुति में "एतासिमो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाᳪ रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूᳪषि सामान्यादित्यात्" अग्नि आदि देवताओं के रस दोहन से ऋग् आदि की उत्पत्ति कही गई है। मनुजी ने भी लिखा है कि—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥

विद्वानों से नम्र निवेदन यह है कि हम इस प्रकार मूलतत्त्व की वास्तविक मीमांसा द्वारा स्थिरलक्ष्य हो जायँ और इसके द्वारा अस्थिर लक्ष्य वाले भूले भटकों को सद्धर्म मार्ग का अनुगामी बनावें।

यदि हम सब विचार कर यथार्थ तत्त्व का विशद विवेचन कर लेंगे तो हमको मूर्तिपूजा, श्राद्ध, नामस्मरण, भजनकीर्तन आदि विषयों पर कभी शंका न होगी और न इन विषयों पर व्यर्थ वादविवाद करने का कुअवसर ही प्राप्त होगा। इस तरह के निश्चित सिद्धान्त से हर एक को लाभ होगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

आधुनिक हिन्दू-धर्म

[श्रीरामेश्वरसहाय सिंह]

किसी राष्ट्र के निर्माण तथा उत्थान में राजनीति की अपेक्षा धर्म को कम महत्त्व कदापि नहीं दिया जा सकता। गृह-विधान, अंतर्राष्ट्रीय विधान आदि राष्ट्र के निर्माण तथा उत्थान के अनेक अंगों की गुत्थियां राजनीति-द्वारा सुलझाई जाती हैं—इसमें संदेह नहीं। परन्तु जन-समुदाय को, जो राष्ट्र का जीवन है, उचित मार्ग पर लाने, सभ्य-शिष्ट बनाने तथा उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में जितना सहायक धर्म होता है, उतनी राजनीति नहीं।

भारतवर्ष धर्म-प्राण देश है। यहाँ प्रत्येक प्राणी की प्रात: से सायंकाल तक की सभी क्रियाओं में धार्मिकता का परिपाक रहा करता है। सत्य-भाषण, सदाचार, अतिथि-सेवा, दीन-दुखियों के प्रति दया-भाव आदि अनेक धर्म-कार्य हिन्दुओं के प्रधान कर्त्तव्य माने गये हैं। सदाचार-रक्षा, उचितानुचित ज्ञान तथा सत्यासत्य-निर्णयादि के लिए मनुष्य को अपने आगे एक आदर्श रखना पड़ता है। हमारे आदर्श होते हैं स्वयम् श्रीराम, कृष्ण, शिव, महावीर आदि। परमेश्वर के इन अवतारों की जीवन-लीला से उदाहरण निकाल कर हम पग-पग पर अपने जीवन की घटनाओं को साँधते रहते हैं। यही कारण है कि भगवद्भक्ति हिन्दू-धर्म का प्रधान अंग है। इसीलिए भगवद्भक्ति का प्रभाव हिन्दू-जीवन पर इतना गहरा पड़ा है कि पूजा-पाठ, जप-तप के साथ ही साथ मनोरंजन में भी, जो मानव-जीवन के लिए अनुपयोगी और अनावश्यक है, इसका सम्मिश्रण रहा करता है। दैनिक कार्यों को पूर्ण कर लोग राम-चर्चा, हरि-कीर्तन आदि में शेष समय बिताते हैं। कहाँ तक कहा जाय, मेरे जान कोई भी हिन्दू-गृह रामायण, सुखसागर, प्रेम-सागर से खाली न होगा। इतना ही नहीं, क्रियात्मक मनोरंजन के लिए भी रामलीला, श्रीकृष्ण-लीला आदि का भी उद्घाटन होता रहता है। प्रान्त-प्रान्त में, नगर-नगर में, गाँव-गाँव में, मुहल्ले-मुहल्ले में अर्थात् भारतवर्ष के कोने-कोने में श्रीरामलीला होती है।

प्राचीन भारत के इतिहास का मनन कर हम देख लेते हैं कि राज्य विधान के धर्माधीन होने के ही कारण वह समय 'स्वर्ग-युग' के नाम से प्रसिद्ध था। 'धर्मराज्य' का पाठ पढ़ने वाले हिन्दुओं का अस्तित्व अनेक आपदाओं और विघ्न-बाधाओं के होने पर भी ... पतन जो हम भारत के मध्य-कालीन ... पढ़ते हैं, उसका प्रधान कारण धर्मभ्रष्ट होना ... भारतवर्ष यही है। आज भी भारत के मूल निवासी ... ही कहलाते हैं। पर, परिवर्तन के प्रभाव से आज ... भारत-सपूत कहाँ से कहाँ आ गये हैं, यह सबको विदित ... सभी अपनी अवनति, दरिद्रता, अशिक्षा, दासता ... रक्त के आँसू बहाते हैं। परन्तु कोई भी ध्यान ... कि इस प्रकार उनके पतित तथा पर- ... क्या है? इतने पुष्ट धर्मावलंबी अवनत क्यों हुए?

हिन्दुओं के इस ह्रास का उत्तरदायित्व ... है। धर्म को सदोष कहने वाले ही जान सकते ... जानते हैं कि उनके इस कथन में ... जान धर्म अब भी पूर्ववत् पवित्र, निर्दोष तथा ... है। हाँ, इतना अवश्य मान्य है कि यथार्थता के ... अनावश्यक दोष भी धार्मिक क्रियाओं में उत्पन्न हो ... पर, केवल उन दोषों को हटा कर संतुष्ट होने के ... धर्म का ही अंत कर देना ऐसा है, जैसा रोगी के ... दूर करने के लिए उसे विष देकर मार डालना।

धार्मिक दृष्टि से हिन्दू-जाति के पतन का ... मुझे यही जान पड़ता है कि धर्म अब हिन्दुओं के ... क्रियात्मक सामग्री नहीं रहा; वरन् चारों ओर केवल ... चर्चा ही चर्चा होती है। धर्म की मिथ्या दुहाई ... के दुर्व्यवहार का ही परिणाम है कि एक अछूत ... हिन्दू है, जीवन-पर्यन्त केवल इसीलिए अपने ... को कोसता रहता है कि उसका जन्म ऐसे घर में ... उसका संबंध ऐसे समाज से है, जिसकी दृष्टि ... जीवन, व्यक्तित्व, और मनुष्यत्व का कोई मूल्य ... निस्सन्देह उसके पूर्वज 'निषाद' को केवल राम-चरण ... तथा राम-भक्त होने से धर्मावतार गुरु वशिष्ठ ने ... हृदय से लगा लिया था। निस्सन्देह उसकी पूर्वजा ...

यहाँ की राम-भक्तों में अनुष्ठानन मात्र है। आज
तिलक और सेवा की डींग मारने वाले धर्मात्मा हिन्दू
र्ग में किसी घायल को देखकर तनिक भी नहीं पिघलते।
नमें उनके धर्म का इतना प्रभाव कहाँ कि वे उसे उठाकर
स्पताल पहुँचावें। एक भूखे भिखमंगे को दुराचार
हकर दुतकारने वाले एक मुट्ठी अन्न देने वालों की
पेक्षा कहीं अधिक पाये जाते हैं। यदि हिन्दुओं से
छ पूछा जाय कि श्री राम-लीला और श्री कृष्ण-लीला
 कितने लोगों ने आज्ञा-पालन, सहोदर-स्नेह, अत्याचार-
मन, दुष्ट-दमन, दुर्शासन-नाश, धर्म-संस्थापन आदि के
ाठ सीखे तथा उनसे शिक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को
र्मयोगी बनाया है, तो मेरा विश्वास है कि एक भी
न्दू सचाई से उत्तर नहीं दे सकता। सीता की खोज में
ुद्र लाँघने वाले, लक्ष्मण के जीवन-रक्षार्थ पर्वत उठा लाने
ाले अखण्ड ब्रह्मचारी श्री हनुमानजी के उपासक हिन्दू
ीन दृढ़ की गठरी अपने सर पर धर नदी-नार उनके
र तक पहुँचाते हुए देखे जाते हैं? क्या उनको ब्रह्मचर्य
े महत्व का कुछ भी ज्ञान है? बस, अब तो धर्म केवल
र्व, उदर-पोषण और दूसरों की आँखों में धूल झोंकने का
ाधन-मात्र रह गया है। तब ऐसे धर्मान्धों का पतन-
र्त में गिरना कोई आश्चर्य की बात नहीं!

तनिक यूरोपीय राष्ट्रों की ओर भी दृष्टि-पात कीजिये।
हाँ नैतिकता का प्रचार है। समस्त मानव एक दूसरे से
निर्बद्ध अपने-अपने कार्य में लगे रहते हैं। उनके धार्मिक
विचार भारतीय धार्मिक विचारों से भिन्न हैं। एक-दूसरे
ी असंबद्ध होने के कारण सहानुभूति आदि का, जो मनुष्यों
ा प्रधान कर्तव्य माना जाता है, उन पर कोई क्रियात्मक
भाव नहीं पड़ता। वे 'स्व' संबंधी बातों को ही सर्वाधिक
हत्व देते हैं। स्वार्थ-परता, धनोपार्जन आदि उनके
ुख्य उद्देश्य हैं, उनकी पूर्ति में वे अपना तन-मन-धन
गा देते हैं। पर प्रश्न यह उठता है कि मनुष्यों में इस
निरपेक्षता जन-समुदाय इतना उन्नत और समृद्धि-
ाली क्यों है? सब बुद्धि रखने वाले इस बात को मान
मानते हैं कि सद्गुण ही उन्नति की ओर और दुर्गुण ही
अवनति की ओर ले जाते हैं। यूरोपीय जन-समुदाय में एक
विशेषता है। उसी के भरोसे वे आज इतने उन्नत हुए हैं।
उनके सिद्धान्त तथा विचार केवल भावात्मक ही
नहीं, वरन् क्रियात्मक होते हैं। वे जो कुछ सोच लेते हैं
उसे पूरा करते हैं। यही कारण है कि वे अनेक वैज्ञानिक
आविष्कारों के स्रष्टा और वैभव के अधिकारी हैं। क्रिया-
त्मक दृढ़ता उनमें इस प्रकार कूट-कूट कर भरी हुई है कि
कठिन-से-कठिन कार्य भी उनके लिए बायें हाथ के खेल हो
जाते हैं। समुद्र-यात्रा, वाणिज्य, शासन, स्वतंत्रता, उन्नति
आदि सभी उनके लिए सहज हैं। यूरोपीय राष्ट्रों में एक
मोची को भी समाज में उतना ही आदर और वही स्थान
मिलता है जो किसी एक धनी-मानी महापुरुष को। मुझे
विश्वास नहीं हो सकता कि कोई यूरोपीय किसी प्राणी को
पानी में डूबते देख कर उपेक्षा करके चला जा सकता है।
वह अवश्य उसकी सहायता करेगा। ऐसा करने के लिए वह
किसी विधान से बाध्य नहीं होता। यह उसके आत्मबल,
क्रियात्मक प्रवृत्ति की प्रेरणा होती है।

फलतः हमें मानना ही पड़ता है कि 'क्रियात्मक प्रवृत्ति'
की तुलना में 'भावात्मक प्रवृत्ति' का कोई स्थान ही नहीं है।
पर, स्मरण रहे कि 'भावात्मक प्रवृत्ति' व्यर्थ या त्याज्य
नहीं है। वस्तुतः 'भावात्मक प्रवृत्ति' ही 'क्रियात्मक प्रवृत्ति'
को जन्म तथा प्रोत्साहन देने वाली है। मानव जीवन की
सफलता के लिए दोनों ही अनिवार्य साधन हैं। तात्पर्य यह है
कि हिन्दुओं को धर्म के क्रियात्मक स्वरूप का अनुशीलन
करना चाहिए। यदि प्रत्येक हिन्दू सचाई और दृढ़ता से
अपने धर्म पर अमल करने का प्रण कर ले तो वह समय
दूर नहीं, जब राम की धीरता, कृष्ण का ज्ञान, भरत का
बंधुत्व, ध्रुव की तपस्या, प्रह्लाद की भक्ति, नारद की
समाज-सेवा, कर्ण का दान-वित्त, हरिश्चन्द्र का सत्य—
ये सब गुण स्वयं उसमें विद्यमान होंगे, और 'राम-राज्य'
पुनः जागृत होकर ही रहेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

वैज्ञानिक धर्म

[श्रीभगवानदास जी]

धर्म और धर्म के बीच, विज्ञान और धर्म के बीच जो अभी तक एक प्रकार का संघर्ष चल रहा है, उसके स्थान में एकता की चेष्टा, एकता की सिद्धि, और एकता की प्रतिष्ठा होने से संसार में एक ऐसे नूतन और श्रेयस्कर युग का सूत्रपात होगा, जो वैज्ञानिक धर्म और धार्मिक विज्ञान के अधीन बराबर उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता जायगा।

लक्षण बहुत ही आशाप्रद हैं। विज्ञान और विज्ञान के बीच, विज्ञान और धर्म के बीच, धर्म और धर्म के बीच जो कृत्रिम दीवारें खड़ी की गई थीं, वे सब धीरे धीरे टूटती जा रही हैं। सभी विद्वान अब यह कहने और मानने लगे हैं कि विज्ञान अनेक नहीं, वरन् एक है। इसीलिए हम यह आशा करते हैं कि इसी पूर्ण रूप से समन्वित एक विज्ञान की सहायता से अब वह दिन दूर नहीं है, जब यह भी स्वीकार किया जायगा कि धर्म बहुत से नहीं हो सकते, क्योंकि धर्म एक है। और अन्त में मो हम यह आशा करते हैं कि धर्म और विज्ञान सत्य के उस चिरन्तन और विशाल समुद्र के दो विभिन्न पहलू, अथवा दो विभिन्न नाम होंगे। इसी सत्य को व्यवहार में लाने का नाम होगा जीवन का विज्ञान अथवा जीवन का शास्त्र। यदि पहले हमारा प्रत्येक कार्य धर्म के नाम पर और उसकी अधीनता में होता था और जो इधर विज्ञान के नाम से होने लगा था, तो उपर्युक्त भावी एकता के बल पर, आशा है कि अब वह आध्यात्मिक अथवा धार्मिक विज्ञान के नाम से किया जायगा।

इतिहास से हमें यह ज्ञात होता है कि संसार में विभिन्न नये-नये धर्म और उनकी विशेष विशेष पद्धतियाँ साथ ही साथ प्रकट हुईं और साथ ही साथ नाश को प्राप्त हुई हैं। हम इन दोनों में कार्य-कारण स्थापित कर सकते हैं। किन्तु जिसे हम किसी नये धर्म का जन्म समझते रहे हैं, वह वास्तव में कोई नई बात नहीं होती, वरन् उसी चिरन्तन सत्य की नई घोषणा है, जो घोषणा करने वाले के अलौकिक व्यक्तित्व, स्फूर्ति, दैवी उत्साह, ईश्वर-तन्मयता, तप-स्या उसके दूसरों को बताने वाले उदाहरण से सजीव हो उठती है। यह नये शब्दों में घोषणा होती है, जिससे अनादि और आवश्यक सत्य धर्म को नया जीवन मिलता है। संसार में समय समय पर इस प्रकार की घोषणाओं की आवश्यकता इसलिए होती है कि काल के प्रभाव से पहले की घोषणा आच्छादित हो जाती है और उससे अनावश्यक, निर्जीव, और हानिकारक रूप-रेखा को काट कर बाहर कर देना हमें बड़ा कठिन हो जाता है।

वर्तमान काल के लिए हमें एक ऐसी ही नूतन घोषणा की आवश्यकता प्रतीत होती है और इसीलिए हम कहते हैं कि वह संभवतः वैज्ञानिक धर्म के रूप में सामने आयगी। लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह घोषणा किसी व्यक्ति विशेष की प्रेरणा द्वारा प्रकट नहीं होगी, वरन् वह समाजवाद और अनतंत्रवाद का रूप धारण करेगी। जिस प्रकार हम इस विशाल संसार के अन्य विभागों में मानव जाति की एकता, मानव

लोकोत्तर आत्मा को स्वीकार करने लगे हैं, उन्हीं प्रकार नूतन घोषणा—वैज्ञानिक धर्म की घोषणा भी हमें धीरे ो, थोड़े-थोड़े परिमाण में और अधिकांश अज्ञाततः वैज्ञा- क और धार्मिक विचारकों के विशाल समुदाय के द्वारा ती हुई दिखाई दे रही है। यद्यपि इस वैज्ञानिक धर्म का ई एक प्रवर्तक नहीं हो सकता, फिर भी सभी जनतंत्री- क संस्थाओं की तरह इसके संचालन के लिए कुछ नेता ो और कुछ अभी से उसके लिए उद्योग कर रहे हैं।

पाश्चात्य देशों में बहुत से वैज्ञानिक अन्तर्जगत के वेषण में लगे हुए हैं। सर ओलीवर लोज वैज्ञानिक त में संसार-व्यापी ख्याति के वैज्ञानिक थे। उन्होंने क जगह कहा है—

एक ऐसा समय निश्चित रूप से आयगा, जब इस ात जगत के मार्गों की खोज के लिए विज्ञान अग्रसर होगा। कुछ लोगों के विचार से अब ऐसा समय ुत ही समीप आ गया है। वास्तव में यह ब्रह्माण्ड उस कहीं अधिक आध्यात्मिक तथ्य है जितना कि पहले हम सोचा था। वास्तविक तथ्य तो यही है कि हम आज उस आध्यात्मिक जगत में रहते हैं, जो हमारे भौतिक त पर शासन करता है। इस भौतिक जगत के पीछे क विराट और चिरन्तन तत्व है, जिसकी शक्तियों का हम ीं बहुत ही स्वल्प मात्रा में अनुभव करते हैं। इस न्तर्जगत की शक्तियां हमारे लिए भयप्रद हो सकती हैं न्तु जब हमें यह विश्वास हो कि ये सारी प्रबल और अमोघ क्तियां एक सर्वश्रेष्ठ पितृ जैसी दयामय शक्ति की अनु- र्तिनी हैं तब हमें सन्तोष हुए बिना नहीं रह सकता। से हम चाहे जो नाम दें किन्तु यह है प्रेम और प्रेममय।

आधुनिक जीवित वैज्ञानिकों में से भी कुछ के ऐसे ही चार हैं। एलबर्ट इन्स्टीन, जो संसारव्यापी ख्याति के ज्ञानिक हैं, एक जगह लिखते हैं—मैं ईश्वर में विश्वास रता हूँ। वह इस संसार के एक नियमबद्ध सामंजस्य में पने आपको सर्वत्र प्रकट कर रहा है। मेरा विश्वास है कि वह ज्ञानमय प्रकृति में सर्वत्र व्यक्त हो रहा है। वैज्ञानिक शोध का एकमात्र आधार ही यह विश्वास हो सकता है कि यह भौतिक जगत एक नियमबद्ध और विचारगम्य तत्व है। इसे एक अकारण घटना मान लेने से हमारा काम नहीं चल सकता।

सर आर्थर एस० एडिंगटन (केम्ब्रिज) कहते हैं—प्राचीन अनीश्वरवाद के दिन अब गये......धर्म मन और आत्मा के साम्राज्य के लिए आवश्यक है—अब यह विचार किसी प्रकार हटाया नहीं जा सकता।

इस प्रकार आधुनिक विज्ञान, जिसने योरप के धार्मिक क्षेत्र में जन्म लिया था और जो अपने यौवनकाल में उसी धर्म का कोप-भाजन हुआ था, आज अपने उपकार का बदला चुका रहा है। यह अब उसका घातक नहीं, वरन् साधक है। विज्ञान के द्वारा धर्म को जो स्फूर्ति मिलेगी, उससे हमें आशा होती है कि वह और उज्ज्वल, वैज्ञानिक एवं अन्ध-विश्वास-हीन बुद्धिगम्य रूप में हमारे सामने आयगा।

विज्ञान और धर्म के बीच की दीवार टूट जाने से, वैज्ञानिक विचारों के परिणाम से वह समय शीघ्र आयगा, जब धर्म और धर्म के बीच कोई भी दीवार, कोई भेद न रहेगा। तब यह संभव होगा कि ये सारी कृत्रिम सीमायें जो अभी एक देश को दूसरे से पृथक कर रही हैं, अपने आप नष्ट हो जायं। विचार और हृदय के ये बंधन जो आज एक राष्ट्र को दूसरे से पृथक कर रहे हैं, अपने आप टूट जायं। तब संसार में उस नयी सभ्यता का उदय संभव होगा, जिसकी कवियों और समाज-वादियों ने कल्पना की है, जिस आदर्श को मनु ने व्यावहारिक रूप दिया है। तब संसार में मनुष्य मात्र की पंचायत का जन्म होगा, और वही संसार का संघ होगा। समस्त मानव जाति एक विशाल सम्मिलित परिवार के रूप में संगठित होगी और उसमें सब मनुष्य होंगे परस्पर भाई-भाई।

[अनुवादक—श्री आनन्द

क्या गद्दीधारी वेदान्त का व्यवहार करते हैं ?

[श्री विजय वर्मा, भूतपूर्व सम्पादक 'माया', 'सहेली' और 'लीला']

कल मैं प्रयाग के एक प्रसिद्ध पुस्तकालय में बैठा हुआ 'कान्ट' की पुस्तक शुद्ध विवेक की 'कसौटी' पढ़ रहा था। उसी समय एक नवयुवक मित्र ने 'निट्शे' की एक पुस्तक खोलकर मेरे सामने रखदी और कहा—इसे पढ़िए। अब इसी का समय है और किसी दर्शन शास्त्र का नहीं। निट्शे ने लड़ाई अनिवार्य बतलाई थी और मानव स्वभाव के सर्वथा अनुकूल। उन्हीं का कहना सच है, यह हम देख ही रहे हैं। कान्ट तो अव्यावहारिक वेदान्तियों की तरह एक सनकी है। उसे आप क्या पढ़ते हैं ? मैंने हँसकर उस पृष्ठ पर दृष्टि डाली, जो उन्होंने मेरे सामने खोल कर रखा था। जिन पंक्तियों को मैंने देखा, उन का आशय था—'ईसा ने अपने पड़ोसी से प्रेम करने कहा है। मैं कहता हूं यह भारी भूल है। ईसा ने दीन-हीन लोगों पर दया दिखाने को कहा है, मैं कहता हूं यह अस्वाभाविक है। उन्हें कुचल दो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।' मैं सिहर उठा। उठ कर खड़ा हो गया। आज जब 'व्यावहारिक वेदान्त' के लिए मैं लेख लिखने बैठा तो कल की यह घटना ज्यों की त्यों मेरे सामने आ गयी और मैं उसे बिना लिखे नहीं रह सका। इसका कारण यही है कि चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर मुझे अपने को वेदान्ती कहने वालों में से अधिकांश 'निट्शे' के ही अनुयायी जान पड़ते हैं—किन्तु फिर भी इनमें और निट्शे के अनुयायियों में एक विशेष अन्तर है। ये कमजोर को कुचलते हैं और जिसे सबल समझे बैठे हैं उसकी खुशामद में कुछ उठा नहीं रखते। हमारे गद्दीधारी महन्त इसके सुन्दर उदाहरण हैं। ये कचहरियों के अमलों, मजिस्ट्रेटों, सरकारी नौकरों की एक सी चाकरी करते हैं और अपना सारा वेदान्त उनके चरणों पर समर्पित कर देते हैं, किन्तु अपने चेलों और चेलियों के साथ और विशेषत उन दीन-हीन लोगों के साथ जो केवल अन्ध विश्वास से इन्हें तरह तरह के दुखों से छुड़ाने वाला समझ कर उनकी शरण में आते हैं, उनका व्यवहार निट्शे की शिक्षा से भी बदतर शिक्षा के अनुसार होता है। ऐसा क्यों है ? केवल इसलिए कि उनमें वेदान्त का व्यावहारिक जीवन में लाने की न तो इच्छा है न शक्ति। नहीं तो, वेदान्त से बढ़कर क्या हो सकता है? सच्ची मानवता का विकास और उसे बहुत कुछ ... वाला है।

प्रसिद्ध लेखक एडाल्डस हक्सले ने अपने ... 'साध्य और साधन' 'Ends & Means' में ... है—'Charity cannot progress ... Universality unless the prevailing cosmology is either monotheistic or pantheistic—unless there is a general belief that all men are 'sons of God' or in Indian phrase, 'Thou art That' Tat twam asi.'

हमारे भीतर जो एक दया और दान का भाव है, उस समय तक सार्वभौम नहीं हो सकता, जब तक ... यह स्वीकार नहीं करते कि इस सारे ब्रह्माण्ड का ... एक ही ईश्वर से हुआ है अथवा यह कि एक ही ब्रह्म ... सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है। जब तक ... लोगों में भी यह विश्वास, यह निश्चय घर नहीं कर ... कि सभी मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं अथवा भारतीय ... वे 'तत्त्वमसि' का अनुभव नहीं करते, तब तक ... सच्ची उदारता, सच्ची सहानुभूति और दया का उदय ... हो सकता।

मिलन की चाह के ही कारण सब काम ... हैं। मनुष्य नितान्त सामाजिक जीव है। ... मिलने की चाह ही यश-कामना का रूप धारण ... लोगों को नेता, उपदेशक, लेखक आदि बनाती है। ... चाह जब अस्वस्थ रूप में हो जाती है तो पुरुष ... व्यभिचारी तथा स्त्री को वेश्या तक बना देती है। ... मिलन की चाह इससे कहीं उच्चतर होती है। ... कहीं बड़ी चढ़ी आत्मिक मिलन की इच्छा है। ... स्थितप्रज्ञ में ही पूर्णता प्राप्त करती है।

× × × ×

वस्तुतः वेदान्त गद्दीधारी या भिखारी में कुछ अन्तर
समझता । जो गद्दीधारी कचहरियों का दरवाजा खट-
ता फिरता है, उसे वह भिखारी से भी बदतर मानता
र जो भिक्षु धार्मिक भाव से भिक्षा चाहता है, उसे
दशाहों से भी बढ़कर समझता है। उसकी कसौटी
नुष्य के मन की ही अवस्था है—यद्यपि यह सच है
न अवस्था की बहुत कुछ जाँच न केवल बड़े बड़े
से, वरन् प्रतिदिन के छोटे-मोटे कामों से ही की जा
ी है और की जानी चाहिए।

जो गद्दीधारी अपने को जनता का सेवक समझे, उनकी
ई में ही धन, मन और तन का भी उपयोग करे तथा
ी सामाजिक और राजनैतिक बुराइयों के दूर करने
उनका पूरी तरह साथ दे, उसका हृदय परिवर्तित
का है, उसका विरोधी कोई नहीं हो सकता; वह तो
ा का सच्चा प्रतिनिधि हो गया। किन्तु जो धर्म, उप-
ासनानन्द इत्यादि के बहाने जनता को ठगे, उसे
क बनावे, अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति उसके मन में
के भाव लावे, या राष्ट्रीयता का विरोधी हो, उसको
ा के धन का उपयोग करने का कुछ भी अधिकार न
चाहिए। अब देश बेहोशी की नींद में नहीं है। धक्के
पर धक्के खाकर उसकी नींद उचट गई, बेहोशी दूर होगई,
उसने आँखें खोल दीं और अपनी जकड़ी हुई दशा को
देख लिया। अब तो उसे व्यावहारिक वेदान्त की ही आव-
श्यकता है—वह व्यावहारिक वेदान्त जो एक ओर तो
उन लोगों को सचेत करता है जो मानव जीवन केवल रोटियों
के लिए समझ बैठे हैं, जिन्हें कुछ भ्रामक पाश्चात्य सिद्धान्तों
ने फिर कर यह समझाना चाहा है कि ईश्वरीय या आत्मिक
शक्ति कोई शक्ति ही नहीं है, शरीर ही सब कुछ है और
चार्वाक के शब्दों में—'अङ्गना लिंगनादि जन्यं सुखं' ही
पुरुषार्थ है, और दूसरी ओर उन लोगों को सावधान करना
चाहता है जो 'ब्रह्म' या 'धर्म' का नाम लेकर अपना उल्लू
सीधा करना चाहते हैं और साधारण लोगों को तरह तरह
से ठगना चाहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यावहा-
रिक वेदान्त केवल गद्दीधारी का विरोधी है और घोर विरोधी
है किन्तु सच्चे वेदान्तियों का फिर वे चाहे गद्दीधारी ही हों
तनिक भी विरोधी नहीं है और न हो सकता है, क्योंकि
ऐसे वेदान्तियों की गद्दी उनकी गद्दी नहीं होती, वह जनता
की वास्तविक भलाई की गद्दी होती है। ठीक अवसर पर
यह स्वयं प्रमाणित हो जाता है। हमारा 'व्यावहारिक
वेदान्त' हमें इसी सत्य पथ पर अग्रसर करेगा। एवमस्तु—

काया और छाया

[श्री बचनेश जी]

प्रियतम ! तुम काया, हम छाया ।
कुछ भी करो छूट नहिं सकते, चलेगी एक न माया ॥
मान लिया तुम दिव्य रूप हो, हमने तम-तन पाया ।
तो भी नहिं अलग हम तुम से, साथ न चरण छुड़ाया ॥
कर्म-भाव सब नव्य तुम्हारा जो कुछ हम में आया ।
कुछ [illegible] तुमने ही दिखलाया ॥
[illegible]
[illegible] बचनेश [illegible] न तन तनु छाया

स्वर्गीय श्री रामदास गौड़ का पत्र—

श्री रामेश्वरसहाय सिंह जी के नाम

प्रिय आत्मन् ,

अब मैं तुम्हें क्या लिखूं ? तुमने जो लिखा है वह मुझे बहुत रुचिकर हो उठता है। महात्माओं को, उन्नत आत्माओं को ढूंढने के लिए तुम्हें इतनी दूर दूर जाने की आवश्यकता नहीं। जो थोड़ा सा अनुभव मुझे है, उससे मैं कह सकता हूँ कि महात्माओं के दर्शन के लिए पहले हमें स्वयं उन्नत होने की आवश्यकता है। राजा जब दौरा करने निकलते हैं, तब प्रजा उनके दर्शन करती है, उनकी वन्दना करती है और राजा भी कभी कभी उसे अपना सन्देश सुनाते हैं। किन्तु यदि कोई मनुष्य राजा से मिलना चाहता है, राजा से मिल कर कोई लाभ उठाना चाहता है, तो उसे पहले अपने आप को कुछ ऊँचा, बड़ा बनाना होगा, तभी वह राजा से भेंट करने का अधिकारी हो सकता है। इसके पहले ही यदि वह दरबार के लिए जाता है, तो उसे निराश होकर लौटना पड़ेगा—इसलिए नहीं कि उसे प्रवेश-आज्ञा ही नहीं मिलेगी, वरन् उसे स्वयं लज्जा मालूम होगी—उसे अपनी पोशाक ही देख कर लज्जा हो सकती है, वह दरबार का वैभव देखकर घबरा सकता है, वह

अपने में उस तेज की कमी का अनुभव कर सकता है, जो दरबारियों को आवश्यक है अथवा दरबार में उठने-बैठने और बातचीत का रंग-ढंग न मालूम होने से वह लज्जित होकर स्वयं लौट सकता है। मेरा मतलब यह है कि [illegible] समय तक [illegible] [illegible] उत्तम हुए हैं वह [illegible] [illegible] का [illegible] बहुत महात्मा पहुँच सके किन्तु [illegible] [illegible] का वह कोई अवस्था [illegible] [illegible] [illegible]

'हे ईश्वर,' मैं इसके पहले ही, क्यों [illegible] तुम्हारी यह बात सुन कर मुझे बड़ी हंसी [illegible] भला, मरता कौन है ? स्वप्न में डर के मारे [illegible] चाहे जितने हाथ-पैर मारो, तुम उसी ओर, खिंचे चले जाओगे। पहले तुम्हीं सब के एकान्त [illegible] अपने लिए बन्धन तैयार करते हो और फिर [illegible] कोशिश करते हो किन्तु बन्धन कैसे तुम्हें छूटने दे [illegible] बन्धन ही पैदा मत करो। यदि करते हो तो, फि[illegible] हो, खुशी खुशी उनका मज़ा लूटो। गया पहले [illegible] और फिर रोकने के [illegible] डरकर भाग [illegible] तुम्हारा ख्याल है कि [illegible] हो गये। यही [illegible] ने किया था। किन्तु [illegible] कभी नहीं सोचा क्या [illegible] सोचने से ही, उसके [illegible] आन्तरिक प्रकाश [illegible] हुआ था ?

यदि तुम्हें अपने [illegible] बुराई दिखाई दे [illegible] घबराओ नहीं। [illegible] वरन् उससे युद्ध [illegible] उसे जीत सकते हो। चाहे जितना भागो, [illegible] बच नहीं सकते।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् [illegible]

जो बात महाभारत के अर्जुन के लिए थी, [illegible] अर्जुन के लिए भी सत्य है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते प्रवृत्तिर्योग (३–५)

इसलिए

सततं कार्यं कर्म समाचार (३–१९)

क्योंकि

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् (१८–

सूर्य-नमस्कार

[श्री हरिदास माणिक]

आज कल जिधर दृष्टि डालिये, उसी ओर भारत के नर व नारियों में शारीरिक शिथिलता दिखाई पड़ती है। यदि १० वर्ष ही वर्ष ही पीछे की बात याद कीजिये, तो बहुत कुछ अन्तर मालूम होगा। जहां पहले गठीले युवक और स्वस्थ स्त्रियां दिखाई देती थीं, वहां अब दुबले-पतले, निस्तेज लोग दिखाई पड़ते हैं। सब पर मुर्दनी छाई रहती है। स्कूलों में रहते ही लड़के मानो बूढ़े हो जाते हैं। इस स्वास्थ्य-नाश के अनेक कारण हैं। कुछ तो हमारी लाचारी के कारण हैं। पर खेद तो यह है कि जो बात अपने बस की है, हम उधर भी ध्यान नहीं देते। हमने पहले की रहन-सहन, खाना-पीना छोड़ दिया है, तरह तरह की शौकीनी ने हमें खोखला बना डाला है। प्राकृतिक रहनसहन और भोजन छोड़ हम बीड़ी-सिगरेट के गुलाम बने हैं। भला, ऐसे युवक और युवतियों से भावी भारत क्या आशा कर सकता है!

भारत के नवयुवको! उठो और समय रहते चेत जाओ। यदि जीवित रहना चाहते हो, तो अपने शरीर और शारीरिक उन्नति की ओर ध्यान दो। किन्तु शरीर और मन का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। सबल शरीर में सबल मन रहता है। मन के बलवान होने से शरीर बलवान होता है। मन वास्तव में एक ऐसी वस्तु है, जिससे बल, स्वास्थ्य और प्रसन्नता प्रकट हो सकती है पर इसके लिए साधन की जरूरत है। प्राचीन भारत में इसकी साधना सरल थी। क्योंकि हमारा जीवन और रहन-सहन सीधा सादा था। आज तो हम पाश्चात्य जीवन की भद्दी नकल करके प्राकृतिक जीवन से घृणा करने लगे हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब हमारे पाश्चात्य गुरु हमें किसी सिद्धान्त की सत्यता बतलाते हैं, तब हम झट उसे मान लेते हैं। हममें जरा भी मनोबल नहीं रहा। सचमुच यदि हम पुन मनोबल का आश्रय लें तो फिर पतन से बच सकते हैं। आज कल पाश्चात्य देशों में सूर्य-स्नान का महत्व माना जा रहा है। किन्तु यह भारतीय संस्कृति के लिए कोई नई बात नहीं। यहां [illegible] सूर्योदय के लिए इस प्रकार से सूर्य नमस्कार व्यायाम का [illegible] है।

सबसे पहले सूर्योदय के समय ॐ प्रणव के उ[illegible] के साथ दोनों हाथ जोड़कर सूर्य को नमस्कार [illegible] चाहिए। फिर भगवान् सूर्य के सुप्रसिद्ध बारह [illegible] जाप के साथ निम्नलिखित बारह व्यायाम करना [illegible] यह ध्यान रखना चाहिए कि (१) ओ३म् मित्र[illegible] (२) ओ३म् रवये नमः (३) ओ३म् सूर्याय नम[illegible] ओ३म् भानवेनमः (५) ओ३म् खगाय नम[illegible] ओ३म् पुष्णेनमः (७) ओ३म् मरीचये नम (८) [illegible] हिरण्यगर्भाय नमः (९) ओ३म् आदित्याय नम [illegible] ओ३म् सवित्रे नमः (११) ओ३म् अर्काय नम [illegible] ओ३म् भास्कराय नम—इन मंत्रों का जाप क[illegible] हृदय में यह धारणा, यह विश्वास जमना चाहि[illegible] धात् सूर्य का दिव्य तेज और बल शरीर में प्रवेश [illegible] है। विश्वास और निश्चय जितना ही अधिक होगा, [illegible] स्कार से उतना ही अधिक लाभ होगा।

यह व्यायाम जहाँ तक संभव हो, सदैव सुर्[illegible] स्नान करके सूर्योदय के समय प्रार्थना के साथ करना [illegible] व्यायाम के साथ दो बातों का विशेष ध्यान रहे— [illegible] से तेज-बल ग्रहण करने की भावना और (२) [illegible] का स्वाभाविक संचालन।

१—नमस्कारासन

भगवान् सूर्य की वन्दना के साथ यह व्यायाम प्रारम्भ करो। दोनों पैरों के बीच में तीन या चार इंच का अन्तर होना चाहिए। सीधे खड़े रहो। घुटने न मोड़ो, कमर से ऊपर का भाग बराबर रखो। कमर न झुके और पेट भी आगे न बढ़ने पाये। सीने को बिना दबाये खड़े रहो वरन उसे खूब फुलाकर पेट अन्दर खींचो। उँगलियाँ ऊपर की मिली रहें। पर अँगूठ साल से सटे रहें। दृष्टि सामने रखो।

नमस्कारासन

खास व्यायाम है, इस पर लोगों को बहुत ध्यान देना चाहिए।

इस सूरत से निम्नलिखित अवयवों पर जोर पड़ता है—(१) बाहों के नीचे के भागों के बाहरी पुट्ठे (२) पसलियों की हड्डियों के बीच के पुट्ठे (३) पेट के दाएँ और बाएँ पुट्ठे (४) गर्दन के पीछे का पुट्ठा (५) कंधों के पुट्ठे (६) भुजदंडों के बाहरी पुट्ठे (७) पीठ के नीचे के पुट्ठे।

६—सर्पासन

हाथों को सीधा कर सीना ऊपर उठाओ। धीरे धीरे गहरी साँस लो। कमर को जमीन की ओर झुकाओ। हाथों के पूरे तनने पर कमर जितनी तन सके उतनी पीछे ले जाओ। निगाह ऊपर रक्खो। आकाश को देखो। घुटने जमीन पर न टिकें, केवल हाथ और पैर की उँगलियों के ही सहारे सारा शरीर रहे। इसे सर्पासन भी कहते हैं। घेरंड

संहिता में लिखा है—फणी साँप के समान आसन करने से यह सिद्ध होता है। इसमें सिर जितना पीछे जाय, उतना लाभदायक होता है। यहाँ तक पीछे चला जाय कि आकाश के सामने अपना मुख हो। इस व्यायाम से पेट के सब आन्तरिक विकार जैसे लीवर और जिगर की शिकायतें तो दूर होती ही हैं, साथ ही अँतड़ियों की भी पूरी सफाई होती है। कंठ के वे रोग जो नियमानुकूल भोजन न करने से पैदा हो जाते हैं, इससे दूर हो जाते हैं। कंठ-माला भी इससे दूर हो जाता है।

इस सूरत से निम्नलिखित पुट्ठों पर जोर पड़ता है—(१) सीने के पुट्ठे (२) पसली के नीचे के पुट्ठे (३) पेट के सब पुट्ठों पर खास कर जोर पड़ता है।

७—भूधरासन

इस सूरत को भूधरासन भी कहते हैं। क्योंकि भूधर (पर्वत) की तरह हाथों और पावों के तलवे बराबर जमीन पर लगे रहते हैं। इस व्यायाम पर विशेष ध्यान रखना चाहिए कि ठोड़ी रहे, इसका संबन्ध बुद्धिवर्धन के साथ होने

रक्त प्रवाह के लिए बड़ा लाभकारक होता है। (१) और पावों के तलवे अच्छी तरह भूमि (२) घुटने सीधे रखने चाहिए (३) कोहनी के सीधे होने चाहिए (४) ठोड़ी कंठमूल में लगानी (५) पेट अन्दर की ओर खिंचा रहे।

जोर—पैर, पिंडली, कूल्हे, कमर, पीठ, गर्दन भुजदंड पर विशेष जोर पड़ता है। जोर होती है, जिससे पुट्ठे मजबूत होते हैं।

८—एकपाद प्रसरणासन

यहाँ से अब पहली व्यायाम में धीरे धीरे तीसरी सूरत में हम बायाँ पैर पीछे ले गये थे पैर पर जोर डाला गया था। अब इस सूरत में पीछे जायगा और बाएँ पैर पर जोर डाला जायगा। पेट के दोनों ओर
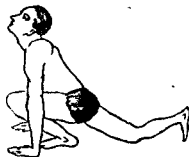
९—हस्तपादासन

एक पैर तो आठवीं सूरत में आगे दूसरा पैर भी आगे लाओ और दूसरी सूरत में हो

क्या मैं मनुष्य हूँ ?

[श्रीयुत् व्यथित हृदय]

[१]

गर्मी के दिन थे, सन्ध्या का समय। मैं अपने द्वार पर, जो सड़क से मिला हुआ है, कुर्सी पर बैठ कर एक पुस्तक के पन्ने में आँखें गड़ाये हुए था। सहसा मेरी आँखें पुस्तक को छोड़कर दूसरी ओर दौड़ गयीं। मैंने देखा, सड़क पर कुछ लड़के एक आदमी को घेर कर खड़े हैं और चिल्ला रहे हैं, पागल है, पागल!

मेरी आँखें रुक गयीं। मैं उसी ओर देखने लगा। वह मुझसे कुछ दूर लड़कों के झुण्ड में खड़ा था। उसकी सुन्दर, मुरझाई हुई आकृति में दो बड़ी बड़ी आँखें, चौड़ी छाती, ऊँचा ललाट, ललाट के ऊपर सिर में धूलि में सने हुए लम्बे-लम्बे बाल, और कमर में एक लँगोटी। अवस्था भी अधिक नहीं, केवल पचीस-छब्बीस वर्ष की, लड़कों के झुण्ड में खड़ा था। कभी कभी कुछ बोल भी उठता था। क्या बोल उठता था, उस समय यह मैं जान न सका था। किन्तु अपने स्थान से यह अवश्य देख रहा था कि जब वह कुछ बोलता, तब लड़के खिलखिला कर हँस उठते और एक साथ ही कह उठते, पागल है, पागल!

मेरे मन में न जाने क्यों उत्सुकता-सी उत्पन्न हो उठी। मैंने सोचा, उठकर उसके पास चलूँ और सुनूँ, वह क्या कहता है? मैं उठ ही रहा था कि वह स्वयं दौड़कर मेरे पास आ पहुँचा। वह इसी प्रकार सड़क पर मिलने-वाले सभी व्यक्तियों के पास जाता था। मेरे सामने एक दूसरी कुर्सी पड़ी थी। वह वहाँ निर्भीकता से कुर्सी पर बैठ गया। लड़के जो उसके पीछे लगे थे फिर खिलखिला-कर हँस पड़े और कहने लगे—पागल है पागल!"

वह कुछ देर तक वह [illegible] में मुझे देखता रहा। उसकी [illegible] और उसकी उन आँखों में दौड़ती हुई वह [illegible] में कुछ [illegible] सा हो उठा। मुझमें साहस न हुआ [illegible] के अतिरिक्त [illegible] और [illegible] के लिये [illegible] और उस [illegible] का— [illegible] कुछ [illegible] आता एकत्र हो [illegible] किन्तु सबके सब शान्त

थे, आश्चर्य से उसकी ओर देख रहे थे। आश्चर्य [illegible] कि वह पागल था, और पागल होने पर भी [illegible] कर मेरी ओर देख रहा था।

कुछ ही देर के पश्चात् उसके अधर खुल पड़े। आँखों में एक विचित्र भावना भर कर कहा [illegible] मनुष्य हूँ?'

लड़के फिर खिलखिलाकर हँस पड़े। अब [illegible] हुआ कि वह प्रत्येक मिलने वाले से यही पूछता है, [illegible] मैं मनुष्य हूँ?' मैं आश्चर्य से चकित हो उठा। मैंने उस[illegible] ओर देखा, उसकी आँखों में विषाद था, निराशा [illegible] अधर करुणा के भार से दबे जा रहे थे, और [illegible] उसकी वह आकृति और उस आकृति का [illegible] मेरे मन ने उसे भली-भाँति देख-सुनकर कहा [illegible] पागल नहीं, कुछ और है, कुछ और है!'

मैं चुप था। आँखों में भय और आश्चर्य [illegible] उसकी ओर देख रहा था। सोच रहा था, 'क्या [illegible] उसकी इस बात का? उससे क्या कहूँ!' अभी सो[illegible] ही रहा था कि वह पुनः बोल उठा, 'क्या मैं मनुष्य [illegible] उसके स्वर में वेदना थी, पीड़ा थी, और एक [illegible]

मैंने उसकी ओर देखकर उत्तर दिया, 'हाँ, तुम मनुष्य [illegible]

वह पागलों की भाँति हँसने लगा। एक बार [illegible] लड़कों की ओर देखा। मानों वह लड़कों से पूछ रहा [illegible] क्या सचमुच मैं मनुष्य हूँ? लड़के भयभीत होकर [illegible] खिसक गये। उसने मेरी ओर ध्यान से देखकर कहा, मैं मनुष्य नहीं, किन्तु तुम मनुष्य हो सकते हो।'

मुझे उसकी बातों में एक रहस्य-सा ज्ञात हुआ, साथ ही मेरे हृदय में उसके लिये एक आकर्षण भी [illegible] हो उठा। मैंने लड़कों को भगा कर उसके प्रति प्रे[illegible] करते हुये कहा, कुछ खाओगे?"

वह पुनः मुस्कराया। उसने फिर मेरी ओर [illegible] कहा, तुम मनुष्य हो। तुममें मनुष्यों के गुण हो सक[illegible] किन्तु मैं मनुष्य नहीं हूँ। क्या तुम मुझे [illegible] बना दोगे?"

मैं कुछ देर तक सोचता रहा। थोड़ी ही देर में मेरे मन में अनेक प्रकार की भावनायें उठीं, और लुप्त हो गयीं। मन अनिश्चित पथ पर बड़ी ही तीव्र गति से दौड़ रहा था। और वह ? वह मुझे बड़े ध्यान से देख रहा था, मानों अन्तर में दौड़ती हुई विचार-भावनाओं को पढ़ने और समझने का प्रयत्न कर रहा हो। उसकी उन्हीं आँखों ने दौड़ते हुए मन को रोक लिया। मैंने उसकी उन्हीं आँखों की ओर देखकर कहा, 'तुम मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें मनुष्य बना दूँगा।'

वह हँस पड़ा। उसकी हँसी में एक रहस्य था, एक व्यंग्य था। वह उठकर खड़ा हो गया। उसने कहा 'चलो। मैं अवश्य मनुष्य बनना चाहता हूँ।'

उसकी इस शीघ्रता को देखकर मैं अवाक् रह गया। मुझे आशा न थी कि पागलों की भाँति विचरण करनेवाला यह प्राणी मनुष्य बनने के लिए इस प्रकार शीघ्रता में उतावला हो जायगा। किन्तु क्या यह सचमुच मनुष्य नहीं? उसके मनुष्य बनने का अर्थ क्या है? वह क्यों नहीं मनुष्य है? मनुष्य तो वह साक्षात् है। फिर वह किस प्रकार मनुष्य बनना चाहता है? क्यों कहता है कि वह मनुष्य नहीं है? मैं इन्हीं विचारों के झूले पर झूलता हुआ उठकर खड़ा हो गया। सच बात तो यह है कि इन्हीं विचारों ने मुझे उसके जीवन के साथ कसकर बाँध दिया।

[२]

[illegible]

कुछ ही दिनों में मैं उसके जीवन के अधिक सन्निकट पहुँच गया और वह मुझे विश्वास की दृष्टि से देखने लगा। किन्तु अब तक भी मैं उसकी जीवन-कहानी को न जान पाया था। जानने का प्रयत्न अवश्य करता, किन्तु जान न पाता। वह अपने जीवन की कहानी को बड़े ही कौशल, किन्तु बड़ी ही सफाई के साथ अपने जीवन में छिपाये हुए था।

एक दिन दस बज रहे थे। मैं उसके साथ बैठकर खाना खा रहा था। मेरी स्त्री कुछ दूर पर बैठकर पंखा झल रही थी। मैं उसे दीवाने के नाम से पुकारने लगा था। उसने स्वयं कहा था कि मुझे इसी नाम से पुकारा करो। मैंने उसकी ओर देखकर कहा, 'दीवाने, एक बात पूछूँ, बताओगे?'

उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखा और पुनः मेरी स्त्री की ओर। वह कुछ देर तक चुप रहा। फिर उसने कहा, 'पूछो, क्या पूछना चाहते हो?'

मैंने कहा, 'तुम क्यों सब से पूछते हो कि क्या मैं मनुष्य हूँ?'

भोजन के लिए बढ़े हुए उसके हाथ रुक गये। वह सामने देखने लगा। मानो किसी स्मृति का चित्र देख रहा हो। आँखों में विषाद, करुणा और वेदना की लहरें थीं। उसकी इस गति को देखकर मैं मन में पश्चात्ताप करने लगा। सोचने लगा 'व्यर्थ मैंने उससे यह पूछा।'

[illegible]

मणिमाला

ामी शरणानन्द जी का उपदेश

[प्रेषक—एक जिज्ञासु]

प्रश्न—स्वामिन्, मन को स्थिर करने का सरल क्या है ?

उत्तर—आवश्यक कार्य को पूरा करने से और अना-क कार्य का त्याग करने से मन अपने आप स्थिर ता है।

प्रश्न—स्वामिन्, आवश्यक कार्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस कार्य को पूरा करने के साधन प्राप्त हों, े पूरा किये बिना हम किसी प्रकार रह न सकें और के करने में हमें किसी प्रकार का भय न मालूम हो, हमारे लिए आवश्यक कार्य है। इसके अतिरिक्त शेष हमारे लिए अनावश्यक हैं।

प्रश्न—स्वामिन्, कर्तव्य की पहचान कैसे हो ?

उत्तर—कर्ता अपने को जिस भावना में सद्भाव-बांध लेता है, जिसके अनुसार कार्य करने के लिए होता और जिसे किये बिना वह रह नहीं सकता, के अनुसार कार्य करना उसके लिए कर्तव्य है।

प्रश्न—स्वामिन्, सद्भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस भाव का कभी अभाव न हो, उसे ही ाव कहते हैं। किन्तु जिस सद्भाव का आधार केवल न है, पूर्ति होने पर उसका अभाव हो जाता है किन्तु सद्भाव का आधार ज्ञान होता है, उसका त्रिकाल में अभाव नहीं होता।

प्रश्न—स्वामिन्, क्या सद्भाव-पूर्वक की हुई अभि-ा अवश्य पूर्ण होती है ?

उत्तर—हां, अवश्य पूर्ण होती है। क्योंकि अभिलाषा [illegible] स्वयं अपने इच्छित स्वरूप के [illegible] में जो अभिलाषाओं का प्रकाशक है वह सब प्रकार ती है। इसलिए अभिलाषा-पूर्ति के साधनों की कमी रहती।

प्रश्न—स्वामिन्, आत्म-साक्षात्कार में [illegible] कि बन जाती है—[illegible] इनके [illegible] कैसे हैं ?

उत्तर—मल दोष की निवृत्ति केवल विश्वप्रेम के भाव से हो सकती है। जब तक हृदय में सेवा-भाव न होगा, तब तक मल दोष की निवृत्ति न होगी।

विक्षेप दोषकी निवृत्ति अपनी वास्तविक रुचि को स्थायी करने से होती है। उससे ऐसा प्रेम हो जाय कि उसके बिना हम रह ही न सकें—इस प्रकार विक्षेप दोष मिट जाता है।

इसी स्थायी रुचि के पूरा हो जाने पर यथार्थ ज्ञान हो जाता है और आवरण मिट जाता है।

प्रश्न—स्वामिन्, विश्वप्रेम के भाव का क्या अर्थ है ?

उत्तर—प्रेम अपनेसे होता है अर्थात् सारे विश्व के साथ अपनत्व स्थापित करने से ही विश्वप्रेम हो सकता है और किसी प्रकार नहीं।

प्रश्न—स्वामिन्, वास्तविक रुचि किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो किसी प्रकार न मिटाई जा सके, वही वास्तविक रुचि है। अर्थात् कोई भी प्राणी कभी अपने में किसी प्रकार की कमी नहीं रहने देना चाहता। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक मनुष्य अपने को सब प्रकार से पूर्ण बनाना चाहता है। अतएव सब प्रकार से पूर्ण होने की रुचि ही वास्तविक रुचि है, जो सब में एक समान है।

प्रश्न—स्वामिन्, यथार्थ ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—यह अर्थात् संसार, वह अथात् ब्रह्म और मैं—इन तीनों का यथार्थ ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। इन तीनों में से किसी एक का यथार्थ ज्ञान होने से सब का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। जैसे सूर्य, किरण और धूप—इनमें से किसी एक को यथार्थ रूपेण जान लेने से हम तीनों को यथार्थतः जान सकते हैं।

प्रश्न—स्वामिन्, संसार की क्या स्थिति है ?

उत्तर—इन्द्रियों के ज्ञान पर सद्भाव होने से संसार सत्य सा मालूम होता है। बुद्धि के ज्ञान पर सद्भाव होने से संसार अनित्य सा मालूम होता है और अनुभव ज्ञान से संसार मिथ्या हो जाता है, क्योंकि उसमें संसार का अभाव हो जाता है।

प्रश्न—स्वामिन्, इन्द्रियों के ज्ञान पर और बुद्धि के ज्ञान पर सद्भाव कैसे होता है ?

उसके मुख्य प्रस्ताव का आशय है कि भारत को मुसलिम और हिन्दू भारत में बाँट दिया जाय। जिन प्रान्तों में मुसलमानों का बहुमत है, वे स्वतन्त्र मुसलिम राज्य बना दिये जायँ और शेष हिन्दू भारत में रहें। बस, हिन्दू-मुसलिम अनैक्य की चरम सीमा हो गयी।

एक प्राचीन काल का किस्सा है। किसी समय दो औरतें एक काज़ी के पास झगड़ती हुई पहुँची। झगड़ा एक लड़के पर था। एक कहती थी, लड़का मेरा है। दूसरी कहती थी—मेरा। बात बड़ी विचित्र थी, इस प्रकार लड़के के विषय का वाद-विवाद पहले कभी काज़ी के पास नहीं पहुँचा था। सोचते-सोचते उन्होंने आज्ञा दी—अच्छा, इस लड़के के दो टुकड़े करके आधा आधा इन दोनों में बाँट दो। आज्ञानुसार ज्योंही जल्लाद तलवार निकाल कर सामने आया, त्योंही एक औरत रोकर प्रार्थना करने लगी—सरकार, इस लड़के को काटिये नहीं, मैं झूठ कहती थी—यह मेरा लड़का नहीं, इसे उसी को दे दीजिये। काज़ी जी सारा भेद समझ गए और उन्होंने तुरन्त वह लड़का इसी रोने वाली औरत को दिला दिया।

हमारी भारतमाता के भी इस समय दो स्वत्वाकांक्षी हैं। एक राष्ट्रीय कांग्रेस और दूसरी मुसलिम लीग। मुसलिम लीग कहती है—माता के प्राण रहें या जायँ, हम अपना भाग बटाये बिना न रहेंगे। राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से महात्मा गांधी कहते हैं—इसके टुकड़े न करो। यदि तुम्हें हम से डर है, तो हम तुम्हारी अधीनता में चलेंगे। कहना न होगा कि राष्ट्रीय कांग्रेस ही देश की सर्वाधिक शुभचिन्तक है। किन्तु एक प्रश्न और उपस्थित होता है—देश की गुलामी भी बुरी है और देश का अंग-भंग होना भी बुरा है। वह कौनसा मार्ग है, जिससे हम इन दोनों बुराइयों से बच सकें। वह मार्ग निरन्तर उन्नति का मार्ग है, जिसमें हम केवल अपने कर्तव्य को देखते हैं और इस कर्तव्य का निर्णय केवल आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखने से ही हो सकता है।

अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन

इस सम्मेलन के अवसर पर दीवान बहादुर एस० इ० रंगाचारी ने हमें एक सुन्दर सन्देश दिया है—

भारत की समस्या कठिन है [illegible] है [illegible] न पाश्चात्य देशों के अन्ध अनुकरण में है। आवश्यकता है कि हम अपनी संस्कृति के [illegible] रखते हुए पाश्चात्य जगत के बौद्धिक और [illegible] साधनों का उपयोग करें। भारतवर्ष में अनेक [illegible] संस्कृतियाँ हैं। आवश्यकता इस बात की है [illegible] छोटे-मोटे भेद-भावों को गौण मानकर देश में एकता [illegible] पित करें। और यह तभी हो सकता है, जब [illegible] दूसरे की संस्कृति को [illegible] की चेष्टा करें। हमें अपनी संस्कृति को [illegible] जहाँ से भी मिले, उसे तत्परता से ग्रहण करना चाहिए [illegible] हमें आगे बढ़कर समय की [illegible] अपने जीवन के लिए नये मार्ग बनाना चाहिए [illegible] सम्मिलित और समृद्ध भारत का उदय हो सके।

× × × ×

हमारी संस्कृति का स्थिर तत्त्व क्या है? वेदान्त। [illegible] तक हम इसे यथार्थ रूप में समझ कर उसके अनु[illegible] आचरण नहीं करते, तब तक हम 'जीवन' की कमी [illegible] पाश्चात्य देशों का ही अन्ध अनुकरण करते [illegible] वेदान्त के आचरण से ही हम में सत्य का [illegible] और हम प्राच्य और पाश्चात्य के सम्मिलन [illegible] भारत का निर्माण कर सकते हैं।

हिन्दू कौन है?

हिन्दू-महासभा के सभापति श्री सावरकर जी ने [illegible] प्रान्तीय-सम्मेलन के अवसर पर 'हिन्दू' की प[illegible] बतलायी है। वे कहते हैं—जो हिन्दुस्तान को अपनी [illegible] भूमि और अपनी धर्म-भूमि मानता है, वही हि[illegible] हिन्दू को यह बात सदैव याद रखना चाहिए कि [illegible] स्तान मेरी जन्मभूमि है और हिन्दुस्तान ही मेरी पु[illegible] जन्मभूमि है, और इसलिए हिन्दुस्तान मेरे लिए [illegible] और पूजनीय है।

× × ×

क्या हम यह आशा न करें कि एक दिन [illegible] के प्रति यही अटल श्रद्धा सारे भारतवासियों [illegible] हिमालय से [illegible] के एक सूत्र में बाँध कर एक [illegible] उज्ज्वल राष्ट्र बनायेगी?

ॐ

VYAVAHARIKA VEDANTA

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

MY MOTTO

"GOD IS REAL, WORLD UNREAL,
SELF-REALIZATION THROUGH RENUNCIATION."

L. 1 | April, 1940. | No. 4

Oneness with All.

Through the arched door
Of eyebrows I pour
And sit in the heaven of heart:
There well do I ride
In glory and guide,
And no one can leave Me and part.

All men and ma'ams
Sleep in my arms,
In me they rest and walk;
I strike the chords,
They utter the words
Through me, in me they talk.

Merry wedlock, union,
On earth or in heaven
Is a dim foreshadowing symbol
Of my perfect embrace
[illegible]
[illegible]

As the balmy air of the morning fair
I kiss the rose to bloom;
In a wild, wild dream
Like a zigzag stream
I bear the world in my womb.

O Lightning! O Light!
O Thought quick and bright!
Come, let us run a race;
Avaunt! Avaunt!
Fly, Fly but you can't
With me ever keep pace.

O Elements, Storms!
O Thundering forms!
I stretch my arms around
Ye harnessed to my car
Drive wide and far
[illegible] round and round

Pranava

By Sri Madan Mohan Goswami

When a child is born in a Hindu family, the first care that a father is supposed to take of it according to the "Jata Karma Sanskar" before giving it milk even, is to indite 'Om' on the tongue of the new born baby with a quill and an ink of butter and honey. Leaving aside this ritual importance given to this sacred syllable in Hindu families, let me explain to you that this syllable is the first utterance of every child in every nationality under natural Law. When a child is born it must cry, otherwise there is no infusion of life in it and the lungs do not start operating. If it does not cry, the midwife gives a smack on its back to make it do it. The crying of the child is 'Un-Un' i.e. 'Om' 'Om'. This is what nature makes you do. Om is thus the natural connecting link between God and Maya. To live in harmony with nature and accellerate its action under the rational powers, possessed by human beings, is 'Life'. Om is the best, the easiest and the simplest name of God, for a lover of Him. It is composed of three Matras अ, उ & म्, in the poineer language of the world 'Sanskrit'. Different people have different interpretations of it but the most recognisable and the universal one is that described in the Chhandogya, Mandukya and Taitraiya Upnishadas of Vedas. These Upnishadas tell you that अ stands for stern reality, 'your-self', as underlying and manifesting the illusory material world of the wakeful state, उ represents the psychical world and the last letter म् denotes the absolute self as underlying the [illegible] state and manifesting itself [illegible] [illegible] [illegible]

the underlying reality. Om is सच्चिदानन्द [illegible] essence of Vedanta. Om means [illegible] unchangeable, the eternal truth, the [illegible] tible truth and the underlying real [illegible] the scenes, that you are. 'Om', is the [illegible] of Vedas. Every religion pays its [illegible] it. The Hebrews, Mohamdans and Chr[illegible] end their prayers by saying 'Amen' [illegible] Om, in another form.

God is beyond the senses. It is at [illegible] where all reasoning, speech and know[illegible] end. The natural question would [illegible] how to comprehend Him.

The Yogiraj Patinjali says [illegible] i. e. He can be had through the [illegible] of 'Om'. 'Agyánees' take the so-called [illegible] rial world of the wakeful state which [illegible] judged through gross senses as real [illegible] dreaming and deep sleep states as [illegible] Vedanta says that this seeming [illegible] wakeful state is also unreal and you [illegible] alone is real. ' You call the dream[illegible] deep sleep states as unreal because [illegible] not exist when you are in the so-called [illegible] ful state.' Well, in the big cipher [illegible] earth, half the people are always [illegible] turns. The wakeful conditions do [illegible] for them. Can't they use the same [illegible] and say that the wakeful world is [illegible] They are in no way dead. Others [illegible] that their senses of touch, sight and [illegible] prove the existence of this seeming [illegible] But what brought the senses into ex[illegible] The elements. How do you know [illegible] elements. Through the senses. It [illegible] [illegible] in a circle and logically [illegible] This establishes the illusory nature [illegible] [illegible] world. God, the underlying [illegible]

. उ & म्. which is yourself. is only thus real and the rest is all a trick of senses. A 'Masterpiece' comes out of a person only when the world is a nought to him, through high concentration and a state of abstraction. This testifies to the non-reality of the world. The fact is that you are not these seeming bodies because these are not real and liable to decay. If your reality were the physical frames, you would answer questions even after the senses leave you because the bodies remain the same. You are not the senses either, because there are stern laws which will not allow you enjoyment or pleasure for ever, through the senses. e. g. a man constantly resorting to sensual pleasures is bound to wreck his physical frame. The 'Atman' is the real life. This 'Atman' is represented by 'Om.' Realise that and these material pleasures will begin to seek you, as a moth seeks the flame and a river flows to the ocean.

जन्नती किसी थी दुनियाँ, जब तलक करते थे हम।
जब से हमने मुंह मोड़ा, यह देखता आने को है।

Turn your face to the Truth, the Sun of Suns and the shadows shall follow you. If you run after the shadows, they shall prove themselves a 'will of the wisp' to you. When singing the sacred Mantram Om. throw your intellect and body into your true Self. make them melt into the real Atman. Sing it in the language of feeling through every pore of your body. Let every drop of your blood tingle with the truth that you are the Light of Lights, the Lord of Lords. If you call a so-called one-eyed man a 'Kana.' he resents it because his reality is not 'Kana.' He is a part and parcel of God i. e. 'Om' himself.

When ... [illegible]

is the nearest Guru available. With every breath it is being repeated naturally. so accellerate the natural action and realise your true self. If you, Hindus who have a birth right over Vedas. (although the Truth belongs to one and all), don't do it. who else shall do it more eagerly ?

'Om' is the knowledge supreme. Its matras consist of अ without which there can be no other व्यंजन in the whole of Sanskrit literature. Om is an अव्यय in Sanskrit grammar and as such it is indeclinable like God i. e. it has no विभक्ति, लिङ्ग or वचन. Vedas enjoin upon you ओम् क्रतो स्मर.

Taittraiya Upnishad says ओमिति ब्रह्म. ओमिदं सर्वम्. Manu Maharaj declares 'Om' as the extract of three Vedas and calls it as एकाक्षरं परंब्रह्म. Lord Krishna and Karmayogi Shree Ram Chandra used to perform Om Upasana. Shree Krishna says in Gita वेद्यं पवित्रमोंकार. The Buddhists aspire to attain Nirwana through the ladder 'Om.' A dumb creature who can make nothing else voluble. can conveniently utter 'Om.'

Lord Krishna says that if one recite 'Om' on death bed even, he gets the 'Param Gati.'

> Whatever thou lovest man,
> Thou, too become that must :
> God, if thou lovest God.
> Dust, if thou lovest dust.

So, whilst reciting 'Om' think that you are part and parcel of God Himself and this body of yours is a mere trick of senses which is unreal.

When you have to greet a friend or a relative do it by saying 'Om' with folded hands. Singing of Om gives you an internal bliss ... indescribable You must try it regularly ... [illegible]

ब्रह्मलीन् श्रीमान् आर० एस० नारायण स्वामी जी महाराज की पुण्य-स्मृति में

श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग द्वारा प्रकाशित—

व्यावहारिक वेदान्त

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर वेदान्त की व्यावहारिक दृष्टि से प्रकाश डालने वाला मासिक पत्र

वर्ष १ | मई १९४० | अङ्क ५

सम्पादक

श्रीचक्रधर 'हंस' नौटियाल एम० ए०, एल० टी०

शास्त्री, हिन्दी-प्रभाकर

दीनदयालु श्रीवास्तव बी० ए०

विशेष सम्पादक

श्री १०८ स्वामी अद्वैतानन्द जी

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०,
विद्यावैभव, इतिहासशिरोमणि

डॉक्टर एन० एन० सेन गुप्त
एम० ए०, पी-एच० डी०

रायराजा डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र
एम० ए०, डी० लिट०

डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
एम० ए०, डी० लिट०

श्री गिरिधारी लाल बी० ए०

मैनेजिंग डाइरेक्टर

श्री रामेश्वरसहायसिंह, हीरापुरा, काशी

प्रकाशक

महात्मा शान्तिप्रकाश

सभापति, श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ

मुद्रक

श्री माधव विष्णु पराड़कर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।

वार्षिक मूल्य ३) | एक प्रति का मूल्य ।-)

ॐ

विषय-सूची ।

विषय

" नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः । "

र्ष १] मई १९४०　　　　ज्येष्ठ १९९७ [अङ्क ५

आत्म-ज्ञान

कहाँ जाऊँ ? किसे छोड़ूँ ?
　　किसे ले लूँ ? करूँ क्या मैं ?
मैं इक तूफ़ाँ क़यामत हूँ ?
　　पुरे हैरत तमाशा मैं ॥

नहीं कुछ जो नहीं मैं हूँ,
　　इधर मैं हूँ, उधर मैं हूँ ।
मैं चाहूँ क्या ? किसे ढूँढूँ ?
　　सभों में ताना बाना मैं ॥

मैं बातिन, मैं अयाँ, ज़ेर-ओ-ज़बर,
　　चप रास्त, पेशो-पस ।
जहाँ मैं हर मकाँ मैं हर ज़माँ
　　हूँगा सदा था मैं ॥

वह बहरे हुस्नो-खूबी हूँ,
　　हुबाब है क़ाफ़ और कैलाश ।
उड़ा एक मौज से क़तरा,
　　बना नव मिहर आसमाँ में

ज़रो-नेमत मेरी किरणों में,
　　धोका था सुराब ऐसा ।
नज़्ज़ारा नूर है मेरा कि,
　　'राम' अहमद हूँ ईसा मैं ॥

—राम बादशाह

उपासना—

"संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते" । पदार्थ कामना और विषय वासना से सर्व साधारण पुरुषों की यह गति होती है जैसे जल में पड़े हुए तुम्बे की आँधी और अंधि के अधीन होगी । ऐसे अनर्थ का हेतु विषय संग तो हर वक्त ही रहे और इस रोग की निवारक औषधि (उपासना, आत्मानुसंधान) कभी न की जाय तो ऐसी आत्म हत्या के बदले अवश्य

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः" ॥ में दारुण दुःख सहने ही पड़ेंगे ।

× × ×

यदि काँटों पर पड़ जाने से परमेश्वर याद आता हो, तो प्यारे जब देखो कि संसार के काम धन्धों में उलझकर राम भूलने लगा है, झटपट अपने तईं नुकीले काँटों पर गिरा दो और कुछ नहीं तो पीड़ के बहाने याद आ ही जायगा, परदे में रोना, दिल को पीटना, छिपकर डाढ़ें मारना भी अवश्य फायदा करेगा ।

× × ×

जैसा भी पुरुष का विचार और चिन्तन रहता है वैसा ही वह अवश्य हो जाता है, तो ब्रह्म–चिन्तन ही क्यों न दृढ़ किया जाय । अर्थात अपने आप को ब्रह्मरूप ही क्यों न देखते रहें । इसी पर श्रुति वचन है; "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ॥

× × ×

अहंग्रह और प्रतीक उपासना दोनों में ल संसार (बुत) को ढाना इष्ट होता है बनाना न जल ब्रह्म है, स्थल ब्रह्म है, पवन ब्रह्म है, आग है, गङ्गा ब्रह्म है इत्यादि प्रतीक उपासना दर्शक वाक्यों में जल, पवन, आकाश आदि ब्रह्म को कहीं जोड़ना (संकलन करना) न जैसे यह सर्प काला है, इस में सर्प भी रहे काला भी । किन्तु यहाँ तो बाध समानाधि जैसे किसी भ्रान्ति वाले को कहें यह सर्प यहाँ रस्सी काले रंग की तरह सर्प के सा सत्ता वाली नहीं है, किन्तु रस्सी ही है सर्प इसी तरह सच्ची उपासना यह है कि बाध दृष्टि में न रहे, ब्रह्म चित्त में समा जाय । पवन दृष्टि से गिर जाय, ब्रह्म सत्ता मात्र हो, प्रतिमा में प्रतिमापन उड़ जाय, चैतन्य भगवान की झाँकी हो ।

× × ×

जैसे किसी प्रेम के मतवाले घायल का प्रेम पत्र पढ़ा, उसकी दृष्टि तो प्यारे से भर गई अब पत्र किस को दीख पड़े उद्धव को कहनी है यह पाती अब कहँ

…री से लगती है तो जल जायगी, आलों पर …ती है तो गल जायगी)।

× × ×

…उपासना में मगन के लिए इन्द्रिय ज्ञान तो एक …इ वैसी रह जायगी। प्यारे ने चुटकी भरी, चुटकी …तुः कोई चीज नहीं है, प्यारा ही वस्तु रूप …। इसी तरह सब इन्द्रियों का ज्ञान एक ही एक …रे की छेड़ छाड़ रूप प्रतीत होगी:—

…ई पवन जब ठुम ठुमक। लाई बुलावा श्यामका॥

…ई उपासना तो इसी का नाम है, जिस में …न ने तो क्या हिलना शरीर की हड्डी और नाड़ी …क के अणु न हिल जाएं।

× × ×

…साधारणधर्म—

इस वस्त्र विचार का ध्येय हमारे वर्तमान जीवन …। समुचित संचालन करना है। आजकल की …तुओं के साथ इस का स्पष्ट तथा अनुभव सिद्ध …बंध है। आप लोग निराश तो अवश्य होंगे परंतु …ह सत्य है कि हिमालय के गहन वनों में रह आने …र भी मैं किसी गुप्त अथवा गहन रहस्य से आवृत …हीं हूँ। शक्ति को कम से कम नष्ट होने देना, देह …और बुद्धि की क्षति को दूर करना, ईर्ष्या, आडंबर, …ष और विवाद द्वारा पैदा होने वाले संपूर्ण दुरा-…चारों से निर्मुक्त होना, मानसिक अजीर्णता की …रोकथाम करना; बुद्धिसंबंधी दारिद्र्य तथा आध्यात्मिक …पतन को दूर करना, सफलतापूर्ण कार्य के रहस्य …को जानना, प्रेम द्वारा भगवान का दर्शन करना, ज्ञान …के मूल के निकट संपर्क रखना, अपनी मानसिक …समतुल्यता और शांति को स्थिर रखने का प्रयत्न …करना, ये वे विषय हैं जिन्हें मैं [illegible]।

मेरा धर्म हिंदुत्व, इस्लाम [illegible] …लिज्म या प्रोटेस्टेंटिज्म भी [illegible] है किंतु इनके साथ …इसका विरोध भी नहीं। वह [illegible] …प्रकाश, सूर्य, नक्षत्र, [illegible] मन और शरीर द्वारा आवृत है, मेरे धर्म के अंतर्गत है। क्या कहीं कोई प्रिस्बिटीरियन कमल होते हैं? क्या कहीं मेथोडिस्ट छिपकलियाँ हैं? क्योंकि मेरे सम-धर्मी सूर्य की रश्मियाँ, तारों की किरणें, वृक्षों की पत्तियाँ घास के पात, बालू की कणें, व्याघ्रों के हृदय, हाथी, भेड़ें, चींटियाँ, पुरुष, स्त्री और बच्चे हैं। मैं मेल मिलाप में जाति, वर्ण तथा मत का भेद भाव नहीं रखता। मेरे धर्म का एक ऐसा नाम है जो धरा हुआ नहीं है। यह प्रकृति का धर्म है। मैं किसी का कोई खास नामकरण नहीं करता, किसी पर अपनी छाप नहीं लगाता, किसी को अपने एकांत अधिकार में नहीं रखना चाहता प्रत्युत सब की सेवा प्रकाश और आदित्य की भाँति करना चाहता हूँ। इस लिए मैं इसे 'साधारण धर्म' कहता हूँ।

× × ×

वर्णव्यवस्था—

तुम्हारे खुद शरीर में भी कार्य विभाजन है। आँखें केवल देखती हैं सुनती नहीं। कान केवल सुनते हैं परंतु आँखों का काम नहीं करते। हाथ पैरों का काम नहीं करते। पैरों को अपना काम करना होता है और हाथ वही काम करते हैं जो विशेष रूप से उन्हीं का है। क्या यह ठीक होगा कि हम आँखों से सुनें और नाक के बल चलें? क्या हम हाथों से सूँघें और कानों से खायें, नहीं, ऐसी अवस्था में तो हम पिछड़ कर वीर्य-विकास की प्राथमिक अवस्थाओं में पहुँच जायँगे और एकांगी जीवों की भाँति केवल उदरधारी मात्र रह जायँगे जिन उदर द्वारा वे आदि जीव आँख, कान, नाक और पैर के सब कार्य करते हैं। हम ऐसा नहीं चाहते। कार्य विभाजन का सिद्धान्त न्याय-संगत तथा आवश्यक है और इसी सिद्धांत के अनुसार किसी समय भारतवर्ष में वर्णव्यवस्था संस्थापित और नियोजित हुई थी। यह केवल काम का बँटवारा था जिसके अनुसार एक व्यक्ति को पुरोहित का कार्य करना था और दूसरे व्यक्ति को सैनिक का कार्य

क्योंकि यह दूसरा व्यक्ति अधिक युद्ध-रसिक और पशुप्रवृत्तिपूर्ण था जिसमें केवल शस्त्र धारण करने की क्षमता और जिसमें संग्राम द्वारा वैरियों का दर्प-चूर्ण करने की शक्ति थी, ऐसा मनुष्य शिक्षक के शांतिमय कार्यों को नहीं कर सकता था। यह योजना कार्य-विभाजन के सिद्धांत पर ही अवलंबित थी।

कुछ और ऐसे लोग भी थे जो दूकानदारी जैसे बैठे कामों के लिए अधिक उपयुक्त थे। ये लोग पुरोहित का काम उतनी अच्छी तरह से नहीं कर सकते थे जितनी अच्छी तरह वो दूकानदारी का व्यवसाय, इनके अतिरिक्त कुछ आदि-निवासी लोग ऐसे थे जो बिल्कुल असभ्य थे, जिनको किसी प्रकार की भी शिक्षा न मिली थी और जिनका शिशुत्व और बाल्य-काल आलस्य में ही बीता था। ये लोग पुरोहितों का काम नहीं कर सकते थे, और न ये सैनिक कार्य ही कर सकते थे क्योंकि इन्हें समरोचित सैनिक शिक्षा तथा अनुशासन नहीं मिला था। ये दूकानदारी तक नहीं कर सकते थे क्योंकि इसमें भी कुछ चतुरता और व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता थी। एक साधारण मजदूर का कार्य करते थे, जैसे मेहतर अथवा सड़कों पर पत्थर तोड़ने [illegible] मजदूर का कार्य। इस प्रकार भारतवर्ष में समाज चलाने के लिए चार प्रकार के वर्ण विभाग [illegible] हुई थी।

इसी उद्देश्य से भारतवर्ष में 'मनुस्मृति' [illegible] हिंदू धर्मशास्त्र की पुस्तक लिखी गई थी। [illegible] जमाने में यह पुस्तक सब वर्णों के लिए [illegible] थी। इस पुस्तक में प्रत्येक वर्ण के लिए [illegible] अनुमतियाँ, हिदायतें, विधियाँ और नियम [illegible] थे जिनसे समाज का कार्य सुचारु रूप से [illegible] हो सके। इसमें ब्राह्मणों के हित के लिए [illegible] और नियम दिये गये थे और क्षत्रियों के [illegible] उनके उपयोग की बातें बताई गई थीं। [illegible] पुस्तक के निर्माण का यह ध्येय था कि यह [illegible] विभिन्न जातियों को पथ-प्रदर्शन कर सके।

शान्ति

(कहानी)

भगवान चक्रपाणि शेष-शय्या पर विराजमान थे। लक्ष्मी उनका चरण दबा रही थीं। इसी समय ब्रह्मा ने आकर उन्हें प्रणाम किया और कहा कि आप की आज्ञानुसार मैंने मनुष्यों का निर्माण कर दिया। आप अब उन्हें जो वस्तु देना चाहते हों दें। यह सुनकर भगवान ने लक्ष्मी से अपना झोला मँगाया।

[illegible]

शान्ति बच गई तो उन्होंने उसे बचाकर [illegible] छिपा लिया और मनुष्यों को विदा किया।

मनुष्यों के चले जाने पर लक्ष्मी ने [illegible] इस रहस्य का कारण पूछा। भगवान ने [illegible] जब मनुष्य समस्त वस्तुओं का भोग कर [illegible] तो आएगा तो शान्ति की खोज में [illegible] [illegible] इस समय में उसे शान्ति दे [illegible] और अपना राम [illegible] भी [illegible]।

[illegible] की इस चतुराई-भरी [illegible] [illegible] नहीं —

[illegible]

इस वाद से प्रायः अनभिज्ञ है, अतः उसने इस पर विचार ही नहीं किया कि हमारे सिद्धान्तों के साथ इसका कहां तक सामञ्जस्य है। इस वाद के आधार पर जो तथ्य निकलते हैं वह न केवल सामान्य जनसाधारण के अनुभव परन्तु वैज्ञानिक अनुभव का भी खण्डन करते से प्रतीत होते हैं। 'यदि किसी चीज़ की लंबाई को एक दूसरे की अपेक्षा चलनशील दो स्थानों से नापें तो दो भिन्न नाप मिलेंगे और दोनों ही सत्य होंगे; जिन घटनाओं में एक व्यक्ति को यौगपद्य (एक साथ घटित होना) प्रतीत होगा वही दूसरे के लिये विषमकालीन होंगी पर दोनों अनुभव सत्य हैं; दिक् धन्वाकार या यों कहिये कि गोलाकार है; यह विश्व, जो आकाश भी कहलाता है, निःसीम है पर अनन्त नहीं है, पृथ्वी सूर्य्य की परिक्रमा करती है या यह सारा सौर जगत् पृथ्वी की परिक्रमा करता है, दोनों कथन सत्य हैं, यदि वस्तुएं एक दूसरे की ओर खिंचती प्रतीत होती हैं तो यह आकाश का धर्म्म है, किसी आकर्षण सिद्धान्त का फल नहीं, इत्यादि कुछ ऐसे कथन हैं जो अपेक्षा वाद पर निर्भर हैं पर इन के उच्चारण मात्र से विशेष सहायता नहीं मिलती। इतना ही समझ में आता है कि यह सिद्धान्त बहुत ही गम्भीर है। कहने वाले तो यहां तक कहते हैं कि पृथ्वी भर में इस के समझने वाले दस पाँच ही हैं। कुछ लोग इस को पूर्णतया प्रमाणित मानने को तय्यार नहीं हैं। परन्तु ऐसा कोई भी निष्पक्ष विद्वान नहीं है जो आइंस्टाइन की प्रचण्ड प्रतिभा की भूरि भूरि प्रशंसा न करता हो। ऐसे व्यक्ति के वाक्य एक सच्चे वैज्ञानिक के भाव के द्योतक माने जायंगे और उनकी सहायता से हम वैज्ञानिक के मनोदेश में प्रवेश कर सकते हैं। हम यहां उदाहरण के लिये कुछ आइंस्टाइन के एक लेख से लेंगे जिसका शीर्षक है 'धर्म्म और विज्ञान'।

वैज्ञानिक खोज करने वाले मे जो अथक धैर्य पाया जाता है वह कहां से आता है! उसके आत्मबल और संयम का परिणाम है!
स्टाइन कहते हैं 'जो मनोवृत्ति ऐसा क
कराती है वह उस व्यक्ति के मनोभाव से
जुलती है जो धार्म्मिक आवेश या किसी
के वश में होता है। श्रम सङ्कल्प नहीं
की तात्कालिक भूख से उद्भूत होता है।"
स्थल पर वह कहते हैं 'मैं शोपनहार से
कि लोगों को कला और विज्ञान की ओर
वाले उद्देश्यों में एक बहुत प्रबल
नित्य के जीवन के दुःखद रूखेपन और
कैद, अपनी नित्य परिवर्तनशील इच्छाओं के
से भागने को जी चाहता है।'

आइंस्टाइन अपने में एक विशेष प्रकार की
त्मिक अनुभूति पाते हैं। यह अनुभूति उन्हें
देव देवी ईश्वर की उपासना की ओर नहीं
वह सचरित्र हैं, सही पर उनकी अनुभूति
कर्म्म क्षेत्र में उतरने की प्रेरणा नहीं
कर्मिष्ठता उनको गौण प्रतीत होती है।
भावना का कोई केन्द्र नहीं है, इस लिये
वैश्व (सार्वभौम) आध्यात्मिक अनुभूति
वह कहते हैं कि कला और विज्ञान का
है कि मनुष्य में इस भाव को जगावे
रक्खें। उनकी राय है कि यह सच्चा
विज्ञान और कला के ही द्वारा एक मनुष्य
मनुष्य तक पहुंचाया जाना चाहिये, अ
साम्प्रदायिकता के गढ़े में गिर पड़ेंगे।
त्मिक अनुभूति का स्वरूप क्या है?
कहते हैं 'व्यक्ति को मानव इच्छाओं
क्षाओं की निःसारता और बाह्य प्रकृति
अन्तर्जगत में व्याप्त नियमितता और
अनुभव होता है।' उसको वैयक्तिक जीव
जाता है और कैद सा प्रतीत होता है।
असीम समुद्र में पिघल कर मिल जाना

प्रश्न—मनुष्य सबसे अधिक प्रसन्न कब होते हैं ?
उत्तर—जब उन्हें भगवद्-दर्शन होता है।
प्रश्न—भगवद्दर्शन किसको मिलता है ?
उत्तर—जो निर्मल हो।
प्रश्न—हम कैसे निर्मल हो सकते हैं ?
उत्तर—जो निर्मल हैं, उनकी सेवा करने से।
प्रश्न—निर्मल कौन हैं ?
उत्तर—जिसे परम पवित्र भगवान् का संग मिलता [illegible] साधु महात्मा निर्मल हैं।
प्रश्न—साधुओं का संग कैसे होता है ?
उत्तर—अनेक जन्म के पुण्य से और भगवान् की दया [illegible]संग होता है।
प्रश्न—भगवान् की दया कैसे होती है ?
उत्तर—साधुओं या महापुरुषों के संग से और उनकी [illegible] से भगवत्-संग प्राप्त होता है।
प्रश्न—साधु का संग किसे कहते हैं ?

उत्तर—साधु या महापुरुष के साथ बैठने से साधु-संग नहीं होता। उनके पास या दूर रहने से कोई मतलब नहीं। उन पर भक्ति और विश्वास रहना चाहिए, उनकी शिक्षाओं पर मनन करना चाहिए। किसी किसी को साधु के निकट बैठने से भी प्रकृत साधु संग नहीं होता और जो साधुओं से दूर रहते हैं वे भी साधुओं से प्रकृत संग कर सकते हैं। इसलिए शास्त्र कहता है—

दूरस्थोऽपि न दूरस्थो यो यस्य मनसि स्थितः।
हृदये यदि नास्ति समीपस्थोऽपि दूरतः॥

तिस पर भी जो साधु-शिक्षा का मनन नहीं कर सकता, उसे साधु के निकट बैठने से भी यद्यपि साधु संग का पूर्ण फल उसको नहीं मिलता फिर भी उसे विशेष लाभ हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं। साधु के साथ बैठने और सदा ज्ञान-भक्ति की बातें सुनते-सुनते साधु-संग के माहात्म्य से शरीर और मन के अणु-परमाणु बदल जाते हैं। उसे नवजीवन प्राप्त होता है। यही साधु-संग का माहात्म्य है।

भजन

हुई सब का पहिचान भई।
घट घट जो बोलत सोई ईश्वर, यह नहि पाप भई।
बोलन हार न देख पड़त है, रह अन्तर न गई॥
शुद्ध चेतना में थिर जो—सोई ईश सब माहीं।
[illegible] सम दृष्टि [illegible] [illegible] भई॥
पाप पुण्य [illegible] [illegible] [illegible] हैं—सबकी [illegible] भई।
[illegible] छूट गई [illegible] [illegible] [illegible] भई॥
भक्ति योग सब ज्ञान साधन—[illegible] पूरन भई।
वासुदेव बिनु [illegible] [illegible] [illegible] भई॥

—[illegible] श्रीवास्तव

…का साधन समझ कर उसके उपार्जन का यत्न …ते हैं, तो जब तक हम बी० ए० पास नहीं हो …अथवा धन एकत्र नहीं कर लेते या जब तक …इच्छा किसी न किसी कारण से निवृत्त नहीं हो …है, तब तक चित्त में विक्षेप अर्थात् अशान्ति बनी …रहती है, जो दुःख का सामान्य रूप है, और …यह अशान्ति या असमता बढ़ जाती है तो दुःख …र में भान होने लगता है। पर ज्यों ही हम बी० …पास हुए और तृष्णा दूर हुई अथवा धन उपार्जन …गया और बाह्य दशा चित्त के अनुसार हो गई, …चित्त का विक्षेप तत्काल दूर हो जाता है और …अन्तर एक समान अवस्था होते ही प्रसन्नता या …भान होने लग जाता है, अर्थात् तृष्णा के मिटने …पूर्ण होने पर जब चित्त सम या शान्त होता है …सुख भान होता है, और जब इस तृष्णा या …के कारण चित्त असम या अशान्त होता है …दुःख भान होता है। अतएव चित्त की अशान्ति …असमता का नाम दुःख और उसकी शान्ति या …का नाम सुख है। पर चित्त की यह असमता …अशान्ति प्रथम तो अपने स्वरूप के अज्ञान से …फिर उसके पश्चात् तृष्णा इत्यादि से उत्पन्न होती …लिए दुःख का मूल या मुख्य कारण तो …और तात्कालिक या गौण कारण तृष्णा इत्यादि …कहे गए हैं।

दुःख का मूल कारण अज्ञान है, अतएव जो …इस अज्ञान को निवृत्त करे वही दुःख का …करने वाला होता है। अज्ञान नित्य ज्ञान से …होता है, इस लिए दुःख को निवृत्त करने का …मुख्य साधन ज्ञान है … [illegible]

[illegible]

और उचित है, बिना वस्तु के परोक्षज्ञान के उसका अपरोक्षज्ञान प्रथम तो होता ही नहीं, और यदि किसी कारण से हो भी जाय तो ठीक फल नहीं देता। इस प्रकार दुःख का मूल कारण जो आत्मा का अज्ञान, और उस (आत्म-अज्ञान) की निवृत्ति का मूल कारण जो आत्मज्ञान है, उस (आत्मज्ञान) के अनुभव करने के लिए पहले उसके परोक्षज्ञान के पाने की आवश्यकता है। इसलिए दूसरे अध्याय में जब अर्जुन ने अपने दुःख और शोक की निवृत्ति के लिए भगवान की शरण ली और उनसे इस के उपाय पूछे तब सब से पहले भगवान ने श्लोक ११ से अर्जुन को आत्मा का परोक्षज्ञान ही देना उचित और आवश्यक समझ कर ऐसे उपदेश आरम्भ किया:—"जो शोक के योग्य नहीं, उनका तू शोक करता है और फिर पण्डितों की सी बातें बनाता है। भला विचारवान् भी कभी मरों और जीवितों का शोक करते हैं? सब प्राणी अपने आत्मस्वरूप से तो न कभी मरते हैं न जन्मते हैं बल्कि नित्य अविनाशी और शाश्वत हैं। इस देह में जो देही (आत्मा) है, वह शरीर के मरने से न कभी मरता है, न इस के जन्मने से कभी जन्मता है, बल्कि उस को दूसरे (नाम रूप) देह की भी प्राप्ति ऐसे होती है जैसे इस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा। अर्थात् जैसे इस शरीर की उपाधि से शरीर की ये बाल्य, युवा और वृद्ध अवस्थाएं शरीर के स्वामी की ही कही जाती हैं (यद्यपि आत्मा की ये नहीं होतीं) ऐसे ही एक देह के छूटने पर दूसरे की प्राप्ति भी देह के स्वामी में ही कही जाती है (यद्यपि यह आत्मा न कहीं आता है न जाता है और न कुछ [illegible] [illegible]) [illegible]

नित्य भाव (स्थिति) कदापि नहीं रहता; पर जो पुरुष ऐसा मानते हैं कि यह (आत्मा) जन्मता मरता है और ऐसे ही किसी को मारता या मरवाता है, वे कुछ नहीं जानते, क्योंकि यह (आत्मा) अज, अमर, नित्य और अविनाशी है। इसे कभी शस्त्र नहीं काट सकते, पवन नहीं सुखा सकता, जल नहीं भिगा सकता और अग्नि नहीं जला सकती है। अतएव यह (आत्मा) अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य कहलाता है। इस लिए हे अर्जुन ! ऐसा जान कर अब तुझे शोक करना उचित नहीं।"

"और यदि तू आत्मा को नित्य मरने और जन्मने वाला ही समझता है, तो भी ऐसी दशा में तुझे शोक करना उचित नहीं क्योंकि जो जन्मा है वह अवश्य मरेगा ही और जो मरा है वह अवश्य जन्मेगा ही। जब जिसके आरम्भ का पता नहीं, अन्त का पता नहीं केवल मध्य का ही पता है तो ऐसे मध्य में प्रतीत होने वाली वस्तु पर फिर रोना धोना किस काम का। तत्त्व यह है कि सब की देह में देही (आत्मा) नित्य अवध्य है, अतएव सब प्राणियों के मरने वा मारे जाने का तुझे शोक नहीं करना चाहिए।"

इस प्रकार आत्मतत्व दर्शाकर फिर भगवान ने क्षत्री शरीर के क्षात्र-धर्म का तत्त्व दर्शाया ताकि अर्जुन दोनों (शरीर और आत्मा) के ... परोक्ष ज्ञान पाकर कुछ धैर्य युक्त हो जाए ... उस तत्त्वोपदेश को आचरण में ... दूर करता हुआ शान्ति को प्राप्त हो जाए।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्वज्ञान ... लड़ाई झगड़े का नहीं। इसमें वस्तुतः ... आत्मा, विश्व और विश्वात्मा, अज्ञान ... बन्धन और मोक्ष, धर्म और अधर्म, ... और सुख इन सब का परस्पर भेद ... मोक्ष (अर्थात् सच्चे सुख) की प्राप्ति ... का उपार्जन और अनुभव (अर्थात् ... वा भगवद्दर्शन), और निज धर्म को ... लाने के उपाय ही बतलाए गए हैं। ... निमित्त उत्तेजना देने मात्र अथवा नित्य ... प्रवृत्त कराने मात्र के लिए यह ग्रन्थ ... गया हमें दिखाई नहीं देता, यद्यपि कुछ ... दृष्टि हमारे से भिन्न है।

इस प्रकार दुःख वा शोक निवृत्ति ... कारण (आत्मज्ञान) का प्रथम अङ्ग (... बतला कर फिर भगवान् उसके दूसरे अङ्ग (... ऽज्ञान को प्राप्त करने की विधि) का ... वर्णन करते हैं ताकि अर्जुन के शोक, मोह ... की जड़ समूल कट जावे।

भक्त और भगवान

आकुल पंथ न सूझ परै,
मनसा-मृग काम-दवानल घेरौ !
प्यास बड़ी तरुआ चटकें लग्यो,
नाथ ! मया करि कैं टुक हेरौ !

पान कै स्याम-तरंगिनि-पानिप,
कारौ बनैं उजरौ मन मेरो !
"पाइहै 'मान' कहौं जब टेरिहै,
म्राह ग्रसे पै गयन्द ज्यों टेरो !"

—मा...

उत्तर—पहले पहल उच्च स्वर से नाम लेना चाहिए, तो मन स्थिर होने लगेगा। मन स्थिर होने पर अन्तर में जप करना चाहिए।

प्रश्न—नाम का जाप कब करें?

उत्तर—चलते समय, बैठे हुए, उठते समय सर्वदा नाम का जाप करना चाहिए। पहले पहले इस तरह नाम-जप का अभ्यास न रहने पर यह कठिन मालूम होगा। इसलिए सबसे पहले प्रातः काल और सायंकाल दो-एक घंटे तक बराबर उच्च स्वर से नाम जपने का अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न—भगवान् के अनेक नाम हैं। उनमें से कौन सा नाम जपना चाहिए।

उत्तर—राम नाम।

प्रश्न—शिव नाम न जपना चाहिए क्या?

उत्तर—जो शिव हैं, वही राम हैं। शिव राम का एक रूप हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं। तुम चाहो शिव नाम जप सकते हो।

प्रश्न—बाबा, आप कौन सा नाम जपते हैं?

उत्तर—मैं तो प्रथम शिव नाम का जा...
अब राम नाम जपता हूँ। मैं शिव और रा...
अन्तर नहीं देखता।

प्रश्न—शिव और राम दोनों का रूप ...
हैं। इसलिए दोनों एक कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—राम या शिव का स्वरूप क्या है—...
पर तुम्हारा संदेह दूर जायगा।

प्रश्न—राम का स्वरूप क्या है?

उत्तर—राम परमात्मा हैं। जो कुछ ...
देखते हो, सब राम ही का भिन्न भिन्न रूप है।
में राम के सिवा और कुछ नहीं है। तुम ...
इसलिए राम को अ-राम समझ कर दुख पाते हो...
पहले मुख से राम नाम के जप का अभ्यास क...
तुम्हारे हृदय में ब्रह्म-ज्ञान का उदय होगा। त...
कि राम क्या है और शिव क्या है।

प्रश्न—बाबा, मैं यदि राम नाम सदा ज...
मेरा सब दुख दूर हो जायगा क्या?

उत्तर—हाँ, राम नाम जपने से सब दु...
जायँगे और सब कामनायें पूर्ण हो जायँगी।

क़व्वाली

"मैं जुदा हूँ सबसे पर मुझसे जुदा कोई नहीं"

यह मेरी महफ़िल है या अग़यार क्या कोई नहीं।
सुहृद् नरामाचन हूँ मेरा हमनवा कोई नहीं॥
मैं मिला हूँ सब में पर मुझसे मिला कोई नहीं।
मैं जुदा हूँ सबसे पर मुझसे जुदा कोई नहीं॥
गो कि हैं संगिह सारे जिस क़दर हैं नाम रूप।
निर्गुण हर इक से जुदा हूँ यकमला कोई नहीं॥
है सुदा. तमाशा जिसकी है कि खुद आया है वह।

देखता हूँ मैं तो है मेरे सिवा क...
यह भी सच कहते कि जो कहते जुदा...
यह भी सच कहते कि जो कहते जुदा क...
यह भी सच है रह नहीं सकता कोई...
यह भी सच है पर कि मेरा आसरा क...
क्या कहे? किससे 'ऋषी' मैं ब्रह्म हूँ मैं...
सुनने वाला जानता है दूसरा क...

—ब्रह

इतना कहकर पहली कीड़ी तो चुप होगई। अब दूसरी बोली। यह कीड़ी पहिली से कुछ बड़ी थी और उस से अधिक दृष्टि रखती थी 'अर्थात् उसकी आँखें तेज थीं "

दूसरी कीड़ीः—"मेरी बहन तू देखती नहीं है कि क़लम तो बिल्कुल निर्जीव वस्तु है। वह तो बिल्कुल कुछ काम नहीं कर सकती। यह उगुलियाँ इसे चला रही हैं जितनी बड़ाई तूने की है यह सब उगुलियों को मिलनी चाहिए"—

अब एक इन दोनों से बड़ी और सयानी कीड़ी बोली—"तुम दोनों अभी अनजान हो। उगुलियाँ तो पतली पतली रस्सियों की भाँति हैं, वे क्या कर सकती हैं। यह हाथ की मोटी कलाई इन दोनों से काम ले रही है—"अब इन कीड़ियों की माँ बोली"— यह सब क़लम, उगुलियाँ, पैनी, बाजू, इत्यादि इस बड़े मोटे धड़ के आसरे से काम कर रहा है यह सब प्रशंसा इस धड़ को उचित है। इतना कहकर कीड़ियाँ जब कुछ चुपकी हुई तो मैंने उनको यह कहा कि ऐ मेरे दूसरे स्वरूपो यह धड़ भी जड़ रूप है, उसको भी एक और वस्तु का आसरा है अर्थात ज्ञान का। अतः प्रशंसा इस ज्ञान के लिए उचित है। जब मैंने इतना कहा तो मेरे हृदय में आप की ओर से आवाज आई और यह आप के वचन भी मैंने उन कीड़ियों को सुना दिये। उनका सारांश लिखता हूँ"—

मनुष्य के ज्ञान के परे भी एक वस्तु है अर्थात परमात्मा। उस वस्तु के आसरे सब भूत चेष्टा करते हैं। संसार में जो कुछ होता है उसी की इच्छा से होता है। पुतलियाँ बिना तार वाले के नहीं नाच सकतीं, बाँसुरी बिना बजाने वाले के नहीं [illegible] सकती। इसी भाँति संसार के प्राणी बिना [illegible] आज्ञा के कोई काम नहीं कर सकते। जैसे [illegible] का काम यद्यपि मारना है किन्तु वह [illegible] चलाने वाले के नहीं चल सकती। इसी प्रकार [illegible] किसी मनुष्यका स्वभाव बहुत ही खराब [illegible] जब तक उन्हें परमेश्वर न उसकाये वह [illegible] पहुँचा सकता। जैसे राजा के साथ मेल [illegible] राजा के सभी कर्मचारी हमारे मित्र बन [illegible] भाँति परमात्मा को प्रसन्न रखने से [illegible] हमारी अपनी हो जाती है। महाराज जी! [illegible] का कृपा पत्र प्राप्त हुआ था। उससे अत्यन्त [illegible] हुई। महाराज जी यदि आप यहाँ रहना [illegible] बड़ी प्रसन्नता की बात है और यदि यहाँ [illegible] मनुष्य रखना चाहें तो अवश्य रख लें। [illegible] व्यय हो रहा है वहाँ एक आदमी का [illegible] परमात्मा भली भाँति दे देंगे मुझे तनिक भी [illegible] नहीं जिस भाँति जी चाहे करें। मुझे [illegible] तनिक भी क्रोध नहीं है, मैं बहुत प्रसन्न [illegible] आवेश में आकर मनुष्यों के मुख से कई [illegible] जाती हैं हमें सब क्षमा कर देना चाहिए, [illegible] क्षमा कर दें। आप उनसे मेल करलें। [illegible] आप उनका करें अथवा न करें किन्तु [illegible] करलें और सब अपराध क्षमा कर दें। [illegible] क्षमा भूषण होता है। आप इन दिनों [illegible] हुए थे अतः आपके भइयाजी आपके [illegible] यह पत्र विवशता के कारण इतना [illegible] क्षमा कीजियेगा। परमेश्वर आपको [illegible] देगा।

—[illegible]

लाहौर
[illegible] जन सन [illegible]

'ऋषि-संतान'

ip Hip Hurrah! Hip Hip Hurrah !!
Hip Hip Hurrah !!!

[अ]हाहा! ओहोहोहो !! अहाहाहा !! ओहोहोहो !!!

...नंद है दम दम, अहाहाहा, ओहोहोहो।
...दुई में न तुम नहिं हम, अहाहाहा, ओहोहोहो॥

...मन के प्यारो! महर्षि कुमारो!! चक्रवर्ती ...राजाओं की संतानो!!! उठो, जागो, अब क्या ...है! अरे हाय! आओ मेरे साथ खुशियाँ ...लो, नाचो गाओ।

...लूटो, लूटो! आनंद लुट रहा है!! फिर न ...ना कि खबर न हुई।

...मे दौलत लुट रही है अरे लूटे जिसका जी चाहे।
...खे, ढूँढे, परे, हिम्मत करे, ले जिसका जी चाहे॥

...जागो! आँखें खोलो!! चैतन्य होजाओ!!! ...है अब सोते रहना शोभा नहीं देता. वेदान्त का ...उदय हो गया है. अब केवल उल्लू और चिम...ड़ ही सोते और उल्टे लटकते हैं।

...प्यारो! अपनी भूल की चादर उतार फेंको!! ...त्व का तकिया निकाल डालो!!! अरे अपने ...पको जानो तो सही, तुम हो कौन? हाय! तुम ...ते शक्ति हो. पर अपनी भूल ही से, अज्ञान से, ...में लाने वाले रोड़े बन रहे हो। समय है, उठ...ओ! लग जाओ!! और रोड़ों को, वेदांत के ...में सान कर, उन्नति के शिखर पर चढ़ने के ...ये सुंदर सोपान बना लो

तुमने अपने आप को [illegible] समझ रक्खा है [illegible] ने ही एक [illegible] [illegible] सेवक [illegible]

प्यारो तुम [illegible] तुम [illegible] तुम्हारे [illegible]

मनुष्य मात्र के मन पर राज्य किया है। जो आज दिन भी पश्चिम के उन महानुभवों के दिलों पर विजय प्राप्त किये हुए हैं, जिन के आगे आधा संसार सिर झुकाता है।

यह केवल तुम और तुम ही हो जो ऋषि कुमार हो; दूसरा कोई नहीं फिर क्या ऋषियों की पवित्र संतान गुलाम और कुली होगी? नहीं! कभी नहीं!! तीन काल में भी नहीं!!! सिंह के बच्चे सदैव सिंह ही होते हैं, गीदड़ कभी नहीं हो सकते. फिर ऋषियों की संतान?

ऋषि होगी! ऋषि होगी!! ऋषि होगी!!!
ऋषि है! ऋषि है!!

तुम सब ऋषि हो, चक्रवर्ती राजा हो, परन्तु अपने आप को भूले हुए, मदमाते मनुष्य की तरह अचेत।

आज राम तुम्हें बताये देता है, डंके की चोट पर कह रहा है, सुन लो! याद रक्खो!! दिलों पर लिख लो!!! तुम और केवल तुम ही ऋषि कुमार हो! संसार को ऋषि बन कर यह ध्रुव सत्य दिखा देना होगा।

लोग कहेंगे, पिछला राग गाने से क्या लाभ? गीदड़ों की तरह "कभी तो राजा भए थे" चिल्लाने से राजा नहीं हो सकते। जो कुछ अब है, उसी पर ध्यान देना उचित है, पिछली बातों पर नहीं। राम कहता है"—"है, और बहुत लाभ है" यहाँ 'थे' की बात नहीं, 'हो' की बात है। हनुमान इस पिछली [illegible] के याद दिलाने से ही तो वानर से योधा बन [illegible] गया तुम को भी, राम—आज [illegible] कि उन पानों से पांव धरना भी महापाप [illegible] है वरन्—पहले की बातें याद दिलाता है कि [illegible] तुम्हारे ही

जन्म-दाता ऋषि सात द्वीप और नौ खंड में विचरते थे, देखो जाकर, आज भी योरोप, अमेरिका, अफ्रीका, एशिया तथा अन्य छोटे-मोटे द्वीपों में उन के पदचिन्ह पाये जाते हैं।

क्या इतना याद दिलाने पर भी तुम समुद्र न फाँद जाओगे ?

अपने बल, पौरुष, और शक्ति को भूल जाने ही से आदमी कायर कहलाता और नीचे गिर जाता है। जिस आदमी को अपना अनुभव हो जाता है, वह कदापि नीचे गिरा नहीं रह सकता, क्योंकि वास्तव में वह बली है, निर्बल नहीं।

एक बहुत हृष्ट-पुष्ट बनिया एक दुबले मुग़ल से उलझ पड़ा, गाली गलौज के बाद मारपीट होने लगी। बनिया था बलवान् मुग़ल को नीचे गिरा दिया। मुग़ल ने गिरे-गिरे पूछा—"अच्छा भाई ! अब तूने गिरा तो दिया है, यह तो बता दे कि तू है कौन जिसने मुझे गिरा दिया ?" बनिया बोला—"मैं बनिया हूँ, बनिया।" मुग़ल तड़प उठा। उसे याद आ गया कि मुग़ल बनिये से बलवान् होते हैं, फ़ौरन् ही कड़क कर बोला"—"तेरे बनिये की ऐसी तैसी" और आन की आन में बनिये के ऊपर चढ़ बैठा यह है पिछली बातों के याद आने का गुण'

प्यारो ! राम पुकार-पुकार कर कह रहा है। सुनो और अपने पूर्वजों की कहानी सुनो। तुम अपना बल जानोगे, और जान कर जब उसे आचरण में लाओगे, तो तुम भी वही बन जाओगे, जो तुम्हारे पूर्वज थे। बिना जाने शेर का बच्चा गीदड़ ही बना रहता है।

राम तुम्हें बताता है तुम्हारे पास तुम्हारे पूर्वज ऋषियों का दिया हुआ, संचित किया हुआ अतुलित धन है, कहीं हुंडी है, पर बिना भुनाए बेकाम. बल्कि, पुड़ियों में बंधे बंधे [illegible] आगली उठो लेजाओ [illegible] में, और भुनाओ इस हुंडी का हुआ यही [illegible] है उस [illegible] होता है।

प्यारो, फैल जाओ देश देशान्तरों में [illegible] सातों समुद्र मथन कर के चौदह नहीं, [illegible] रत्न लाकर डाल दो भारत माता [illegible] चरणों पर, भर दो भारत का भंडार, [illegible] तुम अपने आप को असली रूप में देखना॥

लो, उठ बैठो ! सारे संदेह मिटा दो! लज्जा, शंका, का आवरण उतार फेंको!! [illegible] बुर्क़ा फाड़ दो !!!

वह देखो पूर्व दिशा की ओर ! [illegible] की सवारी के जुलूस में स्वयं सूरज ही [illegible] उठाए चला आ रहा है, सारे विश्व पर [illegible] बिछ गई है, राम हिमालय की चोटी [illegible] तख़्त पर विराजमान होकर फ़र्मान भेज रहा है "उठो ! होश में आओ !! चैतन्य हो [illegible]

अपनी सारी शक्ति से फ़र्मान की [illegible] में (आज्ञा पालन में) लग जाओ नहीं तो [illegible] कोड़े खाओगे और तिलमिलाओगे।

पर नहीं ! भारत अब जाग रहा है [illegible] चुका है !! अब वह मोह निद्रा में नहीं [illegible]

देखो प्रकाश हो रहा है, डर कर [illegible] पुराने-धुराने खँडहरों, कंदराओं, और [illegible] फिरने का अब समय नहीं, निकल आओ [illegible] बढ़ाओ क़दम, लगाओ दौड़ !!! तुम राम [illegible] हो, रुस्तम हो, भीम हो, शाह हो, शाहंशाह [illegible] तुम किसी से पीछे कैसे रह सकते हो ?

हाय ! अरे जब सब कुछ तुम्हीं हो, [illegible] की भीख कैसी ? अपने को जानो और [illegible]

है केवल देर इरादे की, फिर तुम क्या कुछ [illegible] पर्वत पर तो चढ़ जाते हो, तो जलनिधि को [illegible]

द्रव्य, लक्ष्मी, राज्य की महिमा [illegible] में है तो होने दो, भारत का गौरव [illegible] निर्धनों में है, जिनकी तुम सन्तान हो, [illegible] वही हो-उठो बनो ऋषि और [illegible] गज '' पर याद रहे। केवल ऋषि संतान है

"मायामृग"

(कहानी)

यह संसार मायादेवी की रङ्ग-शाला है, नित्य नये चित्रपट दिखाई देते हैं। जो आज शिशु है, वही कल बालक होगा, और परसों युवावस्था को प्राप्त करेगा, यही संसार का चक्र है।

प्रकृति नित्य नवीन-शृंगार किए निज भक्तों को दर्शन देकर उनकी लालसा तृप्त करती है। उपासक प्रकृति देवी की गोद में ही सुख पाते हैं। अतः मैं और मेरी सखी मृदुला दोनों "सुकेत" के समीपवर्ती सघन 'सेवर्ती' के वन में घूमने गईं।

अरण्य में पदार्पण करते ही एक नवीन स्फूर्ति! एक नूतन जागृति!! मेरी अन्तरात्मा पुलकित हो उठी, हृदय-कपाट खुल गए। हम दोनों ने देवी के अद्भुत सौन्दर्य को देखा, उनकी दया की पात्री बनीं, और देखा देवी के अनन्य भक्तों का समुदाय।

भक्तजन अपने अस्तित्व को मिटा कर देवी की सेवा कर रहे थे और हिंस्रजन्तु जो भक्ति स्वीकृत कर चुके थे, स्वाभाविक वैर को छोड़ कर तन-मन-धन से सेवा में संलग्न थे ऐसी परिस्थिति में भला कौन ईर्षा-द्वेष का पात्र बन सकता था। हम दोनों ने मन ही मन देवी को प्रणाम किया और अनन्य भक्ति माँगी। हमारी भी गणना भक्तों में हुई, हम किंकर्तव्यविमूढ़ सी हो कर सौन्दर्य देखने में रत थीं।

प्रातःकाल का समय था, मञ्जु-रजनी का सुखद समीर अधीर हो कर देवी की शरण में आया था, देवी ने उसको अपने करपल्लवों से मुक्ताहार पहना कर कृतकृत्य किया। वह भी असीम उत्साह से देवी के यश को दिग्दिगान्तर में फैला रहा था मन्द झोकों से तन्द्रिल हुए कलियों को जगाता जा रहा था। खिले हुए प्रसूनों में देवी के विशद मन्द हास का भान होता था

मृग-शावक निर्भय हो कर कुलेलें कर... कस्तूरी मृग मृगियों सहित हरी हरी दूब... रत थे। किन्तु वे पूर्ण भारतीय थे, अत... सत्कार में परम प्रवीण थे।

हम दोनों देवी के अपार सौन्दर्य पर मुग्ध... बालार्क हम पर हँस रहा था, परन्तु हम सौ... अवहेलना कर रही थीं। सहसा एक ... मृगछौना हमारे समीप आकर तृण चुनने ... नय करने लगा, तथा क्षण क्षण बार हमारी ... प्रेममयी दृष्टि फेंकता था। उसे देख कर मैं ... देर तक मौन न रह सकी। मृदुला की ओर ... कर के कुछ दूर्वा तृण हाथ में ले उसकी ओर ...

छौने ने कृतज्ञतापूर्वक कुछ तृण ग्रहण ... और हम दोनों को 'सेव' तथा ... विशाल वृक्षों के नीचे लाकर स्वयं चौकड़ी ... लगा। क्षण वह हमारी ओर आता पुनः तिरो... मिल जाता, इस प्रकार हमारा स्वागत ... रत था।

मैंने मृदुला से कहा:—"देख मृदुले! ... छौना कितना चञ्चल है, किन्तु इसका ... शिशु के समान सुखदायी है। इसके प्रति ... भ्रातृवत स्नेह उत्पन्न हो रहा है। मेरी इच्छा ... निकट रहने की है।"

उसने मेरा परिहास किया और ... 'विदुले'! क्या मनुष्य भी पशुओं से भ्रातृ... कर सकता है, तू तो पगली है! पगली ... शिव की माया का दर्शन करती है। अच्छा अब ... फल खा कर स्वस्थ बनो। इस पागलपन को छोड़... मैंने कहा:—"मृदुले! आज वर्षों बाद मैंने फिर ... को पाया है। मैं इसको कदापि नहीं त्यागूँगी।

वश या आधुनिकता लाने के ख्याल से, जब हम प्राकृतिक भोजन में से पौष्टिक अंश निकालने के दोषी हो जाते हैं, तब हमें दण्ड स्वरूप ऐसा भोजन मिलता है, जो जीवन को पूर्णशक्ति प्रदान करने में असमर्थ रहता है। प्राकृतिक खाद्य पदार्थ के पौष्टिक अंग को लेश मात्र भी निकालना या नष्ट करना भारी भूल है। सम्पूर्ण प्राकृतिक गुणों से पूरित, ताज़ा तथा अमिश्रित खाद्य पदार्थ ही हमें ग्रहण करना चाहिये। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारे सामने थाली में आने के पहिले हमारे भोजन, को किन किन क्रियाओं से होकर गुज़रना पड़ा है। कोई भी वस्तु जो अपना पौष्टिक गुण खोकर रूप बदल कर हमारे सामने आई हो, हमारे लिए अग्राह्य होनी चाहिए।

जापान का प्रधान खाद्यपदार्थ चावल है। १८८० तक वहाँ बेरी बेरी रोग का इतना प्रकोप था कि जापानी जहाज़ों में काम करने वाले एक हज़ार जहाज़ियों के पीछे ३२३ इस रोग के शिकार थे। अनेकानेक खोजबीन के बाद पता चला कि इस महामारी का कारण और कुछ नहीं पर पालिश किया हुआ चावल था। जावा में इस रोग का भीषण प्रकोप रहा। डा० एकमान को ऐसे बहुत से रोगी मिले, जिनपर अनेकों दवाओं का कुछ भी असर नहीं हुआ। अपने बगीचे में टहलते हुए उन्होंने देखा कि कुछ मुर्गियाँ भी वैसेही रोग से ग्रस्त मालूम होती हैं, जैसे कि उनके अस्पताल में दाख़िल मनुष्य रोगी। उन्होंने पता लगा कर यह जान लिया कि इन मुर्गियों का भोजन भी पालिश किया हुआ चावल है। केवल चावल बदल कर थोड़ा सा भोजन सुधार करके उन्होंने रोगियों को अच्छा कर दिया। कृत्रिम भोजन मनुष्य का प्राण-हारक, शत्रु है। क्या इनसे बचना बहुत कठिन है?

मात्रा से अधिक खाना

आवश्यकता से अधिक भोजन करना व्यापक भूल है। बच्चे इस दोष से बहुत कुछ बरी हैं। माताएँ ज़बरदस्ती जब करती हैं, तो बच्चे बीमार होकर उनके अनुपम वत्सलता का जवाब दे देते हैं। जो वयस्क हैं, वह अपनी बुद्धि से काम लेते हैं, पर संयम को बुद्धिमत्ता से गिनना ज़्यादा मूर्खता है'

पेट को आवश्यकता से अधिक भर जाना, भूखा नष्ट करने से भी अधिक हानिकर है। अनावश्यक भोजन ज़हर हो जाता है और पाचन यन्त्रों को अधिक श्रम देकर नुक-सान पहुँचाता है। हमारे शरीर को जितने भोजन की ज़रूरत है, उतने को ही पचाने लायक पाचन इस शरीर में होता है। इस लिए आवश्यकता से अधिक भार पाचन क्रिया पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देता है लोग सच्चे आन्तरिक भूख को अपनी मूर्खता से खो बैठते हैं, और उसे पुनः प्राप्त करने की करने लगते हैं। मनुष्य सोचता है कि वह जितना खाएगा, उतनीही उसकी ताक़त बढ़ेगी। जब उसे अनुभव होने लगता है कि उसे स्वाभाविक लगा करती तो, वह डाक्टर से टानिक माँगता है। उसे नहीं सूझता कि दो-एक बार का भोजन अपनी भूख को दूने वेगसे वापस बुलाया हम भोजन को स्नानादि की तरह नित्यकर्म जाते हैं और परिणामस्वरूप भोजन के सच्चे वंचित रह जाते हैं। इस प्रकार के अति भोजन अपनी शक्ति खो देते हैं, और अपना जीवन देते हैं। यह कहना ग़लत न होगा कि भोजन कारण जितने लोग मरते हैं, उस से कम कारणों से मरते हैं। व्यायाम हीन, बैठक मनुष्य को अधिक खाने की ओर ले जाता है। तथा कामकाजी सुविधा के लिये हमने खाने बना लिया है, पर यह नहीं ख़्याल करते कि उक्त समय पर पेट भरने की ज़रूरत है भी

बिना चबाए खाना भी अधिक भोजन करने व्यर्थ है। यदि आपको जल्दी है, कम खाइए। चबाइए ज़रूर। जो काम आपके मज़बूत दाँतों अपनी कोमल अनड़ियों पर मत छोड़िये। पानी पी-पीकर भोजन को अन्दर ढकेल देना मालूम देता है, पर यह काम जितना आसान है ही अधिक कष्टदायक उसका फल है।

उपवास का महत्व

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए उपवास से कितनी मिलती है, इस बात को हमारे पूर्वजों ने अनेकों से समझाया है। जिस काल में धार्मिक भक्ति मना का बोलबाला था, उपवास को पर्वों के जन साधारण की स्वास्थ्य रक्षा का मार्ग हमारे ने बतला दिया। उपवास के दिन हमारे पेट अन्य दिनों के जमा हुए अपच भोजन को पचाते। करते हैं। उपवास इस बात की गारण्टी है कि

इस हुने देर से धारण आजाय। जीव कोषों को पुनर्यौवन प्रदान करने में उपवास का बड़ा हाथ है। यह बात विज्ञान-सम्मत है।

उपवास में और अनियमित तरह से भूखा रहने में बड़ा भेद है। जब तक कि अन्य घातक कारण न हों, उपवास से मनुष्य मरता हुआ नहीं पाया जाता। जो लोग उपवास में या भूखे रहकर मर गये हैं, उनकी मृत्यु का कारण केवल उपवास ही नहीं, वरन् और भी कारण रहे हैं, जैसे—हवा का अभाव, पानी की कमी आदि। समुद्र में टूट फूटकर पड़े हुए जहाज़ पर के लोग भूख से नहीं मरते, पानी का अभाव उनके मृत्यु का कारण बनता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि नियम के साथ समय में उपवास किया करे तो यह उपवास उस के स्वास्थ्य को लाभ ही पहुँचायेगा।

शरीर स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए हल्का भोजन करना बहुत लाभदायक है। यह ग़लत ख़्याल है कि थाली में जितने अधिक प्रकार के व्यञ्जन हों, उतना ही बढ़िया भोजन हुआ। विभिन्न रुचि के पदार्थ अवसर देकर स्वाद बदल दें, ताकि वास्तव में भोजन का आनन्द आवे और पाचन क्रिया में गड़बड़ी न हो।

नियमित व्यायाम और संयमयुक्त भोजन

साधारण तौर पर यह माना जाता है कि नियमपूर्वक किया जाने वाला व्यायाम शरीर को स्वस्थ और बलशाली बना रख सकता है। यह भी समझा जाता है कि इस के साथ में पौष्टिक भोजन तो ज़रूरी है ही। व्यायाम की महिमा किसी प्रकार कम किये बिना हम यहां एक विद्वान् डाक्टर के अनुभव की चर्चा करना चाहते हैं; जिन्हों ने यह दूर निकालने का यत्न किया कि नियमयुक्त व्यायाम से ही स्वास्थ्य ठीक बना रह सकता है, या व्यायाम किये बिना केवल संयमयुक्त भोजन को अपनाने से स्वस्थ रह सकना सम्भव है या नहीं। [illegible] नियमपूर्वक व्यायाम करना [illegible] के निमित्त उन्हों ने [illegible] आवश्यक पौष्टिक पदार्थ से [illegible] लिखते हैं कि यह सब [illegible] कौ बढ़ाई से कुछ [illegible] बिल्कुल ठीक बना रहा [illegible] दिनों में वर्तमान [illegible]

और किसी प्रकार के दुर्बल लोगों की कमजोरियों ने मुझे नहीं घेरा। मैं उतना ही स्वस्थ था, जितना नियमपूर्वक व्यायाम करने वाले दिनों में रहा करता था। यह ठीक है कि इस डाक्टर के जैसे और भी लोग ऐसा प्रयोग करें तो अनेक लोगों द्वारा प्रयुक्त प्रयोग के लाभ का मालूम करना अधिक निश्चयप्रद होगा। लेकिन इस में किसे सन्देह हो सकता है कि नियमपूर्वक व्यायाम को ही जीवन का आधार बना कर जीवित रहना तब तक लाभकारी न होगा, जब तक भोजन-सम्बन्धी नियम में भी वैज्ञानिक परिवर्तन न किया जाय।

रोग निवारण के लिए पथ्य से जितनी सहायता मिलती है उतनी और किसी उपाय से नहीं। असल बात यह है कि दवा प्रकृति की सहायता मात्र करती है। पथ्यादि उपचार ही रोग निवारण के प्रधान साधन हैं। दवा भी एक प्रकार का आहार ही हुआ, जो शरीर में किसी विशेष पदार्थ की कमी को पूरी करती है। किस रोग में कौन सी दवा दी जाय, केवल यही ज़रूरी नहीं है, पर साथ में पथ्य क्या हो यह भी महत्व की बात है।

भोजन के सम्बन्ध में इतना कहने के बाद पानी के बारे में कुछ कहना आवश्यक है। वास्तव में भोजन से बढ़कर पानी ज़रूरी है। हमारे शरीर का दो तिहाई हिस्सा पानी का है। जहाँ भोजन अधिक कर जाने में ख़तरे की सम्भावना है, वहाँ पानी कम पीने में ख़तरा है। लम्बे उपवासों में पानी अधिक पीकर अन्तड़ियों को गीला रखने की आवश्यकता रहती है। शरीर की अधिकांश गन्दगी तरल होकर बाहर निकलती है। इस लिए यदि हम पानी पीने में कंजूसी करेंगे तो इसका अर्थ यह होगा कि गन्दगी को अपने शरीर में रोककर भयङ्कर परिणाम भोग सकेंगे। पेट भरने के लिये हम भोजन करते हैं, पानी पीकर पेट नहीं भरते। भूख और प्यास की आवश्यकता में अन्तर है। [illegible] भोजन के बीच में यथेष्ट मात्रा में पानी पी लेने से भोजन के समय [illegible]। भोजन के समय [illegible] कम लेना चाहिए, [illegible] लेकिन भोजन को [illegible] भूल है। भोजन [illegible] चाहिए [illegible] दूध पीते [illegible] चाहिए कि दूध पानी नहीं है [illegible] दूध पेय नहीं है वह तो पौष्टिक भोजन है।

आप केवल ३ मास प्रति दिन खाकर रहीं और यौगिक क्रियाएँ करती रहीं। ७ मास तक रजस्राव बन्द रहा, फिर अनियमित होने लगा। २८ वर्ष की अवस्था से पूर्णतः बन्द हो गया।

काम करते २ आप बे सुध हो जाती थीं। १९२५ में श्री गुरु प्रियाजी से भेंट हुई। माताजी इनके लिए और प्रिया जी माताजी के लिए उत्कंठित हुईं। अन्त में दोनों प्रेम से मिलीं और जीवन संगिनी हो गईं। मिलन-समय माताजी का रूप अद्भुत वात्सल्य पूर्ण था। नेत्र प्रेमाश्रु से छलछल थे। मुखमंडल प्रदीप्त था, गौर वर्ण पर रक्तवर्ण टीका सुशोभित था। शिर बँधा हुआ था और सुन्दर चौड़े किनारे की साड़ी पहिने थीं। माताजी ने गुरुप्रियाजी को पान दिया। पान खाने की आदत नहीं थी परन्तु माता का प्रसाद उन्होंने सहर्ष लिया। पारस्परिक घनिष्ठता बढ़ती गई और न जाने कब 'आप' का स्थान 'तुम' ने ले लिया। कभी २ मां कहतीं "इतने दिन तक कहाँ रहीं?" एक दिन उनकी गोद में शिर रख कर माताजी सो गईं। इसके बाद आने जाने का नशा लग गया। फिर गुरुप्रियाजी माताजी की ही हो गईं। उनकी सखी सहायिका बनकर रहने लगीं। आगन्तुकों से माताजी कहतीं "धर्मशाला से आए हो? अपने घर की तलाश करते रहो"। इस प्रकार संकेत द्वारा उनका उपदेशामृत प्रवाहित होने लगा। उन दिनों माताजी सोमवार और बृहस्पतिवार को केवल ३ मास खाती थीं, शेष ५ दिन केवल ९ चावल गिनकर प्रति दिन लेती थीं परन्तु काम में कोई शिथिलता या असावधानी नहीं हुई। बालक की भाँति प्रसन्न होकर आज्ञा-पालन करती थीं।

एक बालक की कर्ण-मूल-वेदना अपने कर-स्पर्श से अच्छी कर दी। भोजन करते समय माताजी ने एक दिन गुरु प्रियाजी को बहुत खिला दिया और कहा आज तो तेने तुमको खिलाया है अब आगे हो तुम को खिलाओगी। बड़ा हुआ भी।

हरि-कीर्त्तन का कार्यक्रम चलने लगा। माताजी भावों के आवेग में अधिक रहने लगीं। उनका शरीर कंपित होता था, नेत्र बन्द हो जाते थे। कभी २ पूरा शरीर ही कीर्त्तन के साथ हिल डुल कर तन देता था। आप खड़ी हो जातीं और अनेक मुद्राएँ प्रदर्शित करती थीं। उनको देखकर ज्ञान पड़ता था कि कोई अलौकिक शक्ति अवतीर्ण हुई है। शरीर पत्ते के समान हलका हो जाता था। कपड़ों की सुध भूल जाती थीं। लोटने लगती थीं। परमहंस रामकृष्णदेव और चैतन्य महाप्रभु कीर्तन में जैसे निश्चल हो जाते थे उसी प्रकार की छवि दिखाई देती थी। नेत्र अपलक हो जाते थे और ज्योति का प्रवाह सा निकलता था। आभा लाल होती थी। कभी गिर पड़तीं और द्रुत वेग से हाथ पैर चलातीं। कुछ समय बाद शान्त भाव होता था, नेत्र बन्द और शरीर स्थिर तथा अचल हो जाता था।

सूर्यग्रहण के अवसर पर माताजी ने हरिकीर्तन किया अपने कोमल सुमधुर कंठ से 'हरे मुरारे मधुकैटभारे-गोविन्द गोपाल मुकुन्द शौर' का गान किया। कहते २ उनके नेत्र भीषण, भृकुटी कराल हो गई और जिह्वा निकल आई। सारा शरीर जैसे अग्नि... करने लगा। कुछ स्तोत्र और बीजमंत्र मुख से निकलने लगे। इसके बाद शान्त होकर कहा "मुझे कोई उठा नहीं सकता, यों ही रहने दो मैं अचल हूँ"। कुछ देर बाद प्रकृतिस्थ हुईं।

कीर्त्तन के समय एक महाशय स्त्रियों पर कुदृष्टि कर रहे थे। मां ने उनको तीव्र दृष्टि से देखकर कहा "तुम हमको देख सकते हो और किसी को नहीं देख सकते।" उनकी दृष्टि ही जड़ हो गई। मां ने कहा "मां किसी पर रोष नहीं करती यह तो एक भाव था जो उस अवस्था पर प्रकट हुआ।" वे सज्जन माता जी के निकट फिर आये और स्वीकार किया कि अब तक उन्होंने किसी भी स्त्री को माँ की दृष्टि से नहीं देखा था। सबको उन्होंने

दृष्टि से ही देखा था। आज पहिला अवसर था जब यह माता जी को मां कह रहे थे और मातृ दृष्टि प्राप्त कर रहे थे। इसके पश्चात् इन महाशय का जीवन कुछ दूसरा ही हो गया।

शाहबाग में नित्य कीर्तन होने लगा। भक्तों की संख्या बढ़ती ही गई। माता जी का भावावेश प्रगाढ़ होता गया। प्रसाद बहुत आता था। वह सब उसी दिन बांट दिया जाता था। माता जी फिर केवल ३ चावल गिन कर प्रतिदिन खाने लगीं।

श्री गुरु प्रिया जी की माता की मृत्यु तिथि पर कंगाली भोजन हुआ। लगभग ३००० दरिद्र नारायन की सेवा की गई। रात्रि भर जागरण हुआ। माता जी ने कहा था "सब कामों के लिए संयम और निष्ठा चाहिए।" कीर्तन हुआ। माता जी का रूप उस महाकाली का था। जान पड़ता था किसी से युद्ध कर रही हैं। जिह्वा निकल आई थी। शान्त भाव होने पर जैसे अपने को ही पूजने लगीं। लोटपोट हुई। नाभी से कंठ तक दीर्घ-निःश्वास चल रहा था। शरीर ठंडा। नेत्र-जल से साड़ी भींग गई। इसके बाद शरीर की मृतक अवस्था हो गई। नख काले पड़ गए। नाड़ी की गति नहीं रही। श्वास बन्द हो गया। नाम कीर्तन होता रहा। कुछ समय बाद स्वाभाविक गौर वर्ण हो गया। स्तोत्र मुख से निकलने लगे। फिर स्वस्थ होकर सो गईं।

भोजन के समय आपने स्वयं भोजन परोसा और कहा "हम सभी दरिद्र हैं। वहीं खायेंगे जहां दरिद्र नारायण ने खाया है।
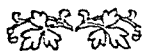
प्रार्थना

ओम् सृष्टि को पैदा करने वाले और उसे नियम पूर्वक चलाने वाले परम पिता! ऐ हम सबको सीधा रस्ता दिखाने वाले सद्गुरु और हमारे हृदय मन्दिरों में विराजने वाले ठाकुरजी महाराज। हम प्रेम से आपकी सेवा में उपस्थित होकर बारम्बार नमस्कार और प्रार्थना करते हैं कि हमें वो बल और बुद्धि दीजिये, जिससे हम सच्चे दिल से आपकी सेवा में लग जावें और आपको अनुभव करते हुए आपकी आज्ञा और इच्छा का पालन करें। हमारा विचार आपका विचार हो और हमारा वचन आपका वचन, हमारा कर्म आपका कर्म हो और हमारी इच्छा आपकी इच्छा। हम हर एक दशा में आपके साथ मगन और सन्तुष्ट हों। आपकी आज्ञा में रहते हुए आपकी सृष्टि की सेवा सच्चाई और प्रेम के साथ करें [illegible] और हमारे सहायक और सचालक हों। हमें वह सब पदार्थ प्रदान करें जिन्हें आप हमारे लिये आवश्यक समझें। हम अपना तन, मन और धन सब आपको अर्पण करते हैं। आप हमको अपना बना लें और संसार में सचाई, प्रेम और ज्ञान फैला कर ईर्षा-द्वेष और पक्षपात की उस भड़कती हुई आग को जिसमें हम सब जल रहे हैं, ठंडा कर दें और अज्ञान का सारा अन्धकार मिटा कर अपने प्रकाश से इस जगत् को प्रकाशित करें, जिससे सब जगह आप ही आप विराजमान और प्रकट दिखाई दें और हम सब आपके प्रेम सागर में लीन हो जावें। फिर आपही के प्रेम से भाई-भाई, बाप-बेटा, स्त्री-पुरुष, राजा-प्रजा, देश-विदेश और जाति-विजाति इत्यादि एक दूसरे को अपनावें और हमें वो बल दीजिये, जिससे प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु को हम आपका स्वरूप देख सकें।

—शान्ति प्रकाश

राम बादशाह का हास्यचन्द्र

(स्वा० राम की एक प्रिय कविता के आधार पर)

हँसिए तो जगती हँस देगी रोओ, बैठे रोओ।
जीवन-धन-आनन्द, वृथा दुश्चिन्ता में मत खोओ॥
जगती दुखिया अपना रोना सदियों से है लादे।
आए कोई इस दुखिया को जी भर खूब हँसा दे॥
गाओ तो गिरि की चट्टानें भी प्रतिध्वनि दे देंगी।
रोओ, दुख की भरी उसाँसें वायु बीच लय लेंगी॥
अट्टहास का घनानन्द का प्रत्युत्तर प्रतिध्वनि है।
चिन्ताकुल मन चिता सदृश है विषमय सर्प अमणि है॥
चाह करेंगे लोग तुम्हारी सदानन्द तुम चाहो।
कष्ट सिन्धु में अपने केवल तुम रोओ, अवगाहो॥
पूर्णानन्द चाहने वाले तेरे साथी सब हैं।
कहो अकेले बैठे बैठे दुख में हम या रब हैं॥

सदा प्रसन्न रहो सुख मानो अगणित मित्र तुम्हें
पर मुहर्रमी मनहूसों से लगते लोग खिन्न
कौन यहाँ है जो ठुकराये प्रेम भरी मधु प्या
लेकिन पियो अकेले बैठे जीवन का विष प्या
करो निमंत्रण धूम धाम से आनन्द उत्सव हों
एकादशी अकेले होगी जग क्या देख हँ
यदि आदान प्रदान, सफलता जीवन में निश्चय है
मरो अकेले, क्या सहायता यदि जीवन में सब है
सुखानन्द जीवनानन्द के अविच्छिन्न प्रांगण है
खुले सर्वदा मुक्तद्वार सब यहाँ प्रणय के पथ है
आयें दल के दल मानवगण जो नित आनन्द घन है
दुख का तो संकीर्ण मार्ग है एकाकी निर्जन है

गीत

ओ साधक, ओ प्रेमिक पागल !
किस ज्योति जलाकर प्राण-दीप,
धरणी पर आते हो अविकल ?
ओ साधक, ओ प्रेमिक पागल !
धरणी पर आओ हे विह्वल !
दुलार अतुल संसार बीच,
आघात दुःख तव हृदय-बीच।
वीणा झंकृत करते अपार।
किस जननी की सुख-स्मित निहार ?
तुम घोर वेदना विपति बीच
हँस देते हो अविचल कल कल ?
ओ साधक, ओ प्रेमिक पागल !
जाने तुम किस की खोज हेतु,
फिरते हो सब कुछ फूँक ताप
तुम किसे चाहते हो, जो यों
है तुम्हें रुलाता कर व्याकुल ?
ओ साधक ओ प्रेमिक पागल !
नहीं भावना नहीं कोइ
क्या जाने साथी है कोइ

(श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित 'ललाम' बी० ए० सी० टी०

किस प्राण-सिन्धु में मरण मूल,
आनन्द भान है तू निश्चल॥

—ललाम

बीदर में गुण्डाशाही

के शरीर पर गोली के निशान दिखाई पड़े। उसी दिन शाम को श्री बलवन्तराव वकील, जो बिल्कुल ही निर्दोष थे और अपने घर पर लौट रहे थे, भीड़ द्वारा मार डाले गये।

सरकारी अनुमान है कि २० लाख का नुकसान हुआ है। यदि मकानों को भी सम्मिलित किया जाय तो ३५ लाख का नुकसान समझा जाता है। इसमें करेन्सी नोट सम्मिलित नहीं है और न प्रामेसरी नोट या व्यापारियों के बहीखाते ही जोड़े गये हैं।"

क्या निजाम हैदराबाद एक निष्पक्ष, स्वतन्त्र और ग़ैर सरकारी जाँच कमेटी नियुक्त कर उसकी रिपोर्ट प्रकाशित करने की कृपा करेंगे? जो लोग अपराधी सिद्ध हों उन्हें दण्ड दिया जाय और जिन पर अत्याचार किया गया है उनकी क्षति पूरी की जाय यदि निज़ाम ने ऐसा न किया तो यह मानना ही पड़ेगा कि सब काम निज़ाम की राय से हो रहा है और निज़ाम पूर्ण रूप से इसके जिम्मेदार हैं। यह सम्भव है कि इस दुर्घटना को दबा दिया जाय जैसा कि आरम्भ से ही प्रयत्न किया जा रहा है। पर आग— अन्याय, अधर्म और अत्याचार की आग—छिप नहीं सकती। एक न एक दिन ज्वाला मुखी पहाड़ की तरह फूट कर इस अन्याय पूर्ण शासन का नाश कर देगी। निज़ाम मुसलमान हैं। खुदा पर उनका ईमान है—कोई देखे या न देखे, ख़ुदा देखता है। और जो दीन दुखियों पर अत्याचार करते हैं खुदा उनका एक क्षण में नाश कर देता है। खुदा के यहाँ न्याय होता है पर ज़रा देर में—

कुछ हिन्दू भाइयों ने यह प्रस्ताव किया है कि कश्मीर के महाराज भी अपनी मुसलमान प्रजा के साथ वही पाशविक व्यवहार करें जैसा कि निजाम ने अपनी हिन्दू प्रजा के साथ किया है। और इस प्रकार 'जैसे का तैसा' के सिद्धान्त के अनुसार जवाब दें कि अन्याय का अन्त हो। अपनी इस दलील की पुष्टी करण में उन्हों ने श्री जिन्ना और श्री फ़ज़लुल के उन वक्तव्यों का हवाला दिया है जिनमें उन्हों खुले शब्दों में यह कहा था कि कांग्रेसी सरकारें प्रान्तों में जो बर्ताव अल्प संख्यक मुसलमानों साथ करेंगी वैसा ही वर्ताव वे बंगाल और पंजाब हिन्दुओं के साथ करेंगे। इस हाथ दे, उस हाथ यह निकृष्ट सिद्धान्त है। उच्च सिद्धान्त नहीं। भी इससे सहमत नहीं। हमारा हिन्दुओं से कहना है कि हिन्दू सत्य, अहिंसा, धार्मिक सहि और क्षमा-प्रदान के लिए प्रसिद्ध हैं। "यूनान, रूमा सब मिट गए जहाँ से—बाक़ी है पर अब नामो निशाँ हमारा।"

क्यों? स्वामी राम लिखते हैं कि "बद का ख्याल विश्वास शून्य नास्तिकता है। यदि किसी ने व्यर्थ अत्याचार किया है तो अहंकार होकर पक्षपात छोड़ कर तुम अपना अगला हिसाब विचारो। तुमको चाबुक केवल इस कि तुमने कहीं अयुक्त रजोगुण में दिल दे आत्म सम्मुख नहीं रहे थे। राम के क़ानून बैठे थे। मन के ब्रह्म के न रहने से यह सब अब उस अनर्थकारी वैरी से बदला लेने लगे हो। ज़रा होश में आओ कि अपनी और भी चौगुना, पँचगुना करके बड़ा रहे प्रतिक्रिया से उस अपराधी-रूप जगत् के सत्य बना रहे हो और ब्रह्म को मिथ्या। जो रुद्ररूप कानून तुमको सत्य स्वरूप विमुख होने पर रुलाये बिना कभी भी नहीं यह ईश्वर उस अत्याचारी वैरी की बारी का है? कोई उस त्र्यम्बक की आँखों में नोन सकता। बस तुम कौन हो ईश्वर के क़ानून हाथ में लेने वाले? जितना औरों को ब चाहता है उतना अपने तईं ब्रह्म ध्यान की गिरा। वैरी का वैरीपन एक दम न तो मरा।"

की पुश्तों की राजनीतिक तथा भौतिक उन्नति पर पड़े।

हिन्दुस्तान के बँटवारे की जो तजवीज मुस्लिम लीग ने पेश की है उसका विरोध आज के जैसे सम्मेलन में जिस में मुख्तलिफ जमातों के प्रतिनिधि मौजूद हैं जल्दी ही और जोरों के साथ न किया गया तो इस से दुनियाँ के मुसलिम व गैर-मुस्लिम रहने वाले हमारे तमाम हम मजहब भाइयों को खास कर हिन्दुस्तान के मुसलमानों को, बड़ा नुकसान पहुँचने का अंदेशा है।

कांग्रेस तो देश की प्रतिनिधि मानी जा सकती है, क्योंकि ११ प्रांत में से सात प्रांत में उसका बहुमत है और आठवें मे भी उसका राजनीतिक नियंत्रण है किन्तु मुसलिम लीग चन्द आम जलसों को छोड़ कर और किस बूते पर हिंदुस्तान के बहु संख्यक मुसलमानों की प्रतिनिधि बनने का दावा करती है। वह मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है या नहीं, यह जानने का एक ही उपाय है और वह यह कि लाहौर वाले प्रस्ताव को लेकर लीग से चुनाव लड़ने को कहा जाय। मुसलिम अल्पसंख्यक प्रांतों में मुसलिम लीग का प्रभाव पहले कुछ रहा भी हो पर लाहौर के फैसले के बाद वह बिलकुल कम हो गया है।

मुसलमान धोखा न खायँ

राजनीतिक ही नहीं, आर्थिक तथा अन्य कारणों से पाकिस्तान की योजना अव्यवहार्य है। यदि मुसलिम लीग बर्मा और सिलोन की तरह प्रांत बनाने के सिवा और कुछ नहीं करना चाहती तो विश्वास करने वाले बेचारे सीधे सादे मुसलमानों को स्वतंत्र मुसलिम राष्ट्र की स्थापना के धोखे में न रखना चाहिये। उन्हें साफ साफ बतला देना चाहिये कि इस तरह ब्रिटेन के नियन्त्रण मे एक और फिलस्तीन स्थापित करने की कोशिश की जा रही है।

स्वतंत्र मुसलिम सम्मेलन में जो प्रस्ताव स्वीकृत किए हैं उनमें जो महत्त्व पूर्ण निर्णय हैं उनका संक्षिप्त में सारांश लिखते हैं।

१—भारत एक और अखंड है उसके टुकड़े नहीं हो सकते। २—पाकिस्तान की योजना तुच्छ, पूर्ण अव्यवहारिक, असंगत और इस्लाम के विरुद्ध है। ३—मुसलिम लीग एकमात्र मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था नहीं है। ४—पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना ही भारतीय मुसलमानों का ध्येय है। ५—ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के एजेन्टों तथा कुछ लोगों का यह कथन निराधार है कि भारतीय मुसलमान भारत की स्वतंत्रता में बाधक हैं।

हम हृदय से स्वतंत्र मुसलिम सम्मेलन का स्वागत करते हैं। श्री जिन्ना की माँग एक से ग्यारह और ग्यारह से एक सौ ग्यारह पहुँच चुकी है। ज्यों ज्यों कांग्रेस श्री जिन्ना की माँग स्वीकार करती जाती थी त्यों त्यों उनकी माँग बढ़ती ही जाती थी। अन्त में उन्होंने पाकिस्तान की योजना पेश की जिसका यह आशय था कि भारत के दो टुकड़े कर दिये जायँ। मुसलिम लीग ने जो यह असंगत और अनुचित योजना पेश की थी उसका प्रतिकार करके दूरदर्शी और देशभक्त मुसलमानों ने स्वयं किया, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। मुसलिम लीग ने मुसलमानों के माथे पर जो कलंक का टीका लगाया है हमें हर्ष है कि स्वयं मुसलमानों ने ही उसको स्वतंत्र मुसलिम सम्मेलन करके शीघ्र धो दिया और इस लज्जास्पद, महाभयंकर योजना का, जो लीग और बृटिश साम्राज्यवाद से जन्मा था, भण्डाफोड़ कर सारे संसार को घोषित कर दिया कि मुसलमान स्वतंत्रता के लिए उतने ही तैयार हैं जितने की हिंदू और साम्प्रदायिकता का प्रश्न बनावटी, कृत्रिम और काल्पनिक है। अब देखिए श्री जिन्ना और लार्ड जेटलैण्ड क्या चाल चलते हैं ?

हम कांग्रेस और स्वतन्त्र मुसलिम सम्मेलन से

अनुरोध करते हैं कि वे देहातों में जा कर मुसलमानों से मिलें और उन्हें स्वतंत्र मुसलिम सम्मेलन और कांग्रेस का निर्णय और संदेश सुनावें। हमें केवल नगर के बसने वाले थोड़े से मुसलमानों से ही सम्बन्ध नहीं है वरन् देहातों में बसने वाली बहुसंख्यक मुसलिम जनता में प्रचार का कार्य तुरंत आरम्भ कर देना चाहिये। हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि दोनों राष्ट्रीय संस्थाओं ने यह कार्य किया तो शीघ्र ही हम अपने लक्ष्य तक पहुँच जायँगे।

इसके साथ ही हम एक खतरे की ओर भी ध्यान आकर्षित करना आवश्यक समझते हैं। कुछ पत्रों ने इस आशय की टिप्पणियाँ की भी हैं। वह खतरा यह है कि कहीं मुसलिम लीग के भड़काने से इस सम्मेलन के कार्यकर्ताओं के मन में अपने को कट्टर मुसलमान प्रमाणित करने की प्रवृत्ति न पैदा हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो यह भी मुसलमानों की ओर से ऐसी मांगों को पेश करने के लिए विवश हो जायगी जो राष्ट्रीयता में बाधक होंगी और समस्या आज से भी जटिल हो जायगी। यदि सम्मेलन ने सम्मिलित निर्वाचन का स्पष्ट समर्थन कर दिया होता तो अच्छा होता। हम आशा करते हैं कि अब भी ऐसा होगा। पृथक् निर्वाचन एक ऐसी पद्धति है जिसके रहते राष्ट्रीय भाव का जड़ पकड़ना प्रायः असम्भव हो जाता है।

दीनबंधु श्री ऐंडरूज़ की महासमाधि

हमें अत्यन्त शोक के साथ दीनबन्धु श्री ऐंडरूज़ की मृत्यु का समाचार प्रकाशित करना पड़ रहा है। आप वास्तव में दीनबन्धु थे। आपने अपना सम्पूर्ण जीवन दीन-दुःखियों की सहायता करने में व्यतीत किया था। थे तो इङ्गलैन्ड के सच्चे सपूत किन्तु आप सारे संसार के लिए उत्पन्न हुए थे। आप उच्च विचार शान्त प्रकृति, निःस्वार्थ सेवा तथा अनुपम त्याग आदि गुणों के मूर्ति थे, मानवता के औतार थे और थे जीवन की सार्थकता के प्रतिबिम्ब। आपके निधन से विश्व के भंडार में एक अलौकिक रत्न का अभाव हो गया। "आपने भारतवर्ष की सेवा करने के लिए जाति, धर्म, आदत और रहन सहन की समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लिया था और अपने ही देशवासियों के प्रबल विरोध तथा घृणा का सामना करते हुए निर्धन और शोषितों के पक्ष का समर्थन करते रहे।" हम जगदाधार से प्रार्थना करते हैं कि वह आपकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे जिसने सहस्रों प्राणियों को आदर्शवादिता का सच्चा पाठ पढ़ाया। हमारा आपका बहुत ही घनिष्ट और पुराना सम्बन्ध था। आप स्वामी राम के अनन्य भक्त और स्वामी नारायण के परम मित्र थे। आपने स्वामी राम के अंग्रेजी ग्रन्थावली (In Woods of God realization) की महत्वपूर्ण प्रस्तावना भी लिखी है। अभी हाल में आपने इसका संशोधन करके 'प्रबुद्ध भारत' में प्रकाशित करवाया था जिसे हम पिछले अंक में दे चुके हैं।

एक बार फिर हम 'व्यावहारिक वेदान्त' परिवार की तरफ से आपकी मृत्यु पर समवेदना प्रगट करते हैं।

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

दीनबन्धु श्री ऐंडरूज़

गांधी जी

"भारत ही नहीं बल्कि मानवताने एक सच्चे सपूत और सेवक को खो दिया। फिर भी उनकी मृत्यु ने उन्हें कष्ट से मुक्त किया और इस पृथ्वी पर आने के उनके उद्देश्य की पूर्ति की। वह उन हजारों व्यक्तियों के हृदय में जीवित रहेंगे जिनसे उनका व्यक्तिगत सम्बन्ध रहा है या जो उनके लेखों और विचारों से सम्बन्ध रखते थे। मेरी राय में ऐण्डरूज़ सर्वोत्तम अंगरेजों में एक थे। उन्होंने जो कुछ किया वह अपने प्रभु ईसा के लिए किया। मैंने ऐण्डरूज से अच्छा ईसाई या मनुष्य नहीं देखा है। भारत ने उन्हें दीनबन्धु की उपाधि दी थी। वे सर्वथा इसके योग्य थे क्योंकि वे सभी देशों के दीन दुखियों के सच्चे सहायक थे।"

कविवर रवीन्द्र

"मेरा यह विश्वास है कि श्री ऐण्डरू[illegible] आत्मा जो मानवता की सेवा के लिए उत्सर्ग[illegible] थी सदा अमर है। मृत्यु उसका नाश नहीं कर स[illegible] और न काल उसे खा सकता है।"

वे सदा अन्याय के विरुद्ध लड़ते रहे। [illegible] से ओतप्रोत उनकी आत्मा ईसा के प्रेमम[illegible] आमंत्रित हुई और उन्हें सच्चा ईसाई बना दिया।

किसी एक व्यक्ति में मैंने ईसाई धर्म [illegible] विजय कभी नहीं देखी थी। ऐसे लोग हैं जि[illegible] हमारा प्रेम इस लिए है कि आवश्यकताएं [illegible] करती हैं। ऐसे लोगों के स्थानों की पूर्ति [illegible] है। पर यह हानि तो अपूरणीय है।

राष्ट्रपति

राष्ट्रपति मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कहा कि 'श्री एण्डरूज उन विशेष व्यक्तियों में थे जिनका मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उनके काम और विश्वास में वह सब भरा था जो ईसाई धर्म में सर्वोत्तम और सुन्दर है। हम सदा उन बातों को कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करते रहेंगे जो उन्होंने हमारी मातृभूमि की सेवा में की हैं। उनकी मृत्यु से संसार की हानि हुई है।'

ग्रन्थ रचना

संक्षिप्त जीवन

श्री चार्ल्स फ्रीर ऐण्डरूज का जन्म इंगलैंड के न्यू कैसिल अपान टाइन नामक स्थान में १२ फरवरी १८७१ [illegible] हुआ था, बर्मिंघम में अ[illegible] शिक्षा हुई। सन् [illegible] में [illegible] कैम्ब्रिज के पेम्ब्रोक कालेज में फेलो [illegible] नियुक्त हुए [illegible] दिल्ली [illegible] कालेज [illegible] [illegible] ...

महालीन श्रीमान् आर० एस० नारायण स्वामी जी महाराज की पुण्य-स्मृति में

श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग द्वारा प्रकाशित—

व्यावहारिक वेदान्त

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर वेदान्त की
व्यावहारिक दृष्टि से प्रकाश डालने वाला मासिक पत्र

वर्ष १	जून १९४०	अङ्क ६

सम्पादक

श्रीचक्रधर 'हंस' नौटियाल एम० ए०, एल० टी०
शास्त्री, हिन्दी-प्रभाकर

दीनदयालु श्रीवास्तव बी० ए०

विशेष सम्पादक

श्री १०८ स्वामी अद्वैतानन्द जी

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०,
विद्यावैभव, इतिहासशिरोमणि

डॉक्टर एन० एन० सेन गुप्त
एम० ए०, पी-एच० डी०

रावराजा डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र
एम० ए०, डी० लिट०

डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
एम० ए०, डी० लिट०

श्री गिरिधारी लाल बी० ए०

मैनेजिंग डाइरेक्टर

श्री रामेश्वरसहायसिंह, हीरापुरा, काशी

प्रकाशक

महात्मा शान्तिप्रकाश
सभापति, श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ

मुद्रक

श्री माधव विष्णु पराड़कर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।=)

ॐ

विषय-सूची।

विषय

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

...१] जून १९४०

आषाढ़ १९९७ [अङ्क ६

निजानन्द

...है फ़लक को तारे, तब बख़्श दूँगा मैं।
...र भर के मुट्ठी हीरे, अब बख़्श दूँगा मैं॥
...सूरज को गर्मी, चाँद को ठण्डक, गुहर को आब।
...मौज अपनी आई, तब बख़्श दूँगा मैं॥

गाली, गलोज, झिड़की, तानें कहूँ मुआफ़।
बोली, ठोली, धमकी, तब बख़्श दूँगा मैं॥
तारीफ़ से परे हूँ, ऐबों से मैं बरी हूँ।
हम्दो-सना-दुआ भी, तब बख़्श दूँगा मैं॥

बाहिर हूँ जाते-मुल्क, यों दस्तपाद कैसी।
औसाफ़ को लुटा दूँ, तब बख़्श दूँगा मैं॥
सहराये-बेकरां हूँ, दरिया हूँ बे किनार।
... को न छोड़, तब बख़्श दूँगा मैं॥

दुःख का कारण

[ब्रह्मलीन श्री नारायणस्वामी जी महाराज]

जिस प्रकार रोग का कारण स्वास्थ्य के नियमों का भंग करना है उसी प्रकार दुःख या शोक का कारण जैसा पहले बताया जा चुका है सुखों के नियमों का तोड़ना है, परन्तु इतने से सुख-दुःख का मूल कारण न ठीक समझ में आता है और न पूर्णतया स्पष्ट होता है, अतः इस लेख में इसे सविस्तार समझाना व स्पष्ट करना उचित समझा गया है।

सबसे पहले हमें यह देखना चाहिये कि मनुष्य में कब और किसके कारण सुख दुख का भान या अनुभव होता है। चाहे आस्तिक हो चाहे नास्तिक, किसी को भी इससे इनकार नहीं हो सकता और मोटी से मोटी बुद्धिवाला भी यह कह और समझ सकता है कि मन के कारण प्रत्येक को सुख-दुःख का भान होता है। जब मन मादक-द्रव्यों के प्रभाव से, क्लोरोफार्म से, प्रगाढ़-सुषुप्ति से, प्राणों के रुकने से या गशी इत्यादि अन्य कारणों से रुक जाता है तब मनुष्य को न दुःख का भान होता है न सुख का। दूसरे शब्दों में यह कि मन के मुर्दा होने अर्थात् मन की गति के नितान्त मन्द पड़ जाने पर मनुष्य को न दुःख का भान होता है न सुख का; बल्कि इन दोनों हालतों में बेखबरी सी छाई रहती है; और जब मन होश में आता है अर्थात् मुर्दापन छोड़ता है तब उस बेखबरी की साक्षी यह इन शब्दों में देता है कि "मैं ऐसी अवस्था में था कि मुझे दुःख सुख कुछ का भी भान नहीं हुआ।" फिर सुषुप्ति से उठकर भी मनुष्य यही बोलता है और क्लोरोफार्म इत्यादि द्रव्यों के प्रभाव या प्राण की गति में रुकावट होने पर भी मनुष्य यही साक्षी देता है कि उस समय का मन की गति के नितान्त मन्द रहने की अवस्था में दुःख सुख इत्यादि की कुछ भी खबर न थी।

इस प्रकार प्रत्येक को अपने ही अनुभव से स्प रहा है कि दुःख-सुख (सबको) मन ही के अर्थात् मन की जाग्रत अवस्था में (सुषुप्ति अव नहीं) भान होता है, बिना मन के न दुःख भान होता है न सुख का।

अब देखना यह है कि मन की किस प्र यह दुःख-सुख भान होता है। जरा विचार करे सर्वसाधारण को यह स्पष्ट हो सकता है कि मन स्थिर नहीं होता अर्थात् जब विक्षिप्त होता दुःख का भान होता है और जब स्थिर या होता है तब सुख का भान होता है। दूसरे श यों कहा जा सकता है कि जब मन की गति ए (एकाग्र या निर्विक्षिप्त one pointed) हो तो सुख का भान होता है और जब वह गति अग्र के अर्थात् नाना ओर दौड़ती अर्थात् विक्षिप्त या व्याकुल होती है तो दुःख का भा है। इस प्रकार मन की एक (निर्विक्षिप्त) तो सुख के भान का कारण और दूसरी (वि चंचल) अवस्था दुःख-भान का कारण होती विचारना यह है कि मन की यह निर्विक्षिप्त या स्थिर अवस्था कब और कैसे प्राप्त होती फिर इस अवस्था में सुख का भान क्यों दुःख का क्यों नहीं होता? और इसके मन की (विक्षिप्त या चंचल) अवस्था कब प्राप्त होती है और उसमें दुःख का भान क्यों वहाँ सुख का भान क्यों नहीं होता? देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन में किसी प्रकार की कामना उठ पड़ती है वृत्ति उस कामना से युक्त होकर उस वस्तु या पदार्थ की प्राप्ति के निमित्त दौड़-धूप में

और जब तक उस कामना का विषय या पदार्थ प्राप्त नहीं होता तब तक यह दौड़-धूप जारी रहती है; और जितना अधिक विलम्ब उस विषय या पदार्थ के प्राप्ति में लगता है, उतनी अधिक दौड़-धूप और उसी के कारण उतनीही अधिक व्याकुलता मन में बनी रहती है और जितनी अधिक व्याकुलता मन में जब तक बनी रहती है उतनी ही अधिक बेचैनी, विक्षिप्तता, या अशान्ति मन में बनी रहती है और ज्योंही उस कामना के विषय या पदार्थ की प्राप्ति होती है कामना स्वयं उड़ जाती है और मनोवृत्ति की दौड़ धूप बंद हो जाती है। व्याकुलता स्वतः दूर हो जाती है और कामना उठने से पहले अर्थात् निष्काम दशा में मन की जैसी निर्विक्षिप्त या शान्त अवस्था थी वैसीही अशान्ति या व्याकुलता-रहित अवस्था पुनः प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि विषय-कामना उठने से पहले या कामना के विषय की प्राप्ति पर तो मन की अवस्था शान्त या निर्विक्षिप्त होती है और कामना उठने पर तथा कामना के पदार्थ की प्राप्ति निमित्त दौड़-धूप में जितने काल तक वह कामना बनी रहती है उतने काल तक मन की अवस्था अशान्त, विक्षिप्त और व्याकुल होती व बनी रहती है। इससे स्पष्ट हुआ कि कामना के उठने पर मन की अवस्था अशान्त या व्याकुल होने लगती है और जब तक वह कामना मिटती नहीं तब तक वह व्याकुल अवस्था बनी रहती है और निष्काम दशा में मन की अवस्था शान्त या निर्विक्षिप्त होती है और जब तक यह निष्काम दशा मिटती नहीं तब तक मन की शान्त या निर्विक्षिप्त अवस्था बनी रहती है।

सर्वसाधारण को यह स्पष्ट है कि नदी या तालाब का जल जब मैला हो और यदि भीतर में मैला न भी हो किन्तु उसके ऊपर काई आच्छादित हो तो उसमें किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता ऐसे ही अगर जल साफ भी हो पर हवा के वेग से जोर से लहरा रहा हो तो भी उसमें किसी पदार्थ का प्रतिबिम्ब ठीक नहीं पड़ता। केवल शुद्ध साफ व शान्त जल में ही किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक पड़ता है और यह प्रतिबिम्ब भी वैसेही प्रकार का दीखता है जिस प्रकार की वस्तु स्वयं होती है, अर्थात् चाँद व तारे इत्यादि जैसे स्वयं शीतल या मंद प्रकाश के होते हैं वैसे उनका प्रतिबिम्ब भी शीतल या मन्द प्रकाश का दिखाई देता है और आँखों को ठंडक देता भान होता है। सूर्य, अग्नि आदि जैसे स्वयं तेजवान या अधिक प्रकाश के होते हैं उनका प्रतिबिम्ब भी अधिक प्रकाश का दीखता है और आँखों को चौंधता या चकाचौंध करता भान होता है। इस प्रकार शुद्ध साफ और शान्त मन में ही मनुष्य के निजात्मा का प्रतिबिम्ब ठीक २ पड़ता है और अशुद्ध मैले तथा अशान्त मन में ठीक-ठीक नहीं पड़ता। परन्तु आत्मा सबका सच्चिदानन्द स्वरूप है अर्थात् सत्-स्वरूप, चित्-स्वरूप व आनन्द-स्वरूप है, अतः उसका प्रतिबिम्ब भी वैसाही भान होता है; इस लिये शुद्ध व शान्त मन में जब आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब की आनन्द-रूप झलक से झलकता या छलकता है तो मन को सुख भान होता है और जब मन के मलिन व विक्षिप्त होने पर निजात्मा का प्रतिबिम्ब ठीक २ नहीं पड़ता और इसी कारण आनन्द की झलक वहाँ नहीं झलकती तो मन को दुःख भान होता है। इस प्रकार मन अपनी निष्काम या शान्त अवस्था में सुख-भान का कारण होता है और अपनी सकाम, चंचल या विक्षिप्त अवस्था में दुःख भान का कारण होता है।

इस सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा को न जानने से ही सर्व साधारण लोग इस सुख-दुःख के भान का मूलकारण कभी मन को समझने लग जाते हैं और कभी कामना या तृष्णा की तृप्ति को। पर विचार-दृष्टि से देखा जाय तो यह मन या मन में कामना या तृष्णा सुख-दुःख के भान के निमित्तकारण तो कहे जा सकते हैं मूल कारण कदापि नहीं क्योंकि आनन्द

की खान तो सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा स्वयं है और उस आत्मा का ज्ञान ही नित्यानन्द में निमग्न करने वाला होता है उसका अज्ञान विपरीत फल देनेवाला। मन व मनोकामना तो उक्त फल के भान कराने में केवल निमित्त कारण बन जाते हैं। मूल कारण कदापि न होते हैं न (स्वयं जड़ होने के कारण) हो सकते हैं।

इस प्रकार दुःख या शोक का मूल कारण तो आत्मा का अज्ञान या अपने आप का भूलना है और निमित्त कारण उस अज्ञान की शाखारूप मोह, तृष्णा, कामना, विषयासक्ति व भीनरी निर्बलता आदि हैं और सुख वा आनन्द का मूल कारण आत्मा का ज्ञान या अपने निज स्वरूप का जानना (अनुभव करना) है और निमित्त कारण उस ज्ञान की शाखा-रूप चित्त-शुद्धि, निष्कामता, मनकी निर्मलता और निर्विक्षिप्तता वा एकाग्रता आदि विषयों से निरासक्ति इत्यादि हैं। पर इस सिद्धान्त या अभिप्राय को नैय्यायिकों ने अपनी निराली विधि से (आत्मतत्त्व को न जानने के कारण) इस प्रकार दर्शाया है कि "अनुकूल वेदनीयं सुखं" = जो वेदना हमारे अनुकूल है वह सुख है और "प्रतिकूल वेदनीयं दुःखं" = जो वेदना हमारे प्रतिकूल है वह दुःख है। उससे वे यह सिद्ध करते हैं कि जो उपाय या वस्तु हमारे चित्त के अनुकूल वेदना उत्पन्न करे वह सुख का कारण है और जो उपाय या वस्तु प्रतिकूल वेदना उत्पन्न करे वह दुःख का कारण है। वास्तव में चित्त का विक्षेप ही अशान्ति है जो फिर दुःख रूप में अनुभव होती है और उसका निर्विक्षेप ही शान्ति है जो सुख रूप में अनुभव होती है। परन्तु इस मानसिक दुःख और सुख के स्वरूप को यदि और विचारा जाय तो यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि बाह्याभ्यन्तर समता का नाम सुख है और असमता का नाम दुःख है अर्थात् जब हमारे चित्त के अनुसार बाह्य दशा प्राप्त हो, अथवा बाह्य दशा के अनुसार हमारा चित्त सम हो तो शान्ति वा सुख का भान होता है, अन्यथा अशान्ति या दुःख का। ...

मानो हमारे मन में बी. ए. पास करने की इच्छा है या हम धन को सुख का साधन समझ कर उसके उपार्जन का यत्न करते हैं तो जब तक बी. ए. पास नहीं हो लेते अथवा धन एकत्र कर लेते या जब तक यह इच्छा किसी न किसी कारण से निवृत्त नहीं हो लेती तब तक चित्त विक्षेप अर्थात् अशान्ति बनी ही रहती है जो ... न्य रूप दुःख का है और जब यह अशान्ति ... गता पढ़ जाती है तब दुःख जोर से भान होने ... जाता है पर ज्योंही हम बी. ए. पास हुए ... दूर हुई अथवा धन उपार्जन हो गया और ... चित्त के अनुसार हो गई तो चित्त का विक्षेप ... दूर हो जाता है और बाह्याभ्यन्तर एक समता ... स्था होते ही प्रसन्नता या सुख भान होने ... है; अर्थात् तृष्णा के मिटने वा पूर्ण होने ... सम या शान्त होता है तब सुख भान होता है। ... जब इस तृष्णा या अज्ञान के कारण चित्त ... अशान्त होता है तब दुःख भान होता है। ... चित्त की अशान्ति या असमता का नाम दुःख ... उसकी शान्ति वा समता का नाम सुख है। ... असमता या अशान्ति प्रथम तो अपने ... अज्ञान से फिर उसके कार्य्य-रूप तृष्णा ... उत्पन्न होती है जिस लिये दुःख का मूल ... कारण प्रथम तो अज्ञान और फिर शाखावत् ... कारण तृष्णा इत्यादि ऊपर कहे गये हैं।

यह अनुभव सिद्ध है कि बाह्य अभ्यन्तर समान अवस्था दो प्रकार से उत्पन्न होती है। ... तो अपने चित्त के अनुकूल बाह्य दशा को बना ... से और दूसरा बाह्य दशा के अनुकूल अपने ... को बना लेने से। पाश्चात्य देश के लोग बाह्य ... को अपने चित्त की वेदना के अनुकूल बनाने में ... हैं और उनका कहना है कि पहले अपने ... कोई वेदना (प्रेरणा, तृष्णा, इच्छा, धड़कन)

ो अथवा उत्पन्न होने दो, और फिर बाह्य संसार इस वेदना (धड़कन) के अनुकूल बनाने की चेष्टा प्रयत्न करो, क्योंकि जब तक यह बाह्य जगत इस ना या धड़कन के अनुकूल न होगा तब तक न कन शान्त होगी और न बाह्याभ्यन्तर सम अवस्था े पावेगी। दृष्टान्त रूप में यों कि हमारे पास समय पाँच पदार्थ हैं, पर हमारा चित्त इन र्थों से तृप्त या सन्तुष्ट नहीं, उस में दो और र्थों की तृष्णा या वेदना उठ पड़ी है, तब हमारे त की दशा ५ (पदार्थ) / ७ (तृष्णा) हो जायगी। और तक हमारे प्रयत्न से पाँच पदार्थों के स्थान सात पदार्थ नहीं हो लेंगे अर्थात् जब तक हमारे पदार्थों की तृष्णा दो पदार्थों के लेने से मिट ो जाती या पूर्ण नहीं हो लेती, या दूसरे शब्दों यों कि जब तक दो पदार्थों के पा लेने पर हमारी ाभ्यन्तर अवस्था सम अर्थात् ७ (पदार्थ) / ७ (तृष्णा) ो हो लेती तब तक न चित्त शान्त होगा उसकी धड़कन बन्द होगी, और न इसी े सुख का ही भान होगा। अतएव चित्त में ना (पदार्थ की तृष्णा व धड़कन) के उठने पर उस (वेदना) के अनुकूल बाहर की दशा बनाने यत्न करना चाहिये ताकि वेदना अनुकूल बाह्य- ार होते ही चित्त की धड़कन बन्द हो और सुख- ि का लाभ हो। पर धर्म-शास्त्रों का सिद्धान्त, विशेष के वेदान्त शास्त्र और गीता का सिद्धान्त इस से लकुल भिन्न है। गीता मानती है कि सुख-भान होने के ये बाह्याभ्यन्तर सम अवस्था का होना तो आव- क है और इसी लिये इसी अवस्था को वह योग ानन्द स्वरूप में मग्न होना मानती है। पर चित्त की वेदना (धड़कन या तृष्णा) के ुकूल पदार्थों का इकट्ठा करके अर्थात् बाहर के ने से, बाह्याभ्यन्तर सम अवस्था को प्राप्त करने ो जो उपाय है उसको गीता ठीक नहीं मानती।

गीता का कहना है (और यह सबको अनुभव भी है) कि जब हम तृष्णा की पूर्ति से, अर्थात् चित्त की वेदना के अनुकूल बाहर की दशा बना लेने से बाह्याभ्यन्तर सम अवस्था प्राप्त करते हैं तो वह सम अवस्था प्रथम तो चिरस्थायी रहती नहीं, दूसरे उस सम अवस्था के प्राप्त होने के थोड़े ही काल बाद पहले से भी ज्यादा असम अवस्था स्वतः आच्छादित हो जाती है और इसी लिये हम थोड़ा सा सुख या शान्ति का भान कर लेने के बाद पहले से भी ज्यादा अपने को अशान्त पाने लग जाते हैं, क्योंकि तृष्णा की पूर्ति तृष्णा को तृप्त या शान्त नहीं करती बल्कि यह पूर्ति उसे पहले से भी ज्यादा वेग में बहाने लग जाती है। और यह प्रत्यक्ष नियम है कि जब हम अपनी वेदना (विषय-तृष्णा या पदार्थों की इच्छा) के अनुकूल पदार्थों के पाने का प्रयत्न करते हैं तो पदार्थों के प्राप्त होने के कुछ ही काल बाद उक्त वेदना (तृष्णा या इच्छा) की गति हम अपने में पहले से कई गुना ज्यादा पाते हैं मानों जैसे इस समय हमारे चित्त की दशा ५।७ है अर्थात् पाँच हमारे पास पदार्थ हैं और सात हमारी इच्छायें व वेदनायें हैं और हम दो पदार्थों को (जो इच्छाओं की संख्या से कम हैं और इस कमी के कारण बाह्या- भ्यन्तर अवस्था असम है) पाने का यत्न करते हैं और जब यह दो पदार्थ अपने परिश्रम से पा लेते हैं तो तृष्णा व पदार्थों की संख्या सम होने से हमारी बाह्याभ्यन्तर अवस्था सम हो जाती है, और हम शान्ति या सुख-लाभ करते हैं। पर ज्योंही हम भारी परिश्रम से अपनी तृष्णा व वेदना के अनुकूल दो पदार्थों को पाकर सम अवस्था उत्पन्न करते हैं त्योंही थोड़े काल बाद हमारे बिना यत्न और परिश्रम के तृष्णा या वेदना की गति (संख्या) स्वतः पहले से अधिक बढ़ जाती है और असम अवस्था हम पर पुनः आच्छादित हो जाती है अर्थात् ७ (पदार्थ) / ९ (तृष्णा) में जब हम ऊपर ढंग से भारी परिश्रम से

पाँच के मान बनाने लगते हैं तो नीचे के हर में बिना हमारे परिश्रम के मान स्वतः नौ (९) हो जाते हैं और जब हम अंश (पदार्थों) को पाँच का दस यत्न-पूर्वक करते हैं तो हर (तृष्णा-संख्या) बिना प्रयत्न के मान का चौदह स्वतः हो जाता है। इस प्रकार अंश (पदार्थ) की संख्या ज्यों ज्यों हम परिश्रम द्वारा अधिक करते जाते हैं, त्यों-त्यों हर (तृष्णा) की संख्या बिना हमारे परिश्रम के स्वतः अधिक होती जाती है। अतएव नाना प्रकार के (असंख्य) विषय पदार्थों के पा लेने पर भी तृष्णा की तृप्ति या वेदना की बाहर से अनुकूलता ठीक नहीं होने पाती; यदि कुछ काल के लिये किंचित होती भी है तो तत्पश्चात पहले से भी अधिक अतृप्ति, अशान्ति या प्रतिकूलता उत्पन्न हो जाती है। इस लिये शान्ति या सुख के पाने का यह उपाय गीता को माननीय नहीं है, क्योंकि इस से निरन्तर सुख या शान्ति मनुष्य को मिल नहीं सकती। गीता कहती है कि अपनी वेदना (तृष्णा या इच्छा) के अनुकूल बाह्य जगत को करना प्रथम तो अपने वश की बात नहीं, यह अधिकतर प्रारब्ध-वश है; और यदि परिश्रम द्वारा हो भी जाय तो चिर-काल तक वह स्थिति रहती नहीं बल्कि कई अंशों में पहले से भी अधिक प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न हो जाती है और इसके विपरीत यदि हम इच्छा के अनुकूल अपने चित्त को बनाने या अभ्यास अर्थात् बाह्य-अवस्था के अनुकूल चित्त की वृ (जो अपने वश की बात है) उठाते रहें और कि की वेदना के अनुकूल बाह्य जगत् (हर) को क का परिश्रम न करें (जो प्रायः अपने वश की नहीं) बाह्याभ्यन्तर सम अवस्था हमें शीघ्र हो जाती है और फिर इसके बाद वह अनुकूलता या समानता पहले से अधिक दृढ़ व परिप जाती है, घटती या शिथिल नहीं होने

अर्थात् $\frac{५ \text{ (पदार्थ)}}{७ \text{ (तृष्णा)}}$ को ७।७ बनाने के

पर हम विषय, तृष्णा को कम करें (सम अवस्था) बनाने का यदि प्रयत्न तो पूर्व विधि की अपेक्षा यह रीति (सम लाने की) बहुत उत्तम, ठीक, सहल और सुगम और इस से उक्त समता स्थायी भी बनी रहती लिए अर्जुन को भगवान् गीता में कहीं विषय विषय-तृष्णा की चाबुक से पदार्थों के इकट्ठा उपदेश नहीं देते, बल्कि तृष्णा तथा विषयों में रहने का और दुःख-सुख, शीत-उष्ण आ द्वन्द्वों में अपने को समुचित रखने का उपदे

कामना

सुन्दर होवें सेज, फूल से सजा बिछौना।
कोठे हों पटदार, भरा हो सेज खिलौना॥
वस्त्र-भूषण सजे, बने हों छैल छबीले।
हैं [illegible]॥
किन्तु [illegible] सुख की।
[illegible]
[illegible]
[illegible]॥

—हरिगोपालानन्द शर्मा

लीला

राम अनन्त अपार है, जिसका अन्त न
लीला करता आप है, लीला भी है
लीला भी है आप, आप ही
और [illegible] ध्यान, [illegible]
विष्णु महेश गणेश, सरस्वति
[illegible] आप आप ही

—स्वामी गोविन्द

स्वामी नारायण और व्यावहारिक-वेदान्त

सम्वत् १९८३ की घटना है। श्रीराम नवमी के अवसर पर ब्रह्मलीन श्री नारायण स्वामी, सेवासमिति के स्वयंसेवकों के साथ, मेला का प्रबन्ध करने के लिये और यात्रियों को सुख पहुँचाने के लिये श्री अयोध्याजी पधारे थे। स्वयंसेवकों को जहाँ-तहाँ उपयुक्त स्थानों में नियुक्त कर स्वयं श्री नागेश्वर नाथ मंदिर के फाटक पर खड़े थे। यात्रियों की बड़ी भीड़ थी। नीचे पुलिस वाले रोक-थाम के लिये बाँस गाड़ कर समुचित प्रबन्ध कर रहे थे। १० बजे दिन का समय था। मेला बढ़ता ही जाता था। रेल-पेल की समस्या थी। कंधे से कंधे छिलते थे और लोटे पर लोटे दबते थे। ऐसे कठिन समय में निर्बलों, अशक्तों, बूढ़ों और बच्चों की दशा दयनीय होती है। वास्तव में, इन्हीं की रक्षा के लिये सारा प्रबन्ध होता है, चाहे गवर्नमेंट की ओर से हो अथवा जनता की ओर से। संयोगवशात् एक पाँच वर्ष का बालक भीड़ में घुस गया। भीड़ में दब-दुब कर एकाएक वह ऊपर उठ गया। कोई सहारा नहीं, कोई अवलम्ब नहीं, निराधार वह बालक काफी ऊँचाई से धराशायी होने ही वाला था कि नारायण स्वामी की दृष्टि उधर आकृष्ट हुई और उन्हों ने अपनी जान की परवाह न करके तुरन्त कूद कर उस बालक को पकड़ लिया और गोद में उतार कर पृथ्वी पर सुरक्षित स्थान में उसे खड़ा कर दिया। चारों ओर से धन्य-धन्य और जय जय कार की ध्वनि होने लगी।

इसी का नाम व्यावहारिक-वेदान्त है। दूसरे के हित के लिये अपने प्राण का लोभ छोड़ कर अपने को न्योछावर कर देना व्यवहार में ज्ञान ही सच्चा वेदान्त है। स्वामी रामतीर्थ जी ने अपने अमर व्याख्यानों में इसी को व्यावहारिक-वेदान्त कहा है।

सच पूछिये तो सन्तों की परिभाषा में इसी को उपकार कहते हैं। यह उपकार-वृत्ति सन्तों में स्वाभाविक है और साधारण जनों में आकस्मिक है। जिसके साथ उपकार किया जाता है वह तो उपकारी के हाथ बिना मोल बिक ही जाता है। साथ ही भगवान् भी उसके हाथ बिक जाते हैं; क्योंकि रक्षा करना भगवान् ही का काम है।

यह उपकार-वृत्ति कभी कभी पालतू पशु में भी पाई जाती है। सं० १९८६ में झूलनोत्सव पर श्री अवधपुरी में चारों तरफ से यात्री आये हुए थे। घाटों पर बड़ी भीड़ थी। श्रावण शुक्ला एकादशी के दिन ८ बजे स्थानीय लाला वासुदेव खत्री का परिवार स्नान करने के लिए स्वर्गद्वार घाट पर गया। चार-पाँच स्त्रियाँ, एक नौकर, एक दासी और ४ वर्ष का एक बच्चा एवं एक पालतू कुत्ता था। घाट पर यात्रियों की काफी भीड़ थी। सब लोग सामान (वस्त्र आदि) धरने और स्नान की तैयारी में व्यस्त थे। इतने में वह छोटा बच्चा सीढ़ियों से उतर कर सरयूजी में चला गया। परिवार में से किसी ने नहीं देखा, सब बेखबर थे। कुत्ते ने देखा। वह तुरन्त जल में प्रवेश कर बच्चे की बाँह को अपने दाँत से पकड़ कर उसे किनारे खींच लाया। उसकी जान बच गई और साथ ही उसके बाँह पर कुत्ते के दाँत का चिह्न भी नहीं था। सब लोग इस अद्भुत घटना पर आश्चर्यचकित रह गए। कुत्ते की स्वामि-भक्ति, उसकी तत्परता और सावधानता की प्रशंसा करने लगे। एक वृद्ध यात्री ने कहा—"स्वयं भगवान ने ही कुत्ते के बहाने बच्चे की रक्षा की है नहीं तो इस घटना में इतना चमत्कार नहीं आता।" एक भद्र पुरुष ने कहा—"भगवान की आज्ञा के बिना जब एक पत्ता भी नहीं हिल

सकता तब इस घटना में परमेश्वर की प्रेरणा तो स्पष्ट ही है, इस से कौन इनकार कर सकता है।"

नोट—वेदान्त की सच्ची शिक्षा को व्यवहार में परिणित करने के लिए ब्रह्म लीन श्री आर० एम० नारायण स्वामी ने श्री अवध सेवा समिति की स्थापना की थी। श्री रे बराबर कुम्भ मेले, दुर्भिक्ष और महामारी के दैनिक साधारण स्वयं सेवक की भाँति काम करते दिखाई पड़ते थे।

—श्री बालकराम विनायक

कैसे हैं बँधते भगवान

कैसे हैं बँधते भगवान।
जिसकी माया के बन्धन में है आबद्ध जहान॥
सब कहते निज भक्तों के वश में हैं श्री भगवान।
कहत सुनत अति सुगम ध्यान में लावत अगम महान॥
वेद पुराण शास्त्र सब जिसके हैं करते गुणगान।
नेति नेति जग भरमावत अन्त न मिल्यो प्रमान॥
साँच-झूठ को भेद कहै को, केवल वचन विधान।
बुधि-विवेक-बल काम न आवत सब है रह्यो अजान॥
बुध जन यों कुछ भेद बतावत-यों बँधते भगवान।
समुझहु गुनहु भक्त जन जो कुछ इसमें भेद महान॥
बंधन का है भाव यही सर्वत्र मिले भगवान।
जित देखूँ तित उसको देखूँ, यही रहस्य महान॥
जल, थल, नभ सर्वत्र उसी प्रभु का ही होवे भान।
रोम रोम में केवल उसका ही हो तत्व प्रधान॥
नेत्र-जोति प्रभु मय हो, रसना पर हो प्रभु गुणगान।
रग-रग, श्वाँस, रक्त-बूँदों तक में हो प्रभु का थान॥
जो जन कण कण, अणु अणु तक में लखते उसकी शान।
प्रतिक्षण प्रतिपल जिसके श्रवणों में उसका है गान॥
जग में केवल प्रभु को तज नहिं जिसके हित है आन।
फिर कैसे उससे बाहर हो सकते दया-निधान॥
यही बाँधना औ बँधना है कहता यह विज्ञान।
यह रहस्य जो जाने उसके वश में हैं भगवान॥

—पुष्प

व्यावहारिक वेदान्त

"व्यावहारिक वेदान्त" के आचरण से ही सच्चा सुख अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त हो सकती है। अतः सब से पहिले इस विषय पर विचार करना चाहिये कि "वेदान्त" क्या है और व्यवहार में इसका उपयोग किस तरह होता है ?

"वेदान्त" किसी विशिष्ट धर्म (मजहब) मत सम्प्रदाय या पंथ का नाम नहीं है और न किसी ग्रन्थ विशेष तक ही "वेदान्त" परिमित है। वेदान्त शब्द का अर्थ है—जानने का अन्त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा। जानने का अन्त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा प्रत्येक व्यक्ति के "अपने आप" में होती है। जब तक अपने से भिन्न कोई दूसरी वस्तु रहती है, तब तक जानने का अन्त नहीं होता, क्योंकि जब तक जानने वाला (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) का अलग अलग अस्तित्व रहता है तब तक एक दूसरे का जानना अथवा ज्ञान बना रहता है, परन्तु जब जानने वाला (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) की पृथकता मिट कर एकता हो जाती है अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का सब की एकता रूप "अपने आप" ([illegible]) में लय हो जाता है तब जानने के लिये कुछ भी अवशेष नहीं रहता, केवल "अपना आप" ही शेष रहता है, जो जानने (ज्ञान) का विषय नहीं है, क्योंकि जब अपने से भिन्न कोई दूसरा हो तभी जानने की क्रिया हो सकती है। अतः जानने का अन्त "अपने आप" [illegible] है

दूसरे प्रकार से [illegible] अपने आप [illegible] [illegible] है, परन्तु [illegible] "अपने आप" को [illegible] अपने अनुभव [illegible] अनुभव करना है [illegible]

किसी को ज्ञान नहीं है कि जिसे दूर करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता हो। "अपने आप" से कोई अनजान नहीं है। यह कोई भी नहीं कहता कि "मैं नहीं हूँ"। "अपने आप" से भिन्न जितने पदार्थ हैं उनकी दूरी (पृथकता) मिट कर ज्यों ज्यों समीपता (एकता) होती जाती है, त्यों त्यों उनका ज्ञान घटता जाता है और जब सारी पृथकता—सारा अन्तर—मिटकर सब की "अपने आप" में पूरी एकता हो जाती है तब ज्ञान की समाप्ति हो कर केवल "अपने आप" का अनुभव मात्र ही शेष रह जाता है, अर्थात् सभी पृथकताओं का "अपने आप" में समावेश होने का अनुभव हो जाता है, अतः यह अनुभव ही "वेदान्त" है।

वेदान्त किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष, समाज विशेष, देश विशेष अथवा काल विशेष में सीमा बद्ध नहीं है, क्योंकि "अपने आप" का भाव अर्थात् "मैं हूँ" यह अनुभव समस्त भूत प्राणियों में सब देश और सब काल में एक समान बना रहता है। अतः सब की पूर्ण एकता स्वरूप "अपने आप" का यथार्थ अनुभव ही "वेदान्त" है, चाहे वह अनुभव किसी भी व्यक्ति को हो। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि अपने आप का अनुभव तो सब को है परन्तु इसका यथार्थ अनुभव किसी को ही होता है "मैं हूँ" यह तो सब अनुभव करते हैं, परन्तु "मैं क्या हूँ" इसका यथार्थ अनुभव सब को नहीं [illegible] स्थूल, सूक्ष्म अथवा [illegible] अपने आप [illegible] [illegible] "अपने आप" [illegible]

जन्मने मरने वाले हैं, परन्तु "अपना आप" तो सब में एक है और समान भाव से सदा विद्यमान तथा सदा एक सा रहता है। इसलिये परिवर्तन-शील शरीर "अपना आप" नहीं हो सकता, किन्तु जो सब शरीरों का आधार सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा है, जो शरीर का रूप धारण करता है और प्रत्येक शरीर को चेतना देता है, जो प्रत्येक शरीर का अस्तित्व बनाये रखता है जो प्रत्येक शरीर का प्रकाशक है और उसका ज्ञान रखता है, एवं जो प्रत्येक शरीर को गति देता है, वही सच्चा "अपना आप" है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थूल शरीर के सब अवयवों—आँख, नाक, कान, मुख, सिर, हाथ, पाँव, हड्डी, मांस, रक्त, नस, नाड़ी, चमड़ी आदि को "मेरे" कहता है और चतुर्विध अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) एवं पाप-पुण्य, सुख-दुःख राग-द्वेष आदि सूक्ष्म शरीर के अवयवों और विकारों को भी "मेरे" कहता है। इस से स्पष्ट है कि वह "अपने आप" को स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का स्वामी मानता है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर के सब अवयवों द्वारा "मैं" यानी "अपना आप" स्थूल व्यापार करता है और नाना भाँति के स्थूल भोग भोगता है, स्वप्न अवस्था में जब स्थूल शरीर के सब व्यापार बन्द हो जाते हैं एवं उसका ज्ञान भी नहीं रहता उस समय भी "मैं" यानी "अपना आप" सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वप्न के व्यापार करता है और सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा की अवस्था में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों के व्यापार बन्द हो जाने पर एवं सुख-दुःख आदि का कुछ भी ज्ञान न रहने पर भी "मैं" यानी "अपना आप" कारण रूप से गाढ़ निद्रा के आनन्द का अनुभव करता है और जागने पर कहता है कि "मैं बड़े सुख से सोया"। इसी तरह तुरीय अवस्था अर्थात् अन्तःकरण वृत्ति की निर्गुण अवस्था में सब के सांसारिक व्यापारों से पृथक रहने पर भी "मैं" यानी "अपना आप" अपने आनन्द में स्थित रहता है। शरीरों के बनने से जन्म के पूर्व और उनके बिगड़ने अर्थात् मरने के बाद भी "मैं" यानी "अपना आप" अपने संस्कारों अर्थात् मानसिक क्रियाओं के संचित संस्कारों के अनुसार, कभी कारण रूप से तमोगुण की वृद्धि दशा में, अथवा पंचभौतिक जड़ अवस्था में—पृथ्वी, जल, तेज, वायु अथवा आकाश-रूप में—रहता है, जिस दशा में चैतन्यता यद्यपि कारण रूप से रहती है, परन्तु व्यक्त (प्रकट) नहीं होती। जब चैतन्यता के संस्कार उद्भव (विकसित) होते हैं, तब पृथ्वी में से (जड़ अवस्था से) निकल कर वनस्पति-रूप से रहता है, फिर अधिक चेतना के संस्कार विकसित होने पर वनस्पति-रूप में प्राणियों के उदर में जाकर उनके रज-वीर्य रूप होकर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनियाँ धारण करता है। इस तरह अपने मन के संस्कारों के अनुसार कभी निम्न की क्रमोन्नति की सीढ़ी चढ़ता और कभी उतरता हुआ नाना रूप धारण करता है। कभी सत्गुण की प्रबलता-जन्य उन्नत संस्कारों के कारण क्रमोन्नति की क्रिया के बिना ही विकास की उच्च अवस्थाओं में सम चढ़ जाता है और जब सब संस्कारों और वासनाओं से रहित हो जाता है, तब नाम-रूप एवं विकारों से रहित होकर निर्विकार अवस्था में अपनी स्वमहिमा में स्थित रहता है। परन्तु किसी भी अवस्था में "मेरा" यानी "अपने आप" का कभी अभाव नहीं होता क्योंकि यह सत्-चित्-आनन्द है, और सदा बना रहता है (बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ३ और ४)

सब के "अपने आप" के अस्तित्व से ही सब का अस्तित्व है। सब को सत्ता देने वाला "अपना आप" = आत्मा है। "अपने आप" के बिना अन्य किसी का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। "अपना आप" होता है तब दूसरों की प्रतीति

हिंदी साहित्य में उपासना का स्वरूप

(लेखक—श्री डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एम० ए० डी० लिट०)

साहित्य और उपासना दोनों के मूल में एक ही तत्त्व काम करता है। घनीभूत भावना का एक-मुख्य विकास साहित्य और उपासना दोनों को जन्म देता है। यद्यपि साहित्य का क्षेत्र उपासना के क्षेत्र से बहुत विस्तृत है तथापि उसका एक अंश उपासना के क्षेत्र से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। बल्कि कहना चाहिए कि इस दृष्टि से ये दोनों एकही वस्तु के दो रूप हैं। मन प्रवृत्ति के क्षेत्र में जो उपासना है अभिव्यञ्जना के क्षेत्र में वही साहित्य हो जाता है।

भगवान् के सन्निधान के इच्छुक महात्माओं की वाणी ने भाषा के साहित्य को अमर रत्न प्रदान किये हैं। हिन्दी पर भी उनका आधार और किसी भाषा से कम नहीं। इस जन वाणी के साहित्यिक प्रसार का सबसे अधिक श्रेय संत महात्माओं को ही है। परमात्मा शायद उसी भाषा में की हुई प्रार्थना को सुनता है जिसमें हमारे हृदय की वासनाएँ स्वभावतः प्रकट हो सकती हैं। जिस भाषा में भूखा बच्चा माँ के पास जाकर 'भूख लगी है माँ' कहा करता है वही उसकी आध्यात्मिक भाषा है। अतएव हमारे सन्त-महात्माओं की भक्ति के अकृत्रिम स्रोत का उसी में उमड़ पड़ना स्वाभाविक ही था और यह भी स्वाभाविक है कि साम्प्रदायिक पद्धतियों को छोड़ कर हृदय के इन सरल उद्गारों में हम उनकी उपासना के विशुद्ध स्वरूप के दर्शन की आशा करें।

परमात्मा परमार्थतः सगुण है अथवा निर्गुण, यह झगड़ा दर्शन शास्त्र की सीमा को पार कर हमारे साहित्य में भी बहुत रहा परन्तु साधना के मार्ग में इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। सूरदास ने निर्गुण ज्ञान के उपदेश देने वाले उद्धव की गोपियों के हाथों न बनवाया? तुलसीदास ने ज्ञान मार्गी लोमश ऋषि को ऐसा अज्ञानी बनाया कि भुशुण्डि के मुँ[ह से] सगुणोपासना की बातें सुनकर वे आग-बबू[ला हो] गये और उसे कौआ बनने का शाप देकर [अपनी] मूर्खता पर जी भर पछताये। इसके विपरीत [निर्गुणवादी] सगुण वादियों की हँसी उड़ाते थे—

> गुणमयी मूर्ति सेइ सब भेख मिलि,
> निर्गुण निज रूप विश्राम नाहीं।
> अनेक जुग बंदगी विविध प्रकार की,
> अति गुण का गुण ही समाहीं।

परंतु जहाँ साधना का निरूपण अभीष्ट हुआ [है] दोनों पक्ष वालों ने एक ही बात कही। उदाहरण [के लिए] सूरदास कहते हैं—

> अविगत गति कछु कहत न आवै।
> रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति बिनु निरालंब मन चकृत [धावै]
> सब विधि अगम बिचारहिं ताते 'सूर' सगुन लीला [पद गावै]

यहाँ दूसरी ओर भक्ति भाव के लिये [स्थान] निकालने के उद्देश्य से कबीर भी कहते हैं—

> संतो धोखा कासो कहिये।
> गुण में निर्गुण, निर्गुण में गुण है,
> बस काहे हो बहिये॥

जो कबीरदास के सिद्धान्त और उनकी [उपासना] में विरोध बताकर उन पर धोखे का दोषारोपण [कर] रहे थे, उनको जवाब देना जरूरी था क्योंकि [कबीर] जानते थे कि—

> भाव भगति विसवास बिनु, कटै न संसै [मूल।]
> कहै 'कबीर' हरि भगति बिनु, मुकति नहीं रे [मूल॥]

इसी से वे पुरानी 'बाट' छोड़ कर सहज [मार्ग] चाहते थे।

शुष्क तत्त्व-चिन्तन, रूखे जप तप, [...] मनुष्य के हृदय के सरस आकर्षण नहीं [...]

लोक में इनके करने से चाहे जितने सुखों की कल्पना हो, परंतु जब तक हमारे हृदय का संयोग इन साधना-मार्ग के साथ इसी जीवन में न हो जाय तब तक हमारे लिये यह परलोक हमेशा परोक्ष रहेगा, अप्राप्य रहेगा। परिणाम की दृष्टि से इन साधनों का उपयोग इतना ही है कि ये मन को वश करने में सहायक होते हैं। परंतु उसमें भी ये कैसे ही सफल हो सकते हैं, यह दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः मन बलात्कार से वशीभूत नहीं होता। बलात्कार से केवल इतना ही हो सकता है कि मन की प्रेरणा से इन्द्रियाँ जो काम करना चाहती हों उनको करने से हम उन्हें रोक दें। किंतु इस से आगे बढ़ कर अगर हम यह भी चाहें कि मन ही विषयों की ओर न दौड़े तो अवश्य विफल मनोरथ होंगे। असल में अध्यात्म जबरदस्ती का सौदा नहीं। भौतिक आवश्यकताओं को बिल्कुल कुचल ही डालने से अध्यात्म-सिद्धि नहीं हो जाती। ज्ञान मार्ग की दुरूहता का मूल कारण यही जबरदस्ती, यही बलात्कार है। इस कठिनता को सरलता में बदल देने वाला मार्ग उपासना का मार्ग है।

उपासना के मूल सिद्धांत को आज कल के मनोवैज्ञानिकों की भाषा में Sublimation अथवा भूमिका परिवर्तन कह सकते हैं। मन कदापि निष्क्रिय नहीं रह सकता। वह हमेशा किसी न किसी उधेड़-बुन में लगा रहता है। उसकी प्रवर्तन शक्ति कभी मौन नहीं बैठी रह सकती। अगर उसे देवता बनने का अवकाश न मिला तो वह दानव बन जा सकता है। अंगरेजी कहावत के अनुसार ठाला मन शैतान का कारखाना है। मन हम को परमात्मा की ओर से बहुत बड़ी देन है। उसमें अनन्त शक्ति निहित है

मन के हारे हार है मन के जीते जीत
परब्रह्म को पाइए मन ही के परतीत

प्रश्न इतना 'मन मारने' का नहीं है जितना उसे सन्मार्ग पर प्रवृत्त करा कर उसकी शक्ति के सदुपयोग का। मन मार कर भी क्या कोई किसी काम को सफलता के साथ कर सकता है? 'मन-मारण' से शास्त्रों का अर्थ उसकी बुरी प्रवृत्ति को रोकना ही हो सकता है। पर उसे बुरे मार्ग पर जाने से रोकने से पहले उसके लिए ऐसा मार्ग भी तो खुला रहना चाहिए जिस पर वह आनन्द से चल सके, जहाँ उसको कोड़ों की मार का डर न हो, दुनियाँ में सब कुछ भुला कर जिस पर चलने ही में वह रम जाय। संसार में स्त्री, धन, माया इत्यादि का त्याग देना यदि आवश्यक है तो साधन-पथ में भी तो उनकी जगह लेने के लिये कोई वस्तु होनी चाहिए। तुलसीदास जी ने जिस समय राम से प्रार्थना की—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

उस समय उनके भीतर से मनुष्य का हृदय पुकार रहा था। वासनाएँ स्वतः भली या बुरी नहीं होतीं। उनका भला या बुरा होना उनके अवलम्बन पर निर्भर है। जो वासना पुत्र-कलत्र-धन इत्यादि की ओर आकृष्ट होकर मोह कहाती है और बंधन का कारण होती है वही भगवान् की ओर आकृष्ट होने से उपासना या भक्ति कहाती है और जीव की मुक्ति का कारण हो जाती है। जो इन्द्रियाँ विषयासक्त होकर आध्यात्मिक उन्नति में बाधा डालती हैं वे ही तल्लीनता की अवस्था में परमात्मा की ओर मुड़ जाती हैं और श्रवण, कीर्तन, परोपकार आदि द्वारा भगवत्प्राप्ति में सहायक होती हैं—

जब लगि थो अँधियार घर, मूस थके सब चोर।
जब मंदिर दीपक बरो वही चोर धन मोर॥

—मलूक

मनुष्य के मनस्तत्त्व की इस विशेषता ने आध्यात्मिक साधना-पथ में इष्ट देव की कल्पना कराई है। भक्त के चित्त की इसी मृदुल भावना का आलम्बन बनने के उद्देश्य से 'भए प्रगट कृपाला दीन दयाला, कौशल्या हितकारी' (तुलसी) और 'पारावार पूरन

साधारण धर्म

ईश्वर का सच्चा भक्त कौन है और वह कहाँ
[र]हता है ? इस प्रश्न का उत्तर देना यद्यपि अति
[क]ठिन है इसका यथार्थ उत्तर भक्त ही दे सकते
परन्तु इसके स्पष्टीकरण में मैं कहाँ तक कृतकार्य
सकता हूँ इसके जानने के लिये ही मेरे लेख का
[प्रय]त्न है जिस को पढ़ कर विद्वान् महानुभाव सज्जन
निर्णय कर सकते हैं। वास्तव में ईश्वर का सच्चा
[भ]क्त किसी विशेष मत का नहीं होता। यद्यपि
[व]ह किसी विशेष मत के द्वारा ही दीक्षित और
[शि]क्षित होता है परन्तु व्यापक ईश्वर में वह जैसे २
[ली]न होता जाता है वैसे २ उसका व्यापक भाव सब
[मत]ों को समान ही अपनाने लगता है। इसलिये
[उस]का उदार हृदय विशेषता को छोड़कर सर्वसाधारण
[हो] जाता है और वह सब को सहोदर भ्राता के समान
[ह]ी देखने लगता है। अतएव वह अपने एक अद्वितीय
[ईश्व]र को जिस मत में भजन करते हुए किसी को देखता
[है व]ह मत भी उसके लिये पूजनीय समझ पड़ता
है। दया, प्रेम, उदारता, दान, सेवा, सहयोगिता,
[स]हिष्णुता, सन्तोष, समदर्शित्व आदि समस्त दिव्य-
[गु]ण उसके हृदय में निवास करने लगते हैं।
[illegible]र ज्ञान ही नहीं पड़ता है कि वह किस मत का
[सम्प्र]दाय का है। चाहे वह जिस जाति का हो या
[जिस] देश का हो, वह सच्चा प्रेमी होने पर परमार्थ के
[का]र्यों में ही चलता है और परोपकार उसका मुख्य
[ध्ये]य हो जाता है। वह इतना सरल हो जाता है कि
[व]ह सताये जाने पर भी सताने वाले का कल्याण ही
[चा]हता है परन्तु उनको उद्दण्डता दूर करने के लिये
[illegible]फिर से निश्चय सात्त्विक [illegible]
[illegible] कभी नहीं चाहता [illegible]
अपने लिये कुछ नहीं [illegible]
[illegible]न्धन से अलग हो जाता [illegible]

मन्थन में डालकर कभी रख नहीं सकता; क्योंकि
खुले हृदय में ही परमात्मा दिखलाई देता है। समाजों
के पक्षपात युक्त सङ्कीर्ण हृदय में परमात्मा कैसे प्रकट
हो सकता है ? सच्चा भक्त कठिन से कठिन आपत्तियों
को सह लेता है पर सत्य से वह सत्याग्रही कभी
विमुख नहीं होता। वह सत्य की वेदी पर बलि-
दान हो जाता है, सूली पर चढ़ जाता है, परन्तु वह
मरते २ भी सत्य को नहीं छोड़ता। इसी लिये
वह अन्त में सत्य ही में लीन हो जाता है। परन्तु
जो भक्त एकात्म-भाव से ऊँची श्रेणी को पहुँच चुके
हैं उनको काल भी प्रणाम् करता है। इसी कारण वे
अग्नि में जलाये जाने पर भी शीतल और अदाह्य ही बने
रहते हैं। उनके अनुकूल विष भी अमृत हो जाता है
और मृत्यु भी मङ्गल रूप धारण कर लेता है। ऐसे
भक्तों के लिये उल्टी प्रकृति भी सीधी हो जाती है
क्योंकि ईश्वर की प्रकृति ही स्वयं उनकी रक्षा करती
है। ऐसी अवस्था में उन्हें कौन समाज बन्धन में
डाल सकता है ?

समाज में एकदेशी भाव बना रहता है। यद्यपि
समाजी उसे व्यापक भाव में लाना चाहता है और
समस्त भुवन को अपने ही मत में दीक्षित करने का
यत्न करता है; परन्तु ऐसी ही स्पर्धा सब मतों और
सम्प्रदायों में समान होने से फलीभूत नहीं होती।
यदि सब मतों में एकात्म-भाव रहता तो निश्चय सब
मत या सम्प्रदाय एक में मिल जाते। सच्चे भक्त ही
एक [illegible] में रमते हैं क्योंकि एकात्मभाव बिना
कोई मत [illegible] नहीं हो सकता। देश, काल
[illegible] के भेद से धार्मिक ग्रन्थ का विभिन्न [illegible]
[illegible]
[illegible] धर्म
[illegible] पड़ता है

होते हैं और अज्ञानीजन वासना के नष्ट नहीं होने से अपने मनः कल्पित सूक्ष्म शरीर द्वारा पुनर्जन्म ग्रहण कर या क़यामत के दिन जिलाये जाने पर दण्ड भोगते हैं। जीव इन्द्रिय-विषय-जन्य सुख, अप्सरा, हूर गिल्मा आदि पाकर भी सुखी नहीं हो सकता है क्योंकि जहाँ इन्द्रिय-जन्य सुख रहता है वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि अवगुण भी रहते हैं जो जीव को दुःखी बना देते हैं। परन्तु जो निर्विषय हो जाते हैं वे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द अनुभव करते हैं।

यदि प्रश्न किया जाय कि जीव के निर्विषय होने पर अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के धर्म लय हो जाने से भक्त किस प्रकार आनन्द अनुभव कर सकता है? अहंकार के लोप होने पर कौन आनन्द का पात्र हो सकता है? जो भोक्ता ही नहीं रहेगा तो फल कौन भोगेगा? मन, बुद्धि, चित्त के बिना मनन, विचार या चेतनता ही जब नहीं रहेगी तो उसकी स्थिति किस प्रकार आनन्दमयी होगी? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा अपरिमित सागर तुल्य है और जीव परिमित बिन्दु के समान है। बिन्दु के व्यक्तित्व का कारण उसका सागर से पार्थक्य है जो प्रकृति के कारण है क्योंकि प्रकृति परिमित और अपरिमित दोनों है। बिन्दु के सागर में मिलते ही पार्थक्य की सत्ता लोप हो जाती है और बिन्दु एक रस होकर नाम रूप लय कर पूर्ण सागर बन जाता है। जीवात्मा भी ठीक इसी प्रकार अन्तःकरण के धर्म से परमात्मा से पृथक् मानता है। जब ज्ञान द्वारा अन्तःकरण का धर्म लय हो जाता है तब शुद्ध सच्चिदानन्द प्रकाशित हो जाता है। व्यष्टि रूप अन्तःकरण का समष्टि रूप ही ज्ञान है। जिस प्रकार व्यष्टि रूप अ, उ, म का समष्टि रूप ओम है। ज्ञान के उदय होने पर न मन की आवश्यकता होती न बुद्धि, चित्त वा अहंकार की। केवल ज्ञान ही से सब कुछ सिद्ध हो जाता है। अतः अन्तःकरण के [illegible] में मनन [illegible] है पर ज्ञान में यह एक

ही काल में सर्वत्र सुनता है, युगपद् स्पर्श [illegible] है, युगपद् देखता है, युगपद् रसास्वादन [illegible] और युगपद् सूंघता है। यही जीवात्मा [illegible] मिलकर एक ही काल में सर्वत्र कर्म करता है, [illegible] जाता है, सर्वत्र बोलता है, सर्वत्र [illegible] सर्वत्र आनन्द प्राप्त करता है। यही सूक्ष्म से सूक्ष्म है और यही महान् से भी महान् है। [illegible] स्थित योगी के समान समस्त ऐश्वर्यशाली हो [illegible] है। यही महा त्रिपुर सुन्दरी कामेश्वरी [illegible] साक्षात् आविर्भूत होती है जिस के सौन्दर्य [illegible] एक बिन्दु से समस्त देवियाँ, योगिनी, [illegible] किन्नरी, अप्सरायें उत्पन्न हुई हैं। भला [illegible] पाने के लिये जो यत्न नहीं करता है वह [illegible] को पाकर कहाँ तक प्रसन्न रह सकता है। [illegible] तो साक्षात् चिन्तामणि है। इस लिये वह [illegible] भावानुसार ही फलित होता है। परन्तु [illegible] निश्छल सत्य परमार्थिक नहीं हो तब तक [illegible] साक्षात्कार किस प्रकार हो सकता है! जो मन और बुद्धि से परे है वह इन्द्रियों का [illegible] होने के कारण किस प्रकार साध्य है [illegible] दर्शी भक्त ही बतला सकते हैं। मन [illegible] अपने में अपने से कोई किस प्रकार देख सक[illegible] उस आनन्द सागर में निमग्न बुद्धि [illegible] हो जाती है और मन के द्वारा इन्द्रियों के [illegible] रहते हुये सोते फिर सोते नहीं रह जाते हैं [illegible] सो एकमात्र ज्ञान पाने ही पहुँचाता है [illegible] मूर्ति का साक्षात्कार होता है। यह तो [illegible] है कि भिन्न २ देशों में भिन्न २ [illegible] और धर्म हैं। क्योंकि शीत, उष्ण, [illegible] स्थानीय गुण दोषों से स्वाग धर्म [illegible] नहीं सकते हैं। अतएव भोजन पान [illegible] के भिन्न २ होने पर भी ईश्वर में भेद [illegible] वाले भक्त अपनी प्यारी भक्ति द्वारा [illegible] कर सकते हैं चाहे उसके धर्म में तारतम्य [illegible]

क भक्त का संकल्प ईश्वर में विनयान्वित एक ही
भाव रहता है। वह पूर्ण भाव केवल आत्मज्ञानी
हृदय में उदय होता है।

वेद, कुरान, बाइबिल आदि ग्रंथ भी अपने २
ही भिन्न पारिपाटिक संगठन, खानपान, रहन-
की प्रथा के महत्त्व प्रदान में परिनिष्ठ ज्ञान
हैं। परन्तु वेद में विशेषता आत्मज्ञान की है
में ब्रह्माण्ड के विशिष्ट २ ज्ञान उदय और
न हो जाते हैं।

अहा! धन्य है प्रकृति जिसके अनन्त गगन के
कोने में करोड़ों योजन का प्रकाश करने वाला
भी यहाँ तारे के सदृश जान पड़ता है और
उन से भी दूर घोर अन्धकार में विलीन हो
है। केवल सूर्य ही नहीं वरन् समस्त संसार
न घोर तिमिर में लीन है। नहीं नहीं ऐसे
२ संसार इस तिमिर में शून्य में शून्य हो गये
इसी तमोगुण प्रकृति में ज्ञानरूपी सूर्य भी विलीन
स से आत्मा भी अपरोक्षानुभूत नहीं होता
इसी से विद्वान् कहते हैं कि अविद्या से यह
ढका हुआ है। यही मायासंश्लिष्ट अविद्या
के आवरण और विक्षेप रूप मल से ढके
। ये दोनों जब तक दूर न हों तब तक विद्या
उपलब्ध करना परम आवश्यक है। परन्तु माया
२ विद्वानों को भी मोहित कर रखता है।
से वे विद्वान् होने पर भी आत्मशान्ति की
निष्ठ नहीं रखते। अविद्या, अस्मिता, राग
और अभिनिवेश ने इन को भले प्रकार दबा
है। इसी प्रकार धनवान प्रतापी व्यक्ति भी
धनमद में मत्त हो कर निरंकुश हो जाते हैं
ज्ञान के अभिमान में ही पड़े रह जाते हैं इस
में पड़े २ महात्मा [illegible]
संन्यासी होने पर भी [illegible]
के लिए जनता से पुजवाने [illegible]
है और अपने [illegible]

उपदेश देना और अभीष्ट का अभीष्ट साधन करना
दोनों एक साथ ही सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार
महन्त, पुजारी, वैरागी भी अपने प्रिय शिष्यों पर
कृपा रखते हैं। तब साधारण भक्ति में दिन २ बढ़ती
जाती हुई अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये ईश्वर की
आराधना करने वाले भक्त जन कहाँ तक अविद्या से
पृथक् हो सकते हैं। इसी कारण हम सब सत्यमार्ग
से विचलित हो गये हैं और सच्चा रास्ता दिखाने
वाले निर्लोभ श्रद्धालु उदार और निश्छल गुरु का
मिलना असम्भव सा हो रहा है। माया की इतनी
प्रबलता है। परन्तु सत्य के ढूंढने वालों के लिये
परमात्मा ही गुरु हो कर उसके हृदय में बिजली के
समान एक बार ही ज्ञान का प्रकाश कर डालता है
जिस से उनकी विचारशक्ति अत्यन्त प्रबल हो जाती
है और उन्हें सच्चे मार्ग के ढूंढने में कहीं भी धोखा
नहीं होता। भक्त जब निरवलम्ब हो जाता है तभी
आत्मसाक्षात्कार होता है जब सब ओर से थक
कर जीव संसार से निराश हो जाता है तभी परमात्मा
का स्मरण होता है तभी भक्त आत्मरति, आत्मक्रीड़ा,
आत्ममैथुन, आत्मानन्द में निरन्तर लगा हुआ शीघ्र
आत्मदर्शन प्राप्त कर सकता है। आत्मावलम्बन ही
यथार्थ मोक्ष है। अतः आत्मापन के पहिचानने
पर कुछ भी और करने के लिये शेष नहीं रह
जाता है।

आत्मज्ञान होते ही भेदभाव सूर्य के द्वारा अन्ध-
कार दूर होने के समान आप ही नष्ट हो जाता है।
अभेद भाव के उदय होते २ एक अद्वितीय आत्मा
सब पदार्थों में पृथक् समान अनुस्यूत अनुभूत होने
लगता है जिससे सर्वान्तर्यामित्व, सर्वदर्शित्व और
सर्वज्ञत्व की सिद्धि प्राप्त होती है। वह पुरुष सर्वत्र
व्यापक देख पड़ता है परन्तु इसके लिये अहङ्कार
[illegible]
[illegible]
[illegible]

संसार में ही जीता हुआ मर जाता है वही योगीश्वर कहलाता है।

आत्म-साक्षात्कार के लक्षण और महत्व का बतलाना अनिर्वचनीय है। क्योंकि ब्रह्म के त्रिगुणातीत होने पर प्रकृति का धर्म ही साम्यावस्था में विलीन हो जाता है फिर निर्विषय होने पर कौन किस से कहे या सुने! स्वात्मसात्कृताखिल प्रपञ्च परिपूर्णाहं भाव भावना गर्भित परमानन्द परं ज्योतिः स्वरूप ही परमात्मा है। ऐसा अन्तर्लीन विमर्श प्रकाश मात्र तनु स्वात्म-शक्ति निरीक्षणाभिमुख पर ब्रह्म ही जगत्कारण है। यही महानिर्वाण पद है जिस से त्रिभुवन रचना की शक्ति विश्वामित्र आदि को प्राप्त हुई थी।

अतः सनातनी मूल प्रकृति के ब्रह्म में लीन रहने से ब्रह्म निर्गुण कहलाता है और उसके उदय होने से वही ब्रह्म सगुण हो ब्रह्माण्ड रूप भासता है। मूल प्रकृति के ब्रह्म में लीन और उदय होने से ही सृष्टि प्रलय का अनादि और अनन्त क्रम निरन्तर बना रहता है। अन्यथा प्रकृति के अत्यन्ताभाव से संसार का अस्तित्व सदैव के लिये लोप हो जायगा। इसीलिये परमेश्वर स्वात्मभूत निखिल प्रपञ्च विलयात्मक विमर्श शक्ति में प्रवेश कर बिन्दुभाव को प्राप्त होता है। तब वह विमर्श शक्ति भी स्वान्तर्गत प्रकाश-बिन्दु में प्रवेश करती है। तब बिन्दु उच्छून होता है और उससे नादात्मिका समस्त तत्व गर्भिणी तेजोमयी बीज रूपा बल्लाबद्ध सूक्ष्म रूपिणी निकल कर शृंगाटक रूपता को धारण करती है। इस प्रकार उन बिन्दु और नाद के स्वरूप प्रकाश और विमर्श में अहंकार शरीर होता है। उन दोनों रूपों में से एक विमर्श रक्त बिन्दु रूप और अपर प्रकाश शुक्ल बिन्दु भाव को प्राप्त होता है। दोनों के मिल जाने से मिश्र रूप सर्वतोमय परमात्म-स्वरूप होता है।

अब प्रश्न यह है कि ब्रह्म बनना क्या नास्तिकता का कारण नहीं है? ब्रह्म तो एक है वह अनेक किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में ... कहना है कि स्वयं ब्रह्म स्वरूप नहीं होता ... कता है और सर्वत्र सब पदार्थों में एक ही ... ब्रह्म का अनुभव करना आस्तिकता है। ... भाव के होने से ही नास्तिकता बनी रहती है। ... लिये जब तक जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न ... है तब तक वह नास्तिकता के कारण सांसारिक ... भोगता रहता है। ईश्वर तो सूर्य के समान ... है। अंतःकरण के परिमित होने से उसमें ... का शुद्ध प्रकाश सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान ... बिम्बित होता है जो विविध अन्तःकरणों ... से जल पूर्ण अनन्त घड़ों में अनन्त प्रतिबिम्ब ... तुल्य ही प्रतिबिम्बित अनन्त जीव होकर ... है। अतः अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, ... और अहङ्कार) को चेतन परमात्मा में लीन ... ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है अन्यथा उसे ... में लीन करने से जड़ हो जाना पड़ता है। ... जिनका अन्तःकरण विविध वासनाओं में ... रहने के कारण विलीन नहीं होता वे ... अपने कर्मानुसार ही फल पाते हैं। और ... से जितनी दूर रहता है उतना ही वह भिन्न ... है और उसके अन्तःकरण का धर्म ... जिस से फल भोगना अनिवार्य हो जाता है।

उपासना दो प्रकार की है। एक निर्गुण ... दूसरी सगुण। निर्गुण उपासना के द्वारा ... को समेट कर आत्मा में लय करने से इन्द्रिय ... नहीं रहने के कारण सांसारिक सुधार नहीं ... इस लिये गृहस्थ भक्तों को निर्गुण और सगुण ... उपासनाओं से भगवान् का भजन करना ... इस से लोक परलोक दोनों का सुधार ... सगुण उपासना से भक्त ऐश्वर्य पाकर ... करता है और निर्गुण से मुक्त हो जाता है। ... सभा सुधार तो तभी हो सकता है जब कि ... उपासक सहृदय मिलकर एक दूसरे को ...

भिन्न मत के क्यों न हों। परमात्मा के दर्शन के लिये परस्पर समान प्रेम से अवसर हो स्नेह और दृष्टि में निश्छल सहानुभूति प्रकट करें। प्रायः हर एक मत में दूसरों को नाना विषय अन्धे या अन्धे में स्वयं दिखलाता है। क्योंकि इस अवस्था में दोनों वञ्चित हैं। जीवों के भिन्न २ मतों के अनुसार ही उपासना करने से परमात्मा कहीं पिता बनकर भक्त को पुत्र के समान पालता है और कहीं स्वामी होकर उसे दास के समान अपनाता है। वह कहीं गुरु बनकर उसे शिष्य के समान मानता हुआ दिव्य ज्ञान देता है। कहीं वह मित्र होकर दर्शन देता है और कहीं स्वयं आत्मा ही हो जाता है। अतः देश, काल और पात्र के भेद से भिन्न २ भाव के मानने वाले भक्त उस अभिन्न आत्मा के द्वारा यथाभाव ही कृतार्थ होते हैं। जिसका प्रेम भाव अत्यन्त लीन है वह परमात्मा के अत्यन्त निकट है। जिसका प्रेम भाव नहीं है और जो परमात्मा को अपना हृदय अर्पित नहीं करता उसे परमात्मा भी दूर समझ पड़ता है। और जो मनुष्य परमात्मा की उपासना के लिये समाज बन्धन से परिच्छिन्न हो रहे हैं वे ईश्वर की व्यापकता को भी अज्ञात अवस्था में परिमित कर देते हैं जिस से समाजियों को अपने समाज का ईश्वर और समाज के ईश्वर से भिन्नतर जान पड़ता है। उनको तो दूसरे समाज का ईश्वर ही मिथ्या जान पड़ता है। इसी से वे दूसरे से उदासीन रहते हैं या विरोध करने के लिये चेष्टा करते हैं। आज कल मनुष्यों का पारिवारिक जीवन इतना दुःसह हो गया है कि परमात्मा के भजन की ओर सच्चा प्रेम आकृष्ट ही नहीं होता। इसीलिये हम सब परस्पर अपने समाज की विजय और दूसरे की पराजय चाहते हैं और सब भाव वास्तव में चित्त के विकारों से उत्पन्न होते हैं। अतएव [illegible] जितना [illegible] होगा उतना ही [illegible] और विक्षेप नष्ट होते जाने से परमात्मा अनुभूत होगा। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व ये नव चित्त के विक्षेप हैं जिनका निवारण करने के लिये एकात्मतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये जिस से दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास में ये पाँचों होने न पावें। जिनको जिस मत के अनुसार उपासना करनी हो उस को उसी मत की भावना के अनुसार ईश्वर का ध्यान, पूजा, भजन करते रहना चाहिये परन्तु ईश्वर में समस्त भावों को सदैव अर्पण करना और वसुधा को अपना कुटुम्ब मानना परम आवश्यक है जिससे प्रत्येक भिन्नमतावलम्बी उसको अपनाने लगे। जो उसको देखे वही अपना हो जाय यही एकात्मतत्व की अभ्यास विधि है। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा का यथोचित प्रयोग करता हुआ भक्त ईश्वर की कृपा से संसार को मोहित कर सकता है फिर आस्तिक भिन्नमतावलम्बी सज्जन तो भगवान के प्रेम का परिचय देते ही हैं। हम सभी को प्रत्येक सम्प्रदाय का एक ही ईश्वर समझना चाहिये। भेद होते ही पक्षपात होने लगता है। वास्तव में जितनी ही सच्ची उपासना होती है उतना ही भेदभाव दूर हो जाता है इसलिये सिद्ध पुरुष की दृष्टि में विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हस्ती, श्वान और चाण्डाल सभी समान देख पड़ते हैं। इस समय भारतवर्ष में ऐसे ही सज्जन भक्तों की आवश्यकता है जिनके अभेदभाव से सब के भेदभाव दूर हों और सर्वत्र शान्ति फैले। जो ईश्वर को अपनाता है वही संसार का उद्धार कर सकता है। इसलिये यहाँ कृत्रिम प्रेम से काम नहीं चल सकता क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ है। अतएव भारतवर्ष के उद्धार के लिये यहाँ के सब मत और सम्प्रदाय के लोग निर्विघ्न इस सर्व साधारण धर्म को अपनावें जिस से सत्य युग का शीघ्र उदय हो। ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

—श्री रामनन्दन सहाय

हम सब भाई भाई हैं

"धर्म ग्रन्थ बताते हैं कि सब आदमी भाई भाई हैं और हर एक आदमी को चाहिए कि वह दूसरों के साथ वैसा ही सलूक करे जैसा कि वह अपने साथ करता है। यह बात आज कल के बहुत से आदमी सिद्धान्त रूप में मानने को तय्यार हैं, मगर इसके अनुसार काम करने में बहुत मतभेद है।

अगर हम इतना ही मान लें कि सब हिन्दुस्तानी भाई २ हैं तो हम लोगों को जो कि औसत से ज्यादा धन या आमदनी वाले हैं, चाहिए कि अपना २ निजी खर्च कम करें और उस बचत से अपने गरीब भाइयों की मदद करें और उनकी आमदनी बढ़ाने की भी कोशिश करें।

चाहिए तो यह कि जितने में औसत हिन्दुस्तानी को अपना खर्च चलाना पड़ता है उतने ही में हमारा भी खर्च चल जावे मगर शुरू २ में ऐसा कर सकना बहुत ही मुश्किल है, फिर भी अपने खर्च का हिसाब रखना चाहिए और उसे बराबर घटाने की कोशिश करनी चाहिए। औसत हिन्दुस्तानी का खर्च शायद २) से ३) महीना मानना ठीक होगा। शहर के रहने वाले पढ़े लिखे आदमियों को भी १०) से १५) महीना तक में ही आदमी अपना खर्च आसानी से चला सकना चाहिए। इतने में उन्हें तन्दुरुस्त और खुश रहना चाहिए, और भी खर्च कम करने की कोशिश करना चाहिए।

मैं एक हिन्दी पत्रिका के एडिटर को जानता हूँ जो कि इलाहाबाद में रहते हैं और अपने खाने पीने का खर्च करीब ३) महीना में चला लेते हैं। कपड़े का खर्च शायद उनका १) महीना से भी कम होगा।

मैं लखनऊ में दो यूनिवर्सिटी के बी. ए. के विद्यार्थियों को जानता हूँ जो कि अपनी रोटी खुद बना लेते हैं, अपने कपड़े भी आप धो लें[illegible] काम के वास्ते भी उनको नौकर की ज़[illegible] होती उनका खाने पीने का खर्च करीब ४)[illegible] चल जाता है।

शहरों में मकानों का किराया बहुत [illegible] मगर ऐसे आश्रम मठों और गिर्जों [illegible] आसानी से बन सकते हैं जहां की आदमी [illegible] से ज्यादा किराया न पड़े। क्या हमारे धन[illegible] ऐसे मकानों को बनवाकर इस सिद्धान्त की[illegible] सहायक होंगे?

सर्दियों में हम लोगों के नौकर हम [illegible] सबसे ज्यादा निकट हैं, उनकी तनखाह ब[illegible] जरूरत है। अच्छा तो यह हो कि हिन्दुस्तान[illegible] लोगों को कम से कम एक आना घण्टा [illegible] मिल सके। मगर यह अभी बहुत मुश्किल [illegible] भी आध आना घण्टा के वास्ते तो अभी से [illegible] हो सकती है। क्या हम मालिकों से ऐसी क[illegible] सकते हैं!"

नोट—ऊपर लिखे हुए वाक्य हमने एक [illegible] पत्र से लिए गए हैं उनके अत्यन्त आग्रह से इन [illegible] में प्रकाशित कर रहे हैं। उनके विचारों से हम [illegible] सहमत नहीं हैं। हम खर्च घटाने के ज्यादा पक्ष [illegible] हैं। हमारा विचार है कि हमें आमदनी बढ़ाने का [illegible] उद्योग करना चाहिए। अगर कोई मनुष्य इस प्रका[illegible] घटाकर शेष अपने भाइयों को दे देता है तो हमें [illegible] आपत्ति नहीं है। किन्तु यदि वह बचा कर इक[illegible] चला जारहा है तो उसमें कुछ लाभ नहीं, [illegible] हर आदमी का खर्च उसके व्यवसाय के अनुसार [illegible] चाहिए। हाँ, यह बात ठीक है कि न्यूनतम वेतन [illegible] बढ़ना चाहिए और उच्चतम वेतन निर्धारित [illegible] चाहिए।—सम्पादक

यह आज से लगभग ६,५०० वर्ष पूर्व की बात है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ३९ वें सूक्त के दूसरे मंत्र का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है:—

दिवश्चिदापूर्व्या जायमाना विजागृविर्विदथे शस्यमाना।
भद्रावस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्याधीः ॥

अर्थात् वेद के मंत्रों को बहुत प्राचीनकाल में पूर्वज लोग गाया करते थे और वह तभी से चले आते हैं। इससे यह बात निकली कि यदि कुछ मंत्र ६५०० वर्ष पुराने हैं तो कुछ इससे बहुत पुराने हैं। ऋग्वेद के दशम मंडल के ८६ वें सूक्तको वृषाकपि सूक्त कहते हैं। कुछ लोग उसको १८,००० वर्ष पुराना मानते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद, दशममण्डल के ८५ वें सूक्त के १३ वें मंत्र को १५,००० वर्ष पुराना माना जाता है। इन मंत्रों का पुरानापन इनमें दिये हुए ज्योतिष संकेतों से निश्चित किया जाता है। जैसे ऋक् १०-८५, १३ इस प्रकार है:—

सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

पिछली पंक्ति का अर्थ है मघा नक्षत्र में सूर्य की दी हुई गौएँ सोमगृह ले जाने के लिये फाल्गुनियों में (पूर्वा तथा उत्तरा फाल्गुनि में) दण्डों से प्रताड़ित होती हैं। बस यही ज्योतिष आधार इस मंत्र के रचनाकाल का पता देता है।

इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वेदों के रचयिताओं की जन्मभूमि तथा स्तुति पात्री यही थी फिर भी उनका यह कहना था कि वृत्र को मार कर सप्त सिन्धुओं में जल को प्रवाहित कराना इन्द्र का प्रधान पराक्रम था। इससे यह स्पष्ट है कि उनको किसी भी दूसरे देश की स्मृति नहीं थी।

सप्तसिन्धव देश की सातों नदियों के नाम ये [illegible] सिन्धु, विपास (व्यास), शुतुद्रि या शतद्रु (सतलज) वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चनाब), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इन्हीं सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्तसिन्धव पड़ा। इसके अतिरिक्त और भी नदियां थीं। सरस्वती के पास ही दृषद्वती थी। सिन्धु में तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुभा, गोमती, मेहत्नु और क्रुमु गिरती थीं। सिन्धु का नाम सुषमा और विपाशा का आर्जिकीया भी था। ऋक् १०-७५, ५ में गंगा यमुना का भी नाम आया है पर वह नामोद्देश मात्र है। इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि मंत्रकार को इनका पता था। यों यह सप्तसिन्धव के बाहर थीं।

आज कल हिन्दुओं में गङ्गा और यमुना का महत्त्व है। गङ्गा का माहात्म्य अन्य सभी नदियों से बढ़ा चढ़ा है। गङ्गा इस लोक में अभ्युदय और मृत्यु के उपरान्त मोक्ष देती हैं। गङ्गा, गङ्गा ऐसा कहने से ही सद्गति प्राप्त होती है। गङ्गातट से सौ योजन, चार सौ कोस, पर पड़ा हुआ व्यक्ति भी गङ्गा को पुकारने से विष्णुलोक को जाता है। वैदिक काल में यह बात न थी। उन दिनों सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था। उन्हीं के तट पर आर्यों की बस्तियां थीं और ऋषियों के तपोवन थे। सिन्धु और सरस्वती ही वैदिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की सोपान थीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ७५ वां सूक्त सिन्धु की महिमा गाता है। इसके पहिले ही मंत्र में कहा है—

[illegible] अतिसिन्धुरोजसा—सिन्धु नदियों में सबसे ओजस्वी है। दूसरे मंत्र में कहते हैं—[illegible] सिन्धो—हे सिन्धु आरम्भ में वरुण ने तुम्हारे गमन के लिये मार्ग [illegible] बनाया। तीसरे मंत्र में कहा है:—

[illegible] वृष्टयः ।
[illegible] सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत् ॥

सिन्धु [illegible] [illegible] नदियों से [illegible] (गंगा नदी)

(ऐसी दशा में [illegible] [illegible] हुआ।)

है। वह घोड़ी की भांति चित्रा (प्रशंसनीया) और सुन्दर स्त्री की भांति दर्शनीया है।

सरस्वती की प्रशंसा में तो क़लम ही तोड़ दिया है। जो वेदमंत्र इस सम्बन्ध में मिलते हैं वह काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उदाहरण के लिये इन अवतरणों को देखियेः—

'चोदयित्री सूनृतानां चेतन्तीसुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती, (ऋक् १-३-११) सरस्वती ने, जो सूनृतों (सत्य बातों) की प्रेरिका है और सुमतिमान मनुष्यों की शिक्षिका है, हमारे यज्ञ को धारण कर लिया है (स्वीकार कर लिया है) 'इयम् शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः। पारावतघ्नीमवसेसुवृक्तिभिः सरस्वतीमाविवासेमधीतिभिः (ऋक् ६-६१, २) नदी के रूप में प्रकट होकर सरस्वती ने ऊँचे पहाड़ों को अपनी वेगवान् विशाल लहरों से इस प्रकार तोड़फोड़ डाला है जैसे जड़ों को खोदनेवाले (मिट्टी के ढेरों या टीलों को तोड़ डालते हैं)। आओ हम लोग इस किनारों को तोड़ डालनेवाली की अर्चाओं और अपनी रक्षा के लिये स्तुतियों और यज्ञों से इसको तुष्ट करें। 'त्रिषधस्था सप्तधातुः पंचजाता वर्धयन्ती। वाजेवाजेहव्याभूत्, (ऋक्-६-६१-१२)

त्रिलोक में निवास करनेवाली सप्तधातु * (सात अवयवों वाली) पंचजानि को वृद्धि देनेवाली सरस्वती का हर युद्ध में आह्वान किया जाय।

उतस्यानः सरस्वती जुषाणोपश्रवत्सुभगा यज्ञे अस्मिन्। मितज्ञुभिर्नमस्यैरियानाराया युजाचिदुत्तरा सखिभ्यः॥ (ऋक् ७-९५-५)

शोभनधना सरस्वती इस यज्ञ में कृपा करके हमारी स्तुतियों को सुने। वह पथ्यम् धन से सम्पन्न है और अपने मित्रों के लिये उत्कृष्टतरा (बहुत सुख देनेवाली) है। देवगण घुटने टेक कर उसके पास आवें।

* सप्तधातु—सात नदी या गायत्री आदि सात वैदिक छन्द। पंचजानि—आर्य्यसभ्यता पांच समुदायों में विभक्त थे। वेदों में पञ्चजनाः बहुत आता है।

सप्तसिन्धव की चारों ओर की सीमाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है और अब भी इस पर सर्वसम्मत सिद्धान्त स्थिर नहीं हुआ है। बात यह है कि यदि सप्तसिन्धव के तत्कालीन भूगोल का रूप निश्चित हो जाय तो स्यात् आर्यों के मूल स्थान की समस्या स्वतः सुलझ जाय। मैं तो इस विचार से सहमत हूँ जिसे ए. सी. दास ने 'ऋग्वैदिक इण्डिया' में प्रकट किया है। इसमें उन्होंने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। यहां पर वह तर्क संक्षेप में दिये जा सकते हैं।

इस मत के अनुसार सप्तसिन्धव के उत्तर में हिमालय पहाड़ था और उसके बाद एक समुद्र जो वर्तमान तुर्किस्तान के उत्तरी सिरे में होता था और पश्चिम में कृष्णसागर तक था। इस समुद्र के उत्तर में फिर भूमि थी जो ध्रुव प्रदेश तक चली जाती थी। दक्षिण में समुद्र था। उस जगह आज राजपूताना है। समुद्र वहां तक चला जाता था जहां आज पहाड़ है। पश्चिम में यह अरब सागर से हुआ था। पूर्व में भी एक समुद्र था, जो हिमालय की तलहटी के नीचे नीचे प्रायः सारे प्रान्त और बिहार को ढँकता हुआ आसाम तक गया था। पश्चिम में सुलेमान पहाड़ था। भी पहाड़ के नीचे समुद्र की एक पतली

यह सारा वर्णन विलक्षण प्रतीत होता है सिन्धव प्रायः वही प्रदेश है जिसका नाम पञ्जाब—काश्मीर है। उसके आसपास कहीं का पता नहीं है। परन्तु इस प्रकार तो पूर्व और दक्षिण में समुद्र से घिर जाता पश्चिम में भी थोड़ा सा समुद्र आ जाता अध्याय के अन्त में दिये नक़्शे से यह जायगी। इसका तात्पर्य यह है कि पिछले वर्ष में भारत की भौगोलिक बनावट में बड़ा हो गया है। (अपूर्ण

"एकत्व-बुद्धि या समदृष्टि"

कहानी

इंजन ने सीटी दी. गार्ड ने धकेल धराल कर डिब्बे का द्वार भी बंद कर दिया. गाड़ी चल पड़ी और चलते चलते अपनी पूरी चाल भी पकड़ ली. पर डिब्बे के भीतर का कोलाहल बंद न हुआ। एक ओर तो रेल के पहियों तथा पटरियों की खटपट और दूसरी ओर मुसाफिरों की खटपट-ध्वनि तथा मन की सारी शांति भंग किये देती थी।

बात यह थी, कि यों था तो यह तीसरे ही दर्जे का डिब्बा, पर पृथक पृथक बलधारी उनका उपयोग कर रहे थे। रात के ढाई तीन बजे का समय था। कोई अमुक बलधारी पूरे पाँव फैलाये सो रहा है, कोई टांग नीचे देह ऊपर किये पड़ा है। कुछ अधिकारियों ने होल्डाल खोल कर कई आदमियों की जगह पर अधिकार कर रक्खा है। कोई बैठा है, तो तीन मनुष्यों की जगह घेर कर। कुछ बलशाली न केवल आपही फैल कर बैठे हैं, वरन् उनका असबाब, ट्रंक, बिस्तर, बंडल, आदि सभी चीजें भी फैल फूट कर बैठने की जगह ही पर विराजमान हैं। इनकी बला से चाहे और सब खड़े ही रहें। इसीलिये इस डिब्बे में सबके लिये जगह होते हुये भी आधे से अधिक मुसाफिर खड़े या फर्श पर नीचे बैठे थे। पिछले स्टेशन पर यह बात मैं गार्ड के नोटिस में भी लाया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि गार्ड साहब ने भीतर जाओ, भीतर जाओ, कह कर, भुस की तरह उन १०-१२ मुसाफिरों को, जो उस स्टेशन से चढ़ना चाहते थे और जिन्हें गाड़ी में अधिकार जमाये ये पशुबलधारी लोग चढ़ने से रोक रहे थे, नीचे धकेल रहे थे, 'जगह नहीं, जगह नहीं' चिल्ला रहे थे, धक्का देकर गाड़ी में ठूस दिया, और द्वार बंद कर दिया। मैं निराश होकर अपनी जगह पर बैठा तो लोग इस प्रकार घूरने लगे मानों खा ही जायेंगे, या गाड़ी से नीचे फेंक देंगे। एक साहब से न रहा गया मुँह खोल कर बोले, कहिये, जनाब ! आपके हिमायती ने कुछ आपकी मदद नहीं की ?.........

और न आपके टोंगी खद्दरपोशी ही की परवाह की !......... डिब्बे के द्वार के पास का दृश्य और भी शोचनीय था। जो पहले ही से नीचे बैठे थे उन्हें अत्यन्त क्लेश हुआ, आदमी पर आदमी गिरा पड़ता था न।

इन नये सवार होने वालों में एक पतले दुबले 'बाबू' साहब, और एक बच्चे को गोद में दाबे, कपड़ों से ढकी हुई गुड़िया सी उनकी धर्मपत्नी भी थीं।

गार्ड ने धक्का दिया, आगे जगह कहां, बाबू साहब का पाँव एक बलशाली के पाँव पर पड़ गया, सहने की ताब कहां ! ऐसा धक्का दिया कि बाबू साहब बिचारे पाखाने के खुले द्वार से टकरा कर पाखाने के अंदर जा गिरे, हां ! इस कांड ने इनकी स्त्री को खड़े होने की जगह अवश्य दे दी। बाबू साहब वहीं उठ कर खड़े हो गये, क्रोध से कांप गये, स्त्री के सामने दुर्गति, लज्जा से लाल हो गये, क्रोध कुछ तीव्र हो गया, जिन्हों ने धक्का दिया था उनसे कहा-सुनी होने लगी। बात बढ़ती देख स्त्री ने पति का हाथ थाम कर चुप रहने का आदेश दिया, कदाचित बाबू साहब यही चाहते भी होंगे। क्योंकि घर जाकर यह कहने भर का अवसर तो प्राप्त हो ही जावेगा कि "यदि तुम हाथ न पकड़ लेतीं तो बद-माश को मजा चखा देता।"

इधर कुछ और बैठे हुए मुसाफिरों ने बाबू साहब से सहानुभूति की, बोले "जाने दीजिये, गल्ती आप ही की है, जब हम सब कह रहे थे जगह नहीं है,

फिर आपको जबरदस्ती गाड़ी में न घुस आना चाहिये था" बाबू साहब विचारे क्या उत्तर देते! पर बात कुछ ऐसी थी, कि यदि यह जज महाशय स्वयं उस अवस्था में होते तो जानते। गाड़ी सीटी देकर चला चाहती है, रात के तीन बजे हैं, किसी भी डिब्बे में कोई घुसने नहीं देता, न समय, कि खोज किया जाय, साथ में भारतवर्ष की महिला, ओह !!!

अस्तु थोड़ी देर बाद कल्कल कुछ कम हुई, पर वे सब खड़े ही रहे, किसी भले मानस ने इतना करना भी मनुष्यता के विरुद्ध समझा कि ट्रंक आदि को ही नीचे रख कर आदमियों को, अपने ही भाई बहनों को ऊपर बैठने दे!

हा भगवन! क्या इसी भारत में वेदान्त का प्रचार था? क्या यहीं श्री कृष्ण भगवान ने गीता का गान किया था?

"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥"
(गी० अ० ६ श्लो० ३२)

अर्थात

जीव मात्र का दुःख सुख, अपना दुख सुख जान।
लखत आप सम सब जगत, उत्तम योगी मान॥

अमेरिका आदि देशों में एक महिला के आगे कोई पुरुष भी बिना उसे बिठाये बैठने का साहस न करेगा, न जितना स्थान एक मनुष्य के लिये नियत है उससे अधिक घेरने को लालायित होगा, और न आप ही पिचपिचा कर दुःख उठा कर बैठेगा। टिकट की खिड़की पर भारत की तरह भीड़ तथा धक्कम-धक्का नहीं होती, प्रत्येक मनुष्य अपने नम्बर पर चुपचाप खड़ा रहता है और अवसर पर ही आगे बढ़ता है। महिलाओं को वहां भी प्रथम अवकाश दिया जाता है तभी तो स्वामी राम ने मुक्त कण्ठ से उन लोगों की भूरि भूरि प्रशंसा की है। किन्तु हा यहाँ लोग वेदान्त तथा गीता के उपदेशक हो वेदान्त और गीता का नाम भी न जानते हुए व्यवहार में ला रहे हैं।

परन्तु कैसे आश्चर्य की बात है कि इंग्लैंड आदि देशों के निवासी भी, जो ... का व्यवहार करते हैं, भारत में आकर ... के प्रति भारतवासियों से भी नीच ... व्यवहार करने लगते हैं न जाने यह मार्ग ... दोष है, या भारतियों के भाग्य का! अस्तु—

गाड़ी चल रही थी। कुछ समय ने इन ... कुछ उबाल ठंडा पड़ा, जोश कम हुआ, ... लगी और कुछ सबों को पाँव टेकने की ... मिल गई, धम-चख कम हुई, पर तिरी ... महिला खड़ी ही रही। मैं इस दृश्य से ... हृदय की टीस को न सह सका, उठा, बाबू ... पास गया, दो चार सहानुभूति की बातें कीं। ... हुआ कि वे किसी कारखाने में क्लर्क हैं। ... पूछा नहीं क्योंकि इस प्रकार नाम पूछने की आवश्यकता भी नहीं होती, चूंकि इन बाबू ... तथा इनकी धर्म पत्नी का आगे वृत्तान्त ... इसलिये मैं बाबू साहब को तो 'बाबू साहब' ... और इनकी स्त्री को 'देवी जी'।

मैंने कहा "बहन जी की गोद में बालक ... आप खड़े रह सकते हैं, आप इन्हें आज्ञा ... मेरी जगह पर जाकर बैठ जावें।"

बाबू साहब ने बड़ी कृतज्ञता की दृष्टि से देखा, पर देवी जी ने कहा "नहीं, कुछ नहीं, ... खड़ी हूँ" लेकिन जब बाबू साहब ने भी ... तो वह देवी, मेरे रिक्त स्थान पर, आकर ... हम दोनों मन बहलाने के लिये हिन्दुस्तानी ... सभ्यता के नष्ट हो जाने पर वार्तालाप ... करते रहे।

हमारे भाइयों ने, भारतवासियों ने, ... बाबू साहब पर व्यंग बाणों की जो वर्षा ... यदि हम दोनों पास-पास न खड़े होते तो ... घबरा उठते। देवी जी के मन का हाल ... होगी। गाड़ी चली जा रही थी देवी जी के

बुरे दिनन की ऐ 'ऋषि', कुछ मत पूछो बात।
जो तरणी तारत सबै, डूब स्वयम् सोइ जात ॥

लकड़ी की किर्चें बर्छी और कटारी का काम कर गईं। किसी की आँतें निकल पड़ी हैं तो किसी का खोपड़ी का गूदा। किसी की पसलियां छलनी हो गईं हैं तो किसी का धड़ ही कट गया है। बीसों आदमियों के हाथ, पाँव, टाँग, गर्दन, इत्यादि कट गए हैं। अञ्जन दूर जाकर औंधा हो गया है, पर सुना कि अञ्जन वाले बच गये हैं। शांति से गाड़ी में बैठा हुआ गार्ड भी शांतिधाम सिधार गया। कितने मरे, कितने घायल हुये? सिवाय परमात्मा के कौन जान सकता है?

स्टेशन के आदमी इन कुचले पिचलों को निकालने की चेष्टा कर रहे हैं। किस निर्दयता से निकाला जा रहा था यह भी देखने की बात न थी पर देखा और समय को विचारते हुये स्वयं भी वैसा ही किया। कुछ रेल के कर्मचारी थे, कुछ कुली, कुछ जीवित बचे मुसाफिर। सभी मरी-जीती लाशों को निकाल कर प्लेटफार्म पर ला-ला के डाल रहे थे। मैंने अपने डिब्बे को ढूँढा, मगर कहां पता? रत्ती मात्र भी निशान न था। आह !!!

थोड़ी देर तक तो मैं असमञ्जस के लिये चिंतित सा खड़ा रहा, फिर तुरंत ही कर्त्तव्य ने मुझे चैतन्य कर दिया और मैं मरने तथा सिसकने वालों के उद्धार में लग गया।

मैंने एक पोर्टर के सहारे एक अधमरी अर्धांगी को क्योंकि उसका हाथ पाँव भी कट गया था, प्लेटफार्म पर लाकर डाला और जरा की जरा दम लेने को सीधा हुआ कि पीठ में एक स्त्री की घृणा पूर्ण झुंझलाहट सुनाई दी. मुड़कर देखा शब्द से पहचान लिया वही देवी जी थीं जो बाबू साहब से कह रही थीं हाय ! यह क्या पड़ा [illegible] रहा है और तुम छोड़कर चले आये ?

[illegible] बाबू साहब ने उसी से कहा निकालना मैं ना एक ठोकर और लगाता, दुष्ट कहीं का, पर ... आया। यह वही तो चीख रहा है।"

देवी ने उधर देखा, मुझे भी देख लि... साहब ने भी मुझे देखा। पर देवीजी ने कि... भांति दौड़ कर मेरा हाथ पकड़ लिया और कि... कहे एक ओर को भाग चलीं। आश्चर्य! आश्चर्य !! क्या यह वही लज्जा की मूर्ति ... गाड़ी में देखी थी ?

ऐसा जान पड़ा कि कदाचित् उसने उस ... वाले को भी देख लिया, वह सरपट भागी औ... में लत-पत उस मुसलमान युवक को जो ... नीचे तख्तों और लोहे के कील कांटों में ... था, अपनी सारी शक्ति लगा कर निकाले ... वह चिल्ला रहा था, "खुदा के लिये मुझ... करो, मेरा गुनाह माफ करो, मुझे निकाल... मैं मरा।"

मैं और बाबू साहब भी वहाँ पहुँच... देखा अरे ! यह तो वही सज्जन थे जिन्हे... देवी को दूसरे की दी जगह पर भी ... दिया था।

शिव ! शिव !!

खिड़की के शीशे से नाक कट गई ... मोटा तख्ता छाती को दबा रहा था औ... कील जाँघ में घुस गई थी हम सबों ने ... को बड़ी कठिनता से निकाला। उसने ... एक हाथ से उस देवी के पाँव पकड़ ... "खुदा के लिये माफ कर दो, मैं शर्मिन्... बाबू साहब से बोला "रहम कीजिये, ... ठुकराइये मत" अगर आप न आते तो ... मैं मर चुकता"।

फिर हम सब उसे उठाकर प्लेटफार्म ... देवी दौड़ कर पानी लायी और यह ... वह मुसल्मान है अपना गिलास उसके ... दिया। देवी जी को लेने स्टेशन पर

गया था. वह भी बच्चे को गोद में लिये
ा था. उसने इशारे से कहा, लेजा यहीं बैठ !
हाँ से कोई नहीं जावेगा। घायल ने कहा "मैं
न" देवी ने बीच ही में बात काट कर कहा
र नहीं, पीलो, अपने मनमें कुछ भी चिंता न
ऐसे शब्द कहो, तुम अपने भाई तो हो।
हने कैसे ? क्या मुसलमान का दुःख और
हिन्दू का और ?"

बोला "आह ! मैंने तुम्हारे साथ बहुत बुरा
किया था !" देवी ने कहा "जाने दो. मन
न बातों को. परमात्मा करे तुम अपने बाल
भागो. जल्दी अच्छे हो जाओ और यह
नती रक्खो।"

तथा और सज्जन एक अधमरे को खींच कर
रहे थे. बराबर ही मनों असबाब तथा कई
सन्दूकों आदि के नीचे दबा एक दूसरा चिल्ला
मैंने देखा. ओफ् ! यह वही बदमाश थे
बाबू साहब को पाखाने में गिरा दिया था.
बर मैंने बाबू साहब को पुकारा. वे वहीं पुकार
ह आये. मैंने उन्हें दिखाकर कहा क्या इनको
कहिये पहचानते हैं न आप ? बाबू साहब
देखा. देवीजी ने भी देखा. अच्छी तरह देखा
ं ही तड़प उठे. झट दोनो उसके ऊपर से
ने लगे. मैंने फिर कहा, पहचाना भी आपने ?
हब ने उत्तर दिया अफसोस नहीं. अपनी [illegible]
संकेत करके बोला "इनकी [illegible]
ते हैं।" [illegible]
[illegible]

बहुतेरों का पहियों से पिसकर आटा हो गया था, बहुतेरे ऐसे थे जो निकल ही नहीं सकते थे, बहुत से कुछ इस प्रकार घायल हो गये थे कि जीते मरे पहचान ही में न आते थे। और जो हमारी आँखों से ओझल थे उनका तो पता ही किसे ?

आदमियों की चिल्लाहट में मिली हुई एक कुत्ते की 'कैं' 'कैं' भी कभी कभी सुनाई दे जाती थी। पर इस पर अभी तक किसी ने ध्यान न दिया था। हम उस आदमी को लगभग निकाल चुके थे कि उस कुत्ते की करुण पुकार देवीजी के कानों में पड़ी। चारों ओर देखने लगीं. एक साथी ने कहा उस गाड़ी के नीचे एक कुत्ता फँसा चिल्ला रहा है। देवीजी चल पड़ीं. उन्हीं सज्जन ने कहा "कुत्ते के लिये कहाँ जाती हो ? आदमियों को तो निकालो, न जाने कौन कौन मर गये. कुत्ते की क्या !

देवी जी ने केवल करुणा पूर्ण नेत्रों से उसे देखा और स्वयम् उसी गाड़ी की ओर चल दीं। कुत्ते के आर्त-नाद से यह प्रतीत होता था कि 'अब मरा' 'अब मरा'।

ऊपर नीचे चढ़ती-उतरती, टूटी-फूटी गाड़ियों को लांघती हुई निविड़ अँधकार में शब्द [illegible] ठीक स्थान पर आ पहुँची. कुछ कर [illegible] के नीचे से इस गाड़ी के नीचे घुस गई। आदमियों के [illegible] से अब भी गाड़ी के टूटे [illegible] और [illegible] पहुँचाते थे. पर [illegible]
[illegible]

ॐ

The Holy Shadow.

Translated from the French

Long, long ago there lived a saint so good that the astonished angels came down from heaven to see how a mortal could be so godly. He simply went about his daily life, diffusing virtue as the star diffuses light, and the flower perfume, without even being aware of it

Two words summed up his day —*he gave, he forgot.* Yet these words never fell from his lips; they were expressed in his ready smile, in his kindness, forbearance and charity

The angles said to God "O Lord, grant him the gift of miracles"
God replied " I consent, ask what he wishes "

So they said to the saint; "Should you like the touch of your hands to heal the sick ?" "No," answered the saint, "I would rather God should do that." Should you like to convert guilty souls, and bring back wandering heart to the right path ?"

"No", that is the mission of angel I pray, I do not convert '

Should you like to become a model of patience attracting men by the lustre of your virtues, and thus glorifying God '

"No", replied the saint, if men should be attracted to me, they would become estranged from God. The Lord has other means of glorifying Himself

W a

"What can I wish for ?" asked the saint smiling.

"That God give me His grace, with should I not have everything ?"

But the angels wished; "You must a miracle, or one will be forced upon

"Very well" said the saint, "that I a great deal of good, without ever kno

The angels were greatly perplexed took counsel together, and resolved following plan Every time the saint should fall behind him, or at either that he could not see it, it should power to cure disease, soothe pain and sorrow.

And so it came to pass: when walked along his shadow threw ground on either side or behind and paths green, caused withered bloom; gave clear water to dried fresh colour to pale little children, unhappy mothers.

But the saint simply went daily life, diffusing virtue as the light, and the flower perfume, w being aware of it.

And the people respecting h followed him silently, never spe about his miracles Little by littl e to forget his name, and cal ly Shadow

---

TO SERVE HUMANITY
IS TO SERVE GOD.

Messages on Ram Dasji's Birthday.

By S. Krishna

...ma karma cha me divyam evam yo vetti tatvatah
...ktva deham punar janma naiti mam eti so'rjuna.

...Who knows My divine birth and work thus, ...their essentials, is not born again on leaving ...body but comes to Me, O white One.

...When commemorating the Birthday of a ...int, friends have asked me: "How old is he ...(or she)?" If I happen to know that detail I ...r the question in a commonsense way and ...s on the information; if not I can only go ...o a superior plane and say: "Saints are ...rnal, or a portion of the Eternal. Who ...ks of their being born and dying? These ...merely occasions for our getting in closer ...ch with them or their spirit."

...What message can be given on the sacred ...asion of Swami Ramdasji's Birthday? ...hen war and the thought of war fill the ...osphere all over the world, we should ...time to breathe an aspiration for Peace. ...f peace and joy, I would fain add, but that is not yet to be. Joy can only follow the relief brought by the cessation of war, unless our joy is also beyond circumstance,—unless we are also based in the Eternal, like Swamiji.

And when we ourselves become so based in the Eternal, we shall appreciate what is meant by the paradoxical phrase "Birth" or "Birthday" of the Eternal or of His representatives. Then our works will be as the works of the Avatars, we shall understand how and why the Avatars did this thing or that before they left their bodies. Also, if we will, we might know why they left their bodies at all instead of remaining, like the Entity they represented, in fact and in the body eternal.

Devotees speak of the 'play' of their Lord as eternal. Krishna and Jesus were not of the past merely, you can see them and feel them now if you will. Then what is birth, what is death?

By Prof. Nicholas Roerich

Heartiest greetings to the revered Swami ...dasji! When I recall such noble spiritual ...aders as Swamiji, unfailingly I quote the ...ent lines from the Anguttara Nikaya:

"Warriors, warriors, we call ourselves. ...e fight for noble virtue, for lofty effort, for ...blime wisdom, for this reason we call ...rselves warriors."

Blessed are peaceful [illegible] ...ring the days of Armage[illegible] ...ss, contrar[illegible]

Then [illegible]

[illegible]

...edly cherish those Spiritual Heroes, who by their life and teaching guide humanity on the path of Highest Good. Amidst present turmoil, we hear different outcries of ignorance, "down with gurus, down with heroes, down with culture and religion." These evil outcries lead the [illegible] towards the abyss of destruction. And as the guardians against such terms of ignorance, we [illegible] [illegible] teachers, leaders who [illegible]

[illegible] of mankind [illegible]

LETTER FROM SHREE RAM DAS GAUR

ALLAHABAD
31-9-11

Dear own self Rameshwar,

Now what should I write to you Your account gives me great interest You need not have travelled so far to find good and elevated souls The little experience, I have, shows me that I should be *elevated* enough first to see them The *King* may make a tour and may show himself to his subjects and accept their *salams* or perhaps deliver an address to them, but if his subjects want to see him—and see him with some advantage—they must elevate themselves to a sufficient degree to deserve an interview Before this, if they go to his *Drabar* they will come disappointed—not refused admittance actually, but ashamed themselves, because perhaps not in proper dress, or perhaps dazzled by the grandeur or perhaps not commanding as much honour by appearance as is necessary to gain admission or probably come back shy not knowing how to behave and so forth A man on the 50th ring can help forward one on the 48th but he can't be of practical help to one on the 20th ring of the ladder

You are funny to cry 'Better, I had died before, —who would [illegible] [illegible] try [illegible]

When an evil persists in you, know you have not worn it out Not by [illegible] by fighting does one win. If you [illegible] cannot escape it.

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

Nor can any one, even for a [illegible] remain really actionless; for [illegible] every one driven to action by the qualities of nature

Therefore,

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

Without attachment, constantly [illegible] action which is duty, for, by performing without attachment, man verily reach[eth the] Supreme.

Because

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

O, Son of Kunti, bound by thine own [duty] born of thine own nature, that wh[ich from] delusion thou desireth not to do, e[ven] helplessly thou shalt perform.

Therefore

Drive the business, let it not dr[ive you]. Serve and be Master, but don't be a [slave].

هر که خدمت کرد او مخدوم شد [illegible]

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्द[ति]

[illegible] duties and actions done [illegible] [illegible] and be not vainly [illegible] [illegible] troubled for th[e] [illegible] Eternal Present [illegible] [illegible] your Work Pro[illegible] [illegible] Peace and Bliss [illegible] [illegible] to be sol[illegible] [illegible] future). [illegible] re and after A

most probably to be benefited by one another's society. No. Let not dullness come near you. What is dullness, but absence of *cheerfulness*

Now cheerfulness is ever present inside you You pine for only 1/1000 that has gone out of you or more correctly gone back inside of you owing to peculiar conditions of your *measure* and its surroundings and you have got 999 out of 1000 with you Now let not this *spectre* which is *absent* and *not*, haunt your mirthful spirit and joyous self.

You asked for encouraging notes, but these are not merely encouraging, these are actual state of things and you must give deep consideration to them and realise that you are really happy and must always thank your past struggles for the happy condition, you are in, and without anxiety as to future *which is your own*, act, act, in the living (and Eternal) Present, Heart within and God in all (and all), without any selfish (lower) motive Whatever you do, in any way, do it for the Universal, One Eternal Self and you are free from cares

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८-६६॥

Abandoning all duties come unto Me alone for shelter, sorrow not, I will liberate thee from all sins.

Do not put the cart before the horse, but let the Driver (Lord Krishna) manage it, O Dearself (don't laugh) and He is sure to see you through this Mahabharata of Samsara Read well the concluding para of Shastrokt Upasna given below. I can't give you advice;—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च॥

शरीररूपी बग्गी में जीवात्मा ने बैठ कर ... माईस द्वारा मन की लगाम डोरी से इन्द्रियों के ... हांकते हांकते आखिर जाना कहां है? "जिस्मे ...

लक्ष तो ब्रह्मतत्व है, ब्रह्मसाक्षात्कार ... नहीं, अनात्मदृष्टि दु:खरूप है। सुखी सुखी (... चित्त में स्नेह मोह आदि रखते हो? अच्छा! ... को गोद में दूध पिला कर मत पालो। ... परमात्मा को छोड़ और कोई विचार मन में ... बन्दूक की गोली कलेजे में क्यों नहीं मार ... कहां तक डेरे डालोगे, रास्ते में कहां तक ... खाओगे? यहाँ दुनिया सराय में माँ तो नहीं ... आराम अगर चाहते हो तो चलो राम के धाम में।

As to my difficulties, my wife ... that I had to live with family for ... the Hospital besides 15 days' suffering ... and after. She is better though, not ... cured. The vacation was partly ... Allahabad and partly in repairing ... (Benares House) as it was ... prisoner (my father) and I have to ... term in it now.

I read Gita and Ramacharitamanas ... Theosophical Society, Lukerganj ... Sunday, 6-7 30 p m daily

Your own reflected

-RAM DAS G...

PEACE ! BLESSINGS !! LOVE !!!

Om ! Om !! Om !!!

Says the Gita-

Yada yadahi dharmâsya glanir bhavati, Bharat
Abhyut-thanamadharmasya tadatmanam srijamyaham

"When there is decline in the sacred law, I myself appear to set it right"

The Quran says-

"Lekulle qaumin had.. in min ummatin illa khalafiha nazir....wa la qad ba asna fi kulli ummatin rasulan"

Dr. Bhagwan Das translates it thus "To every race great teachers have been sent God hath not left any community without the prophet, warrior and true guide He sendeth prophets to the ignorant and those misguided into evil ways, raising these prophets from amongst themselves to purify them, and teach to them His signs and wisdom and philosophy"

To the same effect is the saying of the prophet recorded, by Abu Daud "In-Allaha yala so Iihazelul ummate ala rase kulle meyate sanatin man-yujaddad laha dineaha", which the same authority translates thus

"At the beginning of each 100 years, God sends, for every race a teacher who revives religion freshly for the world"

Where then is room for religious strife? In order, as if, to seal Hindu-Muslim unity the prophet says, (as recorded in Tarikh-e Hamdan, Bab-el-kafi Hindi nabi-yun aswad-ul-lame Kahinan".

"A prophet flourished in Hind ... complexion, Kahin (Krishna) was ...

Both religions prescribed ... as the end of life:

"Mama vartmanu-vartante ... Parth, sarvashah" (GITA)

"Mankind everywhere ... "Inna illahi wa inna ilaihi rajeun" (Q... from God do we come and to Him we return."

For want of space, I cannot ... metaphysical problems and mystic ... In these spheres, the writings ... books of both the religions seem to ... translated into two different languages ... a common source.

This brief summary is enough to ... *that this part of the Quaed-e-azam ... unteinable. But if I get time, I will* ... subsequent articles that even in the ... detail, even to a great extent in ... is much of agreement in *Islam and H...*

OM! OM!! OM...

BRIJ NATH SI...

Message

By Swami Ramdas.

To be really *born* is to be awakened to the consciousness of the Divine Life and Glory This happens through the Grace of God Just as the egg is hatched into life, freed from the trammels of narrow limitations through the warm and affectionate contact of the mother so the soul encased in ignorance ... free to enjoy the blessings ... [illegible]

Mother. The new birth illumines ... sweetens it with love. The soul may ... anything and everything in the world ... does not taste the ecstasy of love, it has gained nothing So, Ramdas' message ... who walk the path to God is, Real... identity with the Supreme God of L... ... till His votary and ch... ... his live in perennial peace and bl...

स्वामी राम की पुस्तकें

(उर्दू में)

		मूल्य	
		सा०	वि०
१—कुल्लियाते राम-भाग १	पृष्ठ ४००		
इसमें स्वामी राम के वे लेख संगृहीत हैं, जो पहले (अलिफ) मासिक पत्र में प्रकाशित हुए थे।		१॥)	२)
२—कुल्लियाते राम-भाग २	पृष्ठ ४००	१॥)	२)
इसमें स्वामी राम की आत्मकथा और उनके सदुपदेश हैं।			
३—कुल्लियाते राम-भाग ३	पृष्ठ ४००	१॥)	२)
इसमें स्वामी राम के वेदान्तविषयक १२ लेख व भाषण हैं।			
४—रामवर्षा— स्वामी राम व अन्य महात्माओं के ज्ञान-भक्ति विषयक भजनों का बृहद् संग्रह		१)	१॥)
५—रामपत्र (इसमें स्वामी राम के ११०० से ऊपर पत्र हैं)		॥)	॥।)
६—हयाते-उमरी स्वामी राम श्रीमान् आर. एस. नारायण स्वामी कृत		॥।)	१)
७—नारायण-चरित्र श्री आर० एस० नारायण स्वामी का जीवन चरित्र		॥)	...
८—वेदानुवचन (आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह वेदी)		१॥)	२)
९—अपारोक्ष प्रकाशिका ..	..	॥)	१)
१०—रिसाला अनाहुल इल्म ..	..	।=)	॥)
११—नगीना भक्त ..	..	।=)	॥)
१२—साधारण धर्म (स्वामी शिवगणाचार्य कृत अद्वितीय धर्म ग्रन्थ)		॥)	...

श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग ॐ ॐ ॐ ॐ लखनऊ।

ॐ

विषय-सूची।

विषय

Arya Bhashu Press, Brahmaghat Benares

" नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः । "

र्ष १] जुलाई १९४० श्रावण १९९७ [अङ्क ७

निजानन्द

कहूँ क्या रंग उस गुल का, अहाहाहा अहाहाहा ।
हुआ रंगीं चमन सारा, अहाहाहा, अहाहाहा ॥
नमक छिड़के है वह किस किस मजे से, दिल के ज़ख्मों पर ।
मज़े लेता हूँ मैं क्या क्या, अहाहाहा, अहाहाहा ॥
ख़ुदा जाने हलावत क्या थी, जामे तेगे क़ातिल में ।
लबे-हर-ज़ख्म है गोया, अहाहाहा, अहाहाहा ॥
दवाओ-दर्द में क्या फ़र्क़, मैं समझूँ कि दोनों में ।
है इक शोला भभूका सा, अहाहाहा, अहाहाहा ॥
बला गर्दां हूँ साक़ी का, कि जामे इश्क़ से मुझ को ।
दिया है घूँट इक ऐसा, अहाहाहा, अहाहाहा ॥
मेरी मस्त-[illegible] हक़-[illegible] है, कहूँ मैं क्या ?
[illegible] अहाहाहा, अहाहाहा ॥
[illegible]
[illegible]
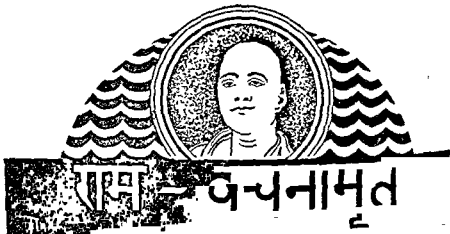
उपासना—

"किसी वस्तु को दिल मे चाहते रहना अथवा दाँत निकाल कर अधीन भिखारी की तरह दूसरे की प्रीति का भूखा रहना पवित्र प्रेम नहीं है। यह तो अधम नीच मोह है। केवल जब तुम मुझे छोड़ दो और खो दो और उस उच्च भाव मे उड़ जाओ जहाँ न मैं रहूँ न तुम, तब तो मुझे खिंच कर तुम्हारे पास आना पड़ता है और तुम मुझे अपने चरणो मे पाओगे। जब तुम अपनी आँखें किसी पर लगा दो और प्रीति की इच्छा करो तो उसका उत्तर तिरस्कार और अनादर बिना कभी और कुछ नहीं मिला और न मिलेगा। याद रखो"

× × ×

अगर क्लेश-रूपी मौत मंजूर नहीं तो शान्तिपूर्वक अपने चित्त की अवस्था और उसके दुःख सुख रूपी फल पर एकान्त में विचार करना आरंभ कर दो, सच-झूठ आप निखर ही आएगा। अगर तुम मे विचारशक्ति ऐसी भ्रष्ट नहीं है तो खुद बखुद यह फैसला करोगे कि चित्त में त्याग अवस्था और ब्रह्मानन्द हुए ऐश्वर्य, सौभाग्य इस तरह हमारे पास दौड़ते आते हैं जैसे भूखे बालक माँ के पास।

× × ×

जब हमारे अन्दर सच्चा गुण और शान्तिरूपी विष्णु होगा तो लक्ष्मी अपने पति की सेवा करने के लिए हजारों में हमारे दर्वाजे पर अपने आ
रहेगी।

× × ×

प्रार्थना—

साधारणतया प्रार्थना शब्द का अर्थ
याचना, इच्छा, अभिलाषा और कामना करना
भिखारी की तरह हाथ फैलाना आदि समझा
है। पर यह कथन है गलत। प्रार्थना करने से,
माँगने से प्रार्थनाएँ सुनी नहीं जाती।
माँगने से कभी नहीं मिलती। भीख माँगने से
हाथ नहीं आता। प्रार्थना शब्द का अर्थ है
अवस्था में उठना जिसमें मनुष्य कामना से
जाय"।

× × ×

कामना—

कहा जाता है कि जो मनुष्य
अभिलाषा कर रहा है, इच्छा कर रहा है, जो
की हालत में है, जो अभाव बोध करता है,
नन्द और आवश्यकता की दशा में है,
सुख नहीं आ सकता। जब तक आप
अभिलाषा करते हैं, इच्छा करते हैं, तब
बेचैनी की हालत मे रहते हैं। आप दुःख
मे रहते हैं। इस अवस्था मे किसी इच्छा की
आनन्द या यो कह लीजिए, यह इच्छित

स्थिर किया। इसी प्रकार २ रे मंडल के १७ वें सूक्त का ५ वाँ मंत्र कहता है:—

स प्राचीनान्पर्वतान् दृंहदोजसा, धराचीनमकृणोदपामपः।
अधारयत्पृथिवीं विश्वधाय समस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः॥

उसने प्राचीन इधर उधर चलने वाले पहाड़ों को अपने बल से दृढ़ किया। बादलों के जल को नीचे गिराया, विश्वधारिणी पृथिवी को स्थिर किया और द्युलोक, आकाश, का स्तम्भन किया। प्रत्यक्ष ही इन मंत्रों में उस काल की स्मृति है जब कि हिमालयादि पर्वत भूगर्भ से ऊपर उठ रहे थे, भूकम्प बार बार आते थे, ज्वालामुखं—विस्फोट होता था। भूगर्भ शास्त्र के अनुसार उस समय पृथिवी पर यही सब परिवर्तन हो रहे थे।

सप्तसिन्धव के सम्बन्ध में यह तो लिखा जा ही चुका है कि वह शीत प्रधान था। सर्दी कड़ी पड़ती थी इसका बड़ा प्रमाण यह है कि सालकी गणना हिमों से करते थे। साथ ही वर्षा भी खूब होती थी। एक अवतरण हम दे चुके हैं। दो एक और देना पर्य्याप्त है:—

अर्दर्दरुत्समसृजोविखानित्वमर्णवान्बद्धधानाँ अरम्णाः।
महान्तमिन्द्रपर्वतं वियद्वः सृजोविधारा अवदानवंहन्॥
(ऋक् ५-३२, १)

हे इन्द्र! तुमने बादलों को फाड़ डाला, तुमने जल के प्रवाह के द्वार खोल दिये, तुमने अरुद्ध धाराओं को मुक्त कर दिया और दानव (वृत्र) को मारकर जल को गिराया। इसी प्रकार प्रथम मण्डल के ५४ वें सूक्त का १० वां मंत्र कहता है:—

अपामतिष्ठद्धरुणह्वरं तमो-
न्तर्वृत्रस्य जठरेषु पर्वतः।
अभीमिन्द्रो नद्यो वव्रिणाहिता
विश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते॥

जल की धारा को अँधेरे ने रोक लिया वृत्र ने अपने पेट में बादल को रख लिया था। इन्द्र ने उसको मारकर जल को पृथिवी के नीचे से नीचे भागों पर गिरा दिया।

इस प्रकार के मंत्र यह दिखलाते हैं कि
सामान्य वर्षा नहीं वरन् गहिरा
का बहुत ही परिचित दृश्य था जिसका
लोग बारंबार उसी प्रकार करते हैं जैसे
वर्षा वर्णन में मुग्ध हो जाते हैं। यह भी
बात है कि ग्रीष्म का इस प्रकार उल्लेख नहीं
इस से यह अनुमान होता है कि
नहीं पड़ती थी। आज उस प्रदेश में
पंजाब में जाड़ों में तो कड़ी सर्दी पड़ती है
गर्मियों में गर्मी भी उतनी ही कड़ी पड़ती है।
साधारण होती है। इस ऋतु परिवर्तन का
है कि इस प्रान्त के चारों ओर का समुद्र
और एक ओर पानी की जगह विस्तृत
ले ली है। इन समुद्रों से भाप बनकर
थी और पहाड़ों पर बर्फ भी जमा होती
दोनों बातों में कमी हो गयी है। इसलिये
सूखा हो गया और नदियों में भी
नहीं रह गया।

यही वह प्रदेश था जिसमें वेदों के
आर्य्य लोग रहते थे। इसको देवगण
निर्मित देश-मानते थे। इसके पहाड़,
इसकी नदियाँ, उनको प्यारी थीं।
संस्कृति का उदय और विकास हुआ।
अभ्युदय हुआ और यहीं उनको निःश्रेयस
मिली। यह पुनः पुनः स्मरण रखने की
वेद कहीं इस बात का संकेत भी नहीं करते
प्रदेश में बसने के पूर्व आर्य्यों के पूर्वज
बसते थे। उनको न तो गङ्गा से पूर्व के
पता था न अफ़गानिस्तान के पश्चिम के
का परिचय था। अतः वह इसी को अपना
निवास मानते थे और आज तक भी
परम्परया ऐसा ही मानते आये हैं।

हिंदी साहित्य में उपासना का स्वरूप

(लेखक—श्री डा॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एम॰ ए॰ डी॰ लिट्॰)

(गताङ्क से आगे)

[illegible] इष्टदेव कर्ता, धर्ता, हर्ता सब कुछ होने के पहले [illegible] है, हमारी रुचि, प्रेम और लालसा पर अधिकार [illegible] रहता है। वह हमारे हृदय में सांसारिक प्रेम [illegible] स्नेह के लिये जगह नहीं रहने देता, मोहिनी के [illegible] को ठुकरा देना और मानिनी से हृदय को हटा [illegible] आसान बना देता है—

[illegible]रि मानिनी ते हियो, फोरि मानिनी मान।
[illegible]न देव की छबिहि लखि, भये मियाँ रसखान ॥

[illegible] हमारे लिये वह पुत्र (वात्सल्य में), सखा [illegible] सख्यभाव में), पति (माधुर्यभाव में) पत्नी (सूफी माधुर्य [illegible]) माता पिता सब कुछ बन जाता है। जो उसका [illegible] से भजन करता है उसको वह वैसे ही मिलता है।

[illegible]की रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

[illegible] अगर ऐसा न होता तो भगवान् की यह प्रतिज्ञा [illegible] न हो जाती?—

[illegible] ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

भक्त को उससे डरने का अवसर नहीं होता। [illegible] है, 'भय बिनु होय न प्रीति' का अनुसरण नहीं [illegible]ता। 'रीझि भजो कै खीजि' वह अपनी तरफ का [illegible] पूरा करेगा। तुलसीदास तो उनका 'पूतरा' नचाने [illegible] को उत्सुक हो गये थे। भावुक भक्त उसमें और प्रेम में कोई अन्तर नहीं देखता; वे दोनों एक हैं, बल्कि कहना यह चाहिए कि भगवान् साक्षात् प्रेम स्वरूप हैं—

प्रेम हरी का रूप है, वे हरि प्रेम स्वरूप।
एक होय द्वै में लसैं, ज्यों सूरज में धूप ॥

—रसखान

उपासक केवल अपने इष्टदेव का सानिध्य चाहता है। उसी के प्रेम में वह निमग्न रहता है। उठते बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते कभी भी उसके मन से बाहर नहीं निकलता। वह उसे अपने हृदय में छिपाना चाहता है—

दूरि न ठौरि दुरौ जो चहौ तो,
दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं।—पद्माकर

अपनी आँखों में बसाना चाहता है—

साँवरेलाल को साँवरो रूप मैं,
नैनन को कजरा करि राख्यौं। —देव

अपने सारे संसार का उसी में पर्यवसान कर देना चाहता है—

आओ प्यारे मोहना, नयन झाँपि तोहिं लेउँ।
ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देउँ ॥

—कबीर

शरीर से वह सब काम करता है, पर उसकी लगन नहीं छूटती—'वस नागरि को चित गागरि में' (रसखान)। उसे उसकी प्रेममयी स्मृति रात-दिन बनी रहती है। उसके मनन, उसके ध्यान और उसके दर्शन से उसकी तृप्ति ही नहीं होती, जितना ही अधिक वह इस प्रेमामृत को पान करता है, उसके [illegible] उतनी ही अधिक तीव्र उसकी तृषा होती जाती [illegible] वह चाहता है कि उसके रूप को देखने के लिये [illegible] [illegible] उसकी [illegible] सुनने के लिये [illegible] और उसको [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] इस रास्ते में देश, जाति और सम्प्रदाय का कोई भेद [illegible] सकता। अरबादि के भिन्न भिन्न नाम-करण कर देने से [illegible] भेद थोड़े ही आ जायेगा, इस रास्ते भेदभाव के [illegible] लोग हठें तो मूर्तीन छोड़ कर उसे और रूप कहेंगे [illegible] [illegible] मनोहर [illegible] —

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विरत रहने पर भी वह उसकी मुक्ति की चिंता रखते हैं। स्वतः उसे अपनाकर उसे मुक्ति प्रदान करते हैं।

परंतु यह न समझना चाहिये कि परमात्मा को कहीं बाहर से दौड़ कर आना पड़ता है। वह तो सर्वत्र व्यापक है, सब के हृदय में वास करता है और अनन्य उपासक का हृदय तो उसका खास घर है, निज निवास है। निवास ढूंढते हुए राम से तुलसीदास के वाल्मीकि ने कहा था—

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरंतर तासु उर, सो राउर निज गेह॥

कबीर कहते हैं—

सब घट मेरा साँइयाँ, सूनी सेज न कोय।
भाग तिन्हों का है सखी, जा घट परगट होय॥

हमारा हृदय ही क्षीरसागर है जिसमें शेषनाग की सेज पर भगवान (चेतनतत्व) लेटे हुए हैं। जब तक भगवान सोये रहते हैं विषय-वासना रूप सहस्र जिह्वाएँ फूत्कार करती हुई हमें ग्रस्त करती रहती हैं। किन्तु ज्योंही देवोत्थान होता है, त्योंही शेषनाग (आधिभौतिकता) की ये सहस्र जिह्वाएँ स्वयं ग्रस्त होकर सिमिट जाती हैं, और यह शेषनाग भी धन्य होकर पूजा का पात्र हो जाता है—

अरे अशेष शेष की गांदी तेरा बने बिछौना सा।
आ मेरे आराध्य खिला लूँ तुझको आज खिलौना सा॥

—एक भारतीय आत्मा

देवोत्थान के लिये किसी एकादशी विशेष की आवश्यकता नहीं। अपनी सच्ची लगन और अनन्य उपासना से हम जब चाहें तब अपनी देवोत्थानी एकादशी उपस्थित कर सकते हैं।

मुक्ति न चाहने पर भी अपने ही हृदयस्थ ऐसे भगवान से भाग कर भक्त जा कहाँ सकता है। भगवान से उसको और उसस भगवान को [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—

कबीर मन निरमल भया, दुरबल भया ...
पाछे लागे हरि फिरे कहत 'कबीर, कबीर'

सूरदास भी कहते हैं—

भक्त विरह कातर करुनामय डोलत पाछे ...

इस करुणा की भी कोई सीमा है! ...
तुलसीदास को झोली तुमड़ी भी न रखने दी। ...
पहरेदारी पर ऐसे जा डटे कि उन्हें लुटा ...
गरीब को और कोई उपाय ही न सूझा। ...
बल पर तो सूरदास के वात्सल्य ... हाथ छुड़ा कर भागते हुए भगवान ...
ललकार कर कहा था—

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि कै मोंहि।
हिरदै से जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि॥

इस प्रकार उपासना की आत्मविस्मृति ... तल्लीनता द्वारा उपासक को अनायास ... मुक्ति सुलभ हो जाती है जो जप-तप, ... योग-याग द्वारा भी दुर्लभ मानी गयी है। ... आदि करके भी अगर लोग विफल हों तो ... का क्या दोष? उन्हें जानना चाहिये कि ... प्रसन्न होते हैं, केवल इन बातों में ... बनावट भी हो सकती है—

रामहिं केवल प्रेम पियारा, जानि लेहु जो जाननिहारा।

ब्रह्मांड में ब्रह्म की झलक पाने के ... प्रेमाविष्ट जाग की आवश्यकता है—'... सुँदरी, ब्रह्म झलक्कै सीस' (कबीर) ... तो प्रेमपूर्ण उपासना में ही मिलेगी ... इत्यादि तो उसके बाहरी लक्षण अथवा ... अधिक सहायक मात्र हैं। उपासना के ... निःसत्व हो जाते हैं। उपासना के ... सार्थकता है अन्यथा नहीं—

आसन दृढ़ आहार दृढ़, सुमति ज्ञान ...
तुलसी बिना उपासना, बिन दूल्हे की ...

बिना दूल्हे की दुल्हिन ही क्या!

जाता तो आज यह दशा न होती कि नगर में मुँह भी नहीं दिखा सकता।" फिर न्यायाधीश ने कहा, "चौथा मेरा चाकर है, वह चोरी करने का आदी है, कई वार सज़ा पा चुका है उसका उपाय केवल यही था कि हाथ कटवा दिये, और वह और उसका परिवार भूखा न मर जाय उसे अपने ही पास चाकर रख लिया। पाँचवां १२ बेत खाकर फिर चोरी में पकड़ा गया, अब जेल में है, कुम्हार है, कुम्हार का काम सिखाया जाता है, आशा है छूट कर चोरी न कर अपना काम कर अपना पेट पालेगा। जो मिहनत के दाम होते हैं वह उसके घर वालों को भेज दिये जाते हैं।" राजा सुन कर संतुष्ट हुआ, न्यायाधीश के न्याय की सराहना की। यदि सबको एक सा दंड दिया जाता तो परिणाम बिलकुल उल्टा होता। आत्मा निर्लज्ज हो जाती सब पूरे चोर बन जाते।

कौन कहे 'ऋषि' होत नहि, न्याय दया इक साथ।
पितु ताड़त सुत एक से, दे मिसरी इक हाथ॥

केवल दया, जो किसी पीड़ित, अपाहज, भूखे, रोगी इत्यादि पर होती है या की जाती है वह उस मनुष्य पर नहीं की जाती वरन् अपने ही ऊपर की जाती है। तुम्हारा चित्त दुखिया का दुःख देखकर इस लिये कुम्हला जाता है कि उसकी दुर्दशा देखकर विचार होता है कि इस अवस्था में हमें कितना दुःख होगा।

अतः अपने दुःख की शांति के लिये ही दया की जाती है, और वह सदैव अपने से निर्बल पर ही आती है, चाहे बहुत से बलों में से किसी भी बल में निर्बल हो।

दया का दृष्टांत

[illegible] ग्राहम लिंकन अम-रिका के प्रेसीडेण्ट [illegible]

उनसे उसकी यह दशा देखी न गई [illegible] उतर कर स्वयम् जाकर सूअर को उठा [illegible] कीचड़ में लथपथ हो गये। कुछ [illegible] वैसे ही दर्बार में चले गये। जब लोगों को [illegible] मालूम हुआ तो प्रेसीडेंट की बड़ी प्रशंसा [illegible] उन्हों ने कहा, बस करो, इसमें प्रशंसा की [illegible] नहीं, मैंने सूअर पर कोई दया नहीं की। [illegible] दुःख से मैं स्वयम् इतना दुखित हो [illegible] न सका, ठहर न सका। इस लिये मैं [illegible] ही दुःख मिटाने, सूअर को निकालने [illegible]

वास्तव में दया का यही रूप है जो [illegible] किसी पर एहसान करते हैं, या बदला [illegible] चाहते हैं वे भूल करते हैं।

दया न कर जनि करो वृथा 'ऋषि' [illegible]
पीड़ा मेटन आपनी, औरन पै [illegible]

अहिंसा

शास्त्रकारों ने अहिंसा, तथा हिंसा की [illegible] इस प्रकार की है।

तीन अवस्था तीन विध तिहु चर को [illegible]
जो दुख दे हिंसक यही, 'ऋषि' [illegible]

अर्थात् तीनों अवस्थाओं में, बचपन, [illegible] बुढ़ापा; या अच्छी, सामान्य, बुरी, दोषी, [illegible] या मिथ्यादोषी इत्यादि किसी भी अवस्था में [illegible]

तीनो विधि से, अर्थात् मनसा, वाच[illegible] से, यानी किसी व्यक्ति के संबंध में बुरा वि[illegible] बुरा कहने, अथवा बुरा करने से।

तीनों चरों को, यानी जलचर, थलचर, [illegible] या अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज [illegible] काल में, अर्थात भूत, भविष्यत् और वर्त[illegible] किसी जीव को दुःख देना है यह हिंसा [illegible] निजहित" और जोड़ कर यों इस दोहे [illegible] करता हूं, और ठीक समझता हूं।

तीन अवस्था, तीन विध, तिहुचर को [illegible]
निजहित दुख दे, हे ऋषि, यदि हिंसक [illegible]

[illegible]दि से सुन्दर व्यावहारिक नीति प्रतीत होती है चाहे [illegible]से हिंसा कहिये चाहे अहिंसा।

[illegible]मैत्री महाराय के विचार की पूर्ति भी गीता में [illegible]हो जाती है। कृष्ण भगवान आदि से अन्त तक [illegible]र्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा कर रहे हैं, पर [illegible]लहवें अध्याय में जो "दैवी सम्पद्" के नाम से [illegible]रमेश्वर से संबंध रखने वाले तथा उनको प्राप्त करा [illegible]ने वाले सद्गुणों और सदाचारों का, उन को जान कर धारण करने के लिये वर्णन है (गीतातत्वांक, अगस्त १९३९ पृष्ठ ८३०)" इस के दूसरे श्लोक में सब से पहले अहिंसा का नाम है, कृष्ण भगवान यहाँ अहिंसा को उत्तम बताते हैं, फिर युद्ध करने की आज्ञा कैसी? बात यह है कि वह युद्ध धर्म युद्ध था, जिस में अत्याचारियों को वध करना ही धर्म है। और इसी लिये धर्म युद्ध में मारना हिंसा नहीं होती अधर्म युद्ध करना हिंसा है।

युवकों के प्रति

(लेखक—[illegible] वर्मा)

उठो भारत के निद्रित लाल!

भारत माता रही पुकार,
सोते ही रह जाओगे?
पतन की अविरल धारा में
[illegible] होते जाओगे?

[illegible] माता का हाल।
उठो भारत के निद्रित लाल!

विद्या, [illegible] ज्ञान [illegible] में
[illegible] था यह भारतवर्ष!
[illegible]

[illegible]

व्यावहारिक वेदान्त

(ले० श्रीरामगोपाल मोहता)

"अपना आप" सब को सदा अच्छा और प्यारा लगता है। "अपना आप" कभी किसी को दुःखदायक एवं अप्रिय और बुरा प्रतीत नहीं होता। अन्य सब वस्तुएँ "अपने आप" अर्थात् आत्मा के कारण अच्छी एवं प्यारी लगती हैं, अर्थात् जितने पदार्थ अपने मान लिये जाते हैं, और अपने अनुकूल होते हैं वे ही सुखदायक एवं प्यारे लगते हैं। जब कोई वस्तु बेगानी मानी जाती है अथवा अपने प्रतिकूल प्रतीत होती है तो वह प्यारी नहीं लगती। किसी भी पदार्थ में प्यारापन उसको अपनाने से उत्पन्न होता है। अन्य कोई भी पदार्थ सुखदायक एवं प्रिय न रहने पर भी "अपना आप" तो सब को सदा सुखदायक एवं प्यारा लगता है। इसलिये सबका "अपना आप" यानी आत्मा आनन्द है।

"अपने आप" (Self) के बिना कोई भी पदार्थ नहीं है। किसी भी काल, किसी भी देश और किसी भी वस्तु में "अपने आप" (Self) का अभाव अथवा वृद्धि-ह्रास (बढ़ना-घटना) नहीं होता; इसलिये "अपना आप" नित्य, सर्वव्यापक एवं सम अर्थात् सब में एक समान और सदा एक सा रहने वाला है, और जो वस्तु नित्य सर्वव्यापक एवं सम होती है, वह वस्तुतः एक ही होती है, उस से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं होता, क्योंकि एक से अधिक होने में उसमें नित्यता, सर्वव्यापकता एवं समता नहीं रहती।

सब के "अपने आप" यानी आत्मा के सत्, चित् आनन्द नित्य सर्वव्यापक सम और एक होने के [illegible] [illegible]—

[illegible]

(२) यदि यह कहा जाय कि [illegible] हमारा आत्मा जन्मता-मरता नहीं—जन्मने के पहिले और मरने के बाद भी वह बना रहता है, तो जन्मने के पहिले के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व का ज्ञान हमें यहाँ क्यों नहीं रहता ? तथा [illegible] की बातें हमें याद क्यों नहीं रहतीं ? एवं मरने का डर क्यों लगता है ?

(३) यदि हमारा "अपना आप" [illegible] ज्ञान-स्वरूप है, तो फिर हम अल्पज्ञ क्यों हैं [illegible] के सभी देश, काल और वस्तुओं का हमें ज्ञान नहीं होता ?

(४) यदि हमारा "अपना आप" आनन्द [illegible] तो हमें अनेक प्रकार के दुःख और बन्धन क्यों हैं ? हम सदा सुखी और मुक्त ही क्यों नहीं [illegible]

(५) यदि हमारा "अपना आप" सर्वव्यापक [illegible] तो किसी विशेष देश और विशेष काल तथा विशेष [illegible] में ही हमारा अस्तित्व परिमित क्यों है ? हम [illegible] एक साथ सर्वत्र उपस्थित अनुभव क्यों नहीं [illegible]

(६) यदि हमारा सब का "अपना आप" [illegible] है, तो एक दूसरे में इतनी विषमता क्यों है [illegible] सुखी और कोई दुःखी, कोई धनी और कोई [illegible] कोई ऊँचा और कोई नीचा, कोई निर्बल [illegible] सबल कोई रोगी और कोई निरोग, कोई [illegible] कोई मूर्ख क्यों है ? और एक ही व्यक्ति [illegible] और कभी दुःखी—आदि अनेक प्रकार की [illegible] दृष्टिगोचर क्यों हो रही हैं ?

(७) यदि हमारा सब का "अपना [illegible] है तो सब के सुख-दुःख और अन्य मानसिक [illegible] एक दूसरे को अनुभव क्यों नहीं होते ? [illegible] आपस में मेल क्यों नहीं रहता ? [illegible] व्यक्तियों के अलग अलग स्वभाव, अलग [illegible] दुःख आदि क्यों होते हैं ?

उपरोक्त शङ्काओं का समाधान नीचे लिखे अनुसार है:—

(१) शरीरों के जन्मने और मरने से अपने वास्तविक आपका जन्मना-मरना नहीं होता, केवल रूप का परिवर्तन होता है; न अपने वास्तविक आपकी उत्पत्ति और नाश ही होता है; इस विषय का वर्णना पहिले कर आये हैं। शरीर तो पञ्चभूतों के सम्मिश्रण का बनाव है और वह बनाव प्रतिक्षण बदलता रहता है; शरीर का जन्मना पञ्चभूतों के सम्मिश्रण का एक विशेष रूप होता है और मरना उसी का दूसरा रूप। इन रूपों के बदलने से उनके आधार पञ्चभूत और पञ्चभूतों के आधार आत्मा—जो सब का "अपना आप" है—के अस्तित्व में किसी प्रकार की घटा-बढ़ी अथवा विकार नहीं होते। इन पञ्चभूतों के सम्मिश्रण का कभी कोई और कभी कोई स्वांग (बनाव) धारण करता रहता है। शरीर के जन्म के पहिले और मरने के बाद भी पञ्चभूत ज्यों के त्यों बने रहते हैं, केवल नाम और रूप का उनमें परिवर्तन होता है और वह परिवर्तन ही उत्पत्ति और नाश प्रतीत होते हैं। उत्पत्ति और नाश सापेक्ष द्वन्द्व (जोड़े) हैं अर्थात् आपस में अन्योन्याश्रित हैं; अतः वास्तव में उत्पत्ति और नाश कुछ भी नहीं होता। सब शरीरों और पञ्चतत्त्वों का आधार आत्मा यानी "अपना आप", उक्त परिवर्तन की सब दशाओं में ज्यों का त्यों बना रहता है, इस लिये उसकी [illegible] है।

(२) इस जन्म के [illegible] के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व के [illegible] [illegible] (ईश्वर) [illegible] करते हैं, जो [illegible] और जिनका [illegible] किये—[illegible] भिन्न भिन्न व्यक्तियों के तरह-तरह के स्वभाव और सुख-दुःख आदि जन्म के साथ ही लगे हुए रहते हैं, और ये बातें पूर्व-जन्म के संस्कारों के बिना हो नहीं सकतीं। अब रही मरने के बाद हमारे अस्तित्व के अनुभव की बात, सो यद्यपि इस बात का सबको निश्चय है कि दस बीस पचास या अधिक से अधिक सौ वर्षों से अधिक यह शरीर नहीं रहेगा, फिर भी लम्बी मुद्दत के लिए ऐसे सामान—परलोक में विश्वास न रखनेवाले भी एकत्र करते रहते हैं और अनेक प्रकार के ऐसे प्रबन्ध बाँधते रहते हैं कि जो उनके वर्तमान शरीर के उपयोग में नहीं आसकते, परन्तु अपने उत्तराधिकारियों को, अपने मरने के बाद भी वे अपने ही समझते हैं अर्थात् मृत्यु के बाद भी उनसे अपना सम्बन्ध क़ायम रहना मानते हैं, तभी तो उनके लिये इतना परिश्रम करते हैं; नहीं तो यदि मरने के बाद अपने अस्तित्व की सर्वथा समाप्ति हो जाना मानते तो उत्तराधिकारियों से किसका सम्बन्ध रहता, जिनके लिये इतने प्रबन्ध बाँधने का परिश्रम किया जाता है। अतः हम लोग चाहे अपनी अल्पज्ञता के कारण प्रत्यक्ष में अनुभव न करें, परन्तु वास्तव में अपना अस्तित्व सदा बना रहना रूपान्तर से मानते ही हैं।

जन्म के पूर्व की बातें याद न रहने का कारण यह है कि प्रथम देह छोड़कर दूसरी देह धारण करने के बीच में दीर्घकाल का अन्तर बेहोशी यानी अचेतनता का पड़ता है। जिससे पूर्व के संस्कारों की [illegible] जाती है। इस शरीर में भी मुद्दतामन्त [illegible] होता है और [illegible] याद नहीं रहती, [illegible] है [illegible] है [illegible] इन विषयों के [illegible] हैं [illegible] भी [illegible] नाम द्वि-

तक लगातार बेहोशी रहे तो इसी शरीर के पहिले के संस्कारों की स्मृति नहीं रहती। जिन व्यक्तियों में तमोगुण की मात्रा कम होती है और सत्वगुण बढ़ा हुआ होता है, उनको पूर्व-जन्म की स्मृति तारतम्य से होती है। ऐसे कई व्यक्ति समय-समय पर देखने में आते हैं जिन्हें पूर्व-जन्म के बहुत से वृत्तान्त याद होते हैं, परन्तु ऐसे व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। अधिकतर लोगों में तमोगुण की प्रबलता होने के कारण वे दीर्घकाल की अचेतन-अवस्था से गुजर कर जन्म लेते हैं, यही कारण है कि पूर्व-जन्म की स्मृति नहीं रहती। जब हम सोते हैं, उस समय यदि पहिले स्वप्न आकर पीछे लम्बी सुषुप्ति होती है तो वह स्वप्न याद नहीं रहता, परन्तु स्वप्न के बाद ही यदि हम जाग जाते हैं तो वह स्वप्न कुछ-कुछ याद रह जाता है।

मृत्यु के विषय में जो चित्त में भय प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि सबके "अपने आप" यानी आत्मा का स्वभाव मरने का नहीं है, परन्तु उसके स्वभाव के प्रतिकूल मरने की भावना उत्पन्न करने से दोनों विरोधी भावों के संघर्ष होने का जो मन में विक्षेप होता है, वही भय-रूप से प्रतीत होता है। मृत्यु का भय निर्बल हृदय के अज्ञानी लोगों को अधिक होता है विचारशील और वीर लोगों को नहीं होता।

(३) हमारे अल्पज्ञ होने का कारण यह है कि हमने अपने आपको इस भौतिक शरीर के अन्दर ही क़ैद कर रक्खा है, अर्थात् हम अपने को एक साढ़े ३ हाथ का पुतला ही समझते हैं और इस पुतले के इर्द-गिर्द के पदार्थों और इसके निकटवर्ती सम्बन्धियों में ही आसक्त रहते [illegible] तक [illegible] सम्बन्ध का [illegible] कि सकु- [illegible] हैं। [illegible] परिमित हो [illegible] जितना ही अधिक विस्तृत होता है उतना ही [illegible] अधिक विस्तृत होता है। जो लोग [illegible] अधिक देशाटन आदि करके जितने अधिक [illegible] मिलते हैं तथा जितने अधिक स्थान [illegible] हैं, उतना ही उनको उन विषयों का [illegible] होता है। संसार में ज्ञान की वृद्धि, [illegible] के भाव कम करके, अपने [illegible] करने से अर्थात् एकता बढ़ाने से ही हो [illegible] और जो लोग अपना ज्ञान बढ़ा सके हैं [illegible] साधन से बढ़ा सके हैं। वर्तमान [illegible] विज्ञान में जो लोग इतने उन्नत हुये हैं—[illegible] कि सारी पृथ्वी के इर्द गिर्द एक ही [illegible] व्यापकता का ज्ञान प्राप्त करके विश्व [illegible] एकता सिद्ध करने के निकट पहुँच [illegible] है— एकता के अवलम्बन से ही ऐसा कर सके हैं [illegible] उन्होंने केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और [illegible] सुखों पर ही लक्ष्य नहीं रक्खा, किन्तु अपने [illegible] गत स्वार्थों और सुखों को दूसरों के स्वार्थ [illegible] सुखों के अन्तर्गत समझ कर कार्य कि[illegible] तक कि बहुत से आविष्कर्त्ताओं ने अपनी [illegible] उसी में खिला दी और बहुतों ने प्राण [illegible] और सफलता मिली तो उससे सब ने लाभ [illegible] इसी तरह यदि हम व्यक्तित्व के भाव से [illegible] कर दूसरों से अपनी एकता बढ़ाते बढ़ाते [illegible] भाव तक पहुँच जायँ, तो हमको सब [illegible] सकता है। आत्मा तो ज्ञान-स्वरूप ही है [illegible] हमने यही व्यक्तित्व के अहङ्कार से अपने इर्द-गिर्द व्यक्तित्व की चहारदीवारी खड़ी कर [illegible] है। यद्यपि आँखों में दूर तक देखने की [illegible] होती है और दीपक में दूर तक प्रकाश [illegible] व्याप्ति होती है, परन्तु उसके सामने यदि [illegible] कर दी जाय तो आँखें दूर तक देख नहीं [illegible] और दीपक दूर तक प्रकाश नहीं डाल सकेगा।

दुःख निवृत्ति के उपाय

(ले०—श्री आर० एस० नारायण स्वामी)

दुःख का मूल कारण अज्ञान है; अतएव जो उपाय इस अज्ञान को निवृत्त करे वही वास्तव में दुःख का निवृत्त करने वाला होता है। अज्ञान सदैव ज्ञान से निवृत्त होता है जिस प्रकार अन्धकार सदैव प्रकाश से निवृत्त होता है। इस लिये दुःख की निवृत्ति का मूल और मुख्य कारण ज्ञान है।

इसी लिए भगवान ने अर्जुन के विषाद पर सब से पहले उसकी आज्ञा-जन्य युक्तियों के उत्तर में उसे यों फटकारा:—

> अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
> गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
>
> (गी० २-११)

अर्थात् जो शोक करने योग्य नहीं उसका तू शोक करता है और फिर पंडितों सरीखी बातें बनाता या युक्तियाँ देता है। पण्डित लोग अर्थात् विचारवान् या विद्वान लोग मरों और जीतों का कभी शोक नहीं करते, अर्थात् जन्म मरण की किंचित परवा नहीं करते, बल्कि मरने और जीने को एक समान समझते हैं। और इस प्रकार फटकारने के बाद फिर उसे आत्मा का विवेक दूसरे अध्याय के श्लोक १२ से ३० द्वारा यों कराया कि:—

> न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा.
> न चैव न भविष्याम, सर्वे वयमत [illegible]
> देहिनोऽस्मिन्यथा देहे [illegible]
> तथा देहान्तरप्राप्ति [illegible]
> मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय [illegible]
> आगमापायिनो ऽनित्या [illegible]
> यं हि न व्यथ [illegible]
> समदुःखसुखं [illegible]
> नासतो विद्यते भावो न [illegible]
> उभयोरपि [illegible]

> अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
> विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥१७॥
> अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
> अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥
> य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
> उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

> न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

> वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
> कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
> नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य
> न्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥
> अच्छेद्योऽयम दाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥
> अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
> तस्मादेवं विदित्वैनं नानु शोचितुमर्हसि॥२५॥
> अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
> [illegible] नैवं शोचितुमर्हसि॥२६॥
> [illegible] र्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
> [illegible] शोचितुमर्हसि॥२७॥
> [illegible] व्यक्तमध्यानि भारत
> [illegible] तत्र का परिदेवना॥[illegible]॥
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible] कश्चित्॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

अर्थात्—[१२] ऐसा तो है ही नहीं कि मैं कभी (पहले) न था, या तू या ये राजा लोक कभी (पहले) न थे और न ऐसा है कि हम सब इसमे आगे को न होंगे।

[१३] जैसे देही (देह धारण करने वाले) को इस देह में लड़कपन, जवानी, और बुढ़ापा प्राप्त होता है, वैसे दूसरे देह की प्राप्ति होती है। धीर अर्थात् विचारवान् या ज्ञानी लोग इस विषय में मोह को प्राप्त नहीं होते अर्थात् न धोखा खाते हैं और न इससे घबड़ाते हैं।

[१४] हे अर्जुन ! मात्रास्पर्श अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख का देने वाला है। ये सब (सुख दुःख आदि) आने जाने वाले और अनित्य हैं। इस लिये तू इन्हें सहन कर।

[१५] क्योंकि जिस धैर्यवान् और सुख दुःख को समान मानने वाले ज्ञानी को ये मात्राओं के स्पर्श दुःख या पीड़ा नहीं देते, वही निःसन्देह अमृतत्व अर्थात् मोक्ष पाने में सामर्थ होता है।

[१६] असत् का भाव नहीं होता और सत् का अभाव नहीं होता अर्थात् जो वास्तव में है नहीं वह हो ही नहीं सकता और [illegible] वह नाश हो नहीं सकता। इस [illegible] सत्-असत् [illegible] [illegible]

[illegible]

नाशवान् कहलाते हैं इसलिए तू इस [illegible] की परवा न करके उठ और युद्ध कर।

[१९] और जो इस देही को [illegible] समझता है या जो ऐसा मानता है कि [illegible] जाता है, ये दोनों ही ठीक नहीं जानते [illegible] दोनों को ही सच्चा ज्ञान नहीं [illegible] (आत्मा) न तो मारता है और न [illegible]

[२०] यह (देही या आत्मा) न [illegible] जन्मता है और न मरता ही है, और [illegible] है कि यह (एक बार) होकर फिर [illegible] यह तो अजन्मा, नित्य, सदा एक [illegible] है। (अतएव) शरीर के मारे जाने पर [illegible] नहीं जाता।

[२१] हे अर्जुन ! जिसने जान लिया [illegible] (देही या आत्मा) अविनाशी, नित्य, [illegible] निर्विकार या निरवयव है, वह मनुष्य [illegible] को मरवाता है, और कैसे किस को मारता है?

[२२] जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को [illegible] अन्य नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे [illegible] शरीरों को त्याग कर अन्य नये शरीरों [illegible] होता है।

[२३] न इस (देही) को शस्त्र [illegible] हैं न इसे आग जला सकती है, न इसे [illegible] कर सकता या गला सकता है, और न इसे [illegible] सुखा सकती है।

[२४] यह (देही) न कभी [illegible] जाने न जलाया जाने वाला, न [illegible] [illegible] जाने वाला और न कभी सुखाया [illegible] है बल्कि यह नित्य सर्वगत स्थिर, [illegible] सनातन है।

[२५] इस (देही या आत्मा) को [illegible] [illegible] रहित या इन्द्रियों का अविषय), [illegible] [illegible] प्रकार के चिन्तन में न आने वाला [illegible] [illegible] अविकार्य (किसी [illegible]

[३४] यही नहीं, बल्कि सब लोग तेरी निरन्तर अपकीर्ति करेंगे, और माननीय पुरुष के लिए तो अपकीर्ति मरने से भी बढ़कर है।

[३५] महारथी लोग यह समझेंगे कि तू डर के कारण रण से भाग गया है और जो तुझे आज तक बड़ा योद्धा मानते आये हैं वे तेरी योग्यता बहुत कम समझने लगेंगे।

[३६] और तेरे शत्रु तेरे बल की निंदा करते हुए तुझे बहुत सी अनकहनी बातें कहेंगे। इससे अधिक दुःख तुझे और क्या होगा।

[३७] युद्ध में अगर तू मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा, यदि जीत गया तो पृथिवी (के राज्य) को भोगेगा। इस लिए हे अर्जुन! तू युद्ध के लिए पक्के निश्चय वाला होकर उठ और युद्ध कर।

[३८] सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीत-हार को एक समान समझ कर फिर तू युद्ध में लग जा। ऐसा करने से तू पाप को प्राप्त नहीं होगा अर्थात् इस रीति से युद्ध करने में तुझे कोई पाप नहीं लगेगा।

आत्मा व धर्म के उक्त विवेक से मन यद्यपि धैर्य तो पकड़ लेता पर निरन्तर शांति वा दुःख की पूर्ण निवृत्ति इतने मात्र से होती नहीं। जब तक यह विवेक आचरण में न आ जाय अर्थात् जब तक उस विवेक का पूर्णतया अनुभव न हो जाय, तब तक भीतर की शोक ज्वाला या इन्द्रियों को सुखाने व जगने वाली दुःखाग्नि बुझती नहीं। इस लिए इस कथन मात्र के विवेक को शास्त्र में वाचक ज्ञान या परोक्ष ज्ञान [illegible] विवेक [illegible] वाचक या परोक्ष ज्ञान के [illegible] का तत्त्वज्ञान [illegible] अज्ञान [illegible]

[illegible] यह [illegible] अत्यावश्यक [illegible] ज्ञान [illegible] परोक्ष ज्ञान या वाचक ज्ञान [illegible] बिना वस्तु के परोक्ष ज्ञान के [illegible] ज्ञान प्रथम तो

होता ही नहीं और यदि किसी कारण से ([illegible] जाने) हो भी जाय तो उस से ठीक [illegible] होता। जैसे अपनी किसी प्रिय वस्तु के [illegible] का परिचय होने के बाद जब वह [illegible] तो जो आनन्द वस्तु की इस प्राप्ति में आता [illegible] उसकी बिना परिचय के प्राप्ति में नहीं आता। [illegible] प्रकार परोक्ष ज्ञान बिना अपरोक्ष ज्ञान के [illegible] पूर्णतया शांति नहीं दे सकता, और इसी [illegible] अपरोक्ष ज्ञान जब परोक्ष ज्ञान के [illegible] है तो जो आनंद व शांति इस [illegible] होते हैं वह उस अपरोक्ष ज्ञान से [illegible] सकते जो परोक्ष ज्ञान के बिना [illegible] होता है। इस प्रकार शोक या दुःख का [illegible] जो आत्मा का अज्ञान है और इस ([illegible] अज्ञान) की निवृत्ति का मूल कारण जो [illegible] ज्ञान है, उस (आत्म ज्ञान) के अनुभव में [illegible] उसके वाचक ज्ञान या परोक्ष ज्ञान का [illegible] अत्यावश्यक है।

इस लिए गीता में अर्जुन की ([illegible] निमित्त) प्रार्थना पर सब से पहले उस को ([illegible] दूसरे के श्लोक ११ से ३० तक) आत्मा [illegible] [illegible]क्ष ज्ञान का ही उपदेश दिया गया है। [illegible] परोक्ष ज्ञान को गीता 'सांख्य' नाम देती है। [illegible] आगे चलकर इस परोक्ष ज्ञान के अनुभव [illegible] को 'योग' नाम देती है।

इन दोनों शब्दों (सांख्य और योग) [illegible] भाव व अभिप्राय से गीता बर्त रही है [illegible] स्पष्ट करने के ख्याल से प्रत्येक का सविस्तर [illegible] अलग-अलग किया जाता है ताकि जो लोग [illegible] 'सांख्य' शब्द से महर्षि कपिल प्रणीत [illegible] और प्रायः 'योग' शब्द से महर्षि पतञ्जलि [illegible] पातञ्जल दर्शन अभिप्राय लेते हैं उनको [illegible] जाय कि उनका समझना कहाँ तक उचित व [illegible]

तकलीफों से बचने के लिये असली दवा है अपने आत्मा में लीन होना और कुल के साथ अभय होना। और कोई नहीं। अस्तु "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" दुनियाँ झूठी है और ब्रह्म ही एक सत्य वस्तु है। "ला इल्लाह अल्लाल्लाहू" है कुछ भी मासूरे अल्लाह (खुदा) के। इस अटल सिद्धान्त को व्यवहार में लाने से ही तमाम दुखड़े (मुसीबतें) गधे की सींग की तरह काफूर हो जाते हैं। ये बातें कहने की नहीं हैं अधिक कार्य रूप में लाने की हैं। जब इनको अमल में लाओगे तो अपने आप अनुभव करोगे, तब तुम भी जोर से कहोगे और सुनाओगे।

चूंकि भगवान निर्गुण और सगुण दोनों ही है इसलिये दोनों दशा में उसको पहचानना अर्थात् उसकी व्यापकता का अनुभव करना आवश्यक है अतः दोनों तरह की उपासना यानी स्वरूप के साथ बैठने की विधि व्यवहार में लाई गई है। आरंभ में कोई भी आदमी निर्गुण उपासना नहीं कर सकता। अगर वह कोई मंत्र के द्वारा ईश्वर का ध्यान करता है तो वह भी सगुण उपासना है, निर्गुण हरगिज नहीं। जब तक कि आदमी होश ध हवास में होता है वह किसी न किसी रूप में सगुण उपासना ही करता रहता है। निर्गुण उपासना तो वास्तव में तब व्यवहार में लाई जाती है जब आदमी अचेत हो अपने स्वरूप में निमग्न होता है। जब कि व्यवहार में लोक और परलोक उसके आगे बिलकुल रह ही नहीं जाता। जब कि 'मैं' 'तू' का भेद छूट जाता है और सिवाय ब्रह्म के द्वैत का ध्यान ही नहीं रहता, नामरूप द्वारा जब अपने स्वरूप आत्मदेव या ईश का ध्यान किया जाता है तो सगुण उपासना कहलाती है। केवल भेद इतना है कि मूर्ति आदि द्वारा जो ईश्वर का ध्यान किया जाता है वह स्थूल सगुण उपासना है और जो वह मंत्र या कलमा आदि द्वारा किया जाता वह पहले से कुछ सूक्ष्म सगुण उपासना है मगर

हैं दोनों सगुण। इस में से निर्गुण कोई मैं हूँ जो मनुष्य व्यवहार में ईश्वर को जानता नहीं उस वास्ते तो लम्बी और मोटी मूर्तियों से ही ईश्वर स्वरूप का याद दिलाना आवश्यक होता है क्योंकि इसका हृदय केवल आकार से ही ईश्वर की ओर खींचा जायगा और जो मनुष्य बुद्धि द्वारा ईश्वर अस्तित्व समझता है उसके वास्ते उपरोक्त ... आनन्द दे जाती है। जब तक कि वह अपनी आत्मा में निमग्न नहीं होता, पहली दोनों तरह की ... नाएँ उसके वास्ते आवश्यक हैं और दोनों उपासनाओं से ही उसको लाभ होता है। ... दोनों प्रकार के मनुष्यों में से कोई ... व मंत्र पर मुग्ध होने लग जाय, उस मूर्ति ... को ही ईश्वर मानने लगे तो वह अपने ... कुएँ में गिराता है और अपनी उन्नति में ... है। अपने पाँव में आप ही कुल्हाड़ी मारता है। मनुष्य कदापि अपनी आत्मा में लीन नहीं हो ...

अहम् ब्रह्मास्मि या अनल्हक वगैरह ... करना भी सगुण उपासना है मगर बहुत ही ... और उच्चकोटि की। इसके द्वारा पहले की अपेक्षा शीघ्र अपनी आत्मा का अनुभव होता है। ... अर्थ यह नहीं है कि मैं बहैसियत नाम-रूप ... सच तो यह है कि मैं नाम रूप नहीं अगर ... हूँ तो ब्रह्म हूँ। नेहं देहि इन्द्रियाणं न अन्... अस्तु अपनी आत्मा से महावाक्य द्वारा अह... पाप को नाश करते रहे यानी अपने तई शरी... शरीरत्व से भिन्न देखते रहना और अ... सम्बन्ध व इच्छा से उठाकर सत्य के उ... ईश्वर की वाटिका में लगाना और उसी ... निम्नलिखित कलामों के अर्थ में तल्ली... सब से श्रेष्ठ सगुण उपासना कहलाती है।

आफ़तावम आफ़तावम आफ़ताव, ... अज़मन रग व ताब। मुस्वये गुफ्तारहक ... चश्मये अनवार हक दीदार माँ॥ और य...

र जैसे इष्ट मित्रों को जानने वालों को ज्यादा
यों है और बहुत शीघ्र फलदायक है।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार कोई ठोस वस्तु
तरह आदमी के अन्दर नहीं बल्कि अन्तः करण
एक लहर का नाम मन है दूसरी लहर का नाम
त और इसकी दूसरी लहरों का नाम बुद्धि,
हंकार वगैरः है इनके काम नीचे लिखे उदाहरण
ए बताये जाते हैं।

जैसे अर्जीनवीस इधर बाहर के लोगों (सायलों)
ताल्लुक रखता है और उधर कचहरी के अहल-
रों से मिला।

ऐसा काम मन का अन्तःकरणरूपी कचहरी में है।
: वह जगत् से भी सम्बन्ध रखता है और
न्तरिक के साथ भी जैसे वकील अर्जीदावा को
र कचहरी में खूब वादाविवाद और छानबीन
करता है इसी तरह बुद्धि, मन (अर्जीनवीस) से
जो बाहर के पदार्थों का असर (अर्जीदावा) अन्दर
अन्तःकरण रूपी कचहरी में दाखिल करता है। बुद्धि
इस पर खूब विचार करती है, युक्तें या दलीलें पेश
करती हैं और चित्त बतौर जज के उस पर फैसला
करता है यानी चित्त अन्तःकरण में जज के काम का
करनेवाला यन्त्र है जैसे अपराधी के वास्ते अर्जीदावा
पेश किया जाता है और न्याय हो जाने के पश्चात्
अपराधी को दण्ड दिया जाता है इसी तरह अहंकार
अन्तःकरण में सदैव अपराधी के समान है।
जिसके कामों को बतौर अर्जीदावा के मन पेश करता
है और बुद्धि वकालत करती है और चित्त जज के
मानिन्द फैसला करता है, या दण्ड देता है। वेदान्त
की दृष्टिकोण से ये चारों अन्तःकरण में आभासचेतन
जीव कहलाता है।

सभी से प्रेम

रचयिता—भगवान सूरजचंद सत्यप्रेमी [डाँगीजी महाराज]

हम सबके हैं सभी हमारे।
एक दूसरे के पूरक सब, जो दिखते हैं न्यारे-न्यारे।
हम सबके हैं सभी हमारे ॥ १ ॥

[illegible] क्षत्रिय कहलाते,
[illegible] शिक्षक-वर्ग विप्र बन जाते।
अर्थ-व्यवस्था वैश्य निभाते
सेवक [illegible]
हम सबके हैं सभी हमारे ॥ [illegible] ॥

हिन्दू का ध्रुव धर्म-सितारा,
मुसल्मान का भाई प्यारा।
सिक्खों का जन-मन दुलारा।
[illegible] हैं सबहद सारे।
हम सबके हैं सभी हमारे ॥४॥

[illegible]

[illegible]

"स्वामी राम और राष्ट्रवाद"

(ले०—निरङ्कार चड्ढा श्रीवास्तव बी० ए०)

एक ऐसे महात्मा के लिये जिसने सारे संसार को अपना ही देश माना हो, जिसने केवल एक जाति और दूसरी जाति में ही नहीं वरन समस्त संसार के प्राणीमात्र में अपना ही स्वरूप देखा हो, जिसने अपने आप को एक देश और काल के लिये ही सीमित न रखकर सभी देशों तथा सभी काल के लिये अर्पित कर दिया हो और जिसने वेदान्त को व्यापक और व्यावहारिक रूप में प्रकट करके दिखला दिया हो, उसके लिये देशभक्ति और राष्ट्रीयता की उपाधि लगाना केवल उसका अपमान करना है। अन्तरराष्ट्रीयता राष्ट्रीयता से उच्च भाव है परन्तु फिर क्या कारण है कि राष्ट्रीयता की वेदी पर बड़े २ नेता तथा महात्मा अपना शरीर तक बलिदान कर देने के लिये सदैव तत्पर रहते हैं। यदि महात्मा गांधी एक राष्ट्र के पीछे अपना इतना बहुमूल्य समय तथा जीवन दे रहे हैं तो वे क्या अनुचित करते हैं। नहीं, परन्तु इनका राष्ट्रवाद (Mashiavelli) के राष्ट्रवाद से भिन्न है इनकी राजनीति (Mashiavelli) के (Prince) की राजनीति नहीं है। यह अपने राष्ट्रवाद को केवल भारत के लिये ही उचित नहीं मानते। इनके नियम कहीं भी और किसी भी देश के लिये उचित माने जा सकते हैं यदि उनका पालन सुचारु रूप से किया जाय।

स्वामीराम में इसी प्रकार का राष्ट्रवाद था। उनकी देशभक्ति या राष्ट्रीयता से उनकी मस्तिष्क की उदारता में कोई कमी प्रतीत नहीं होती। उनकी राष्ट्रीयता का एक उद्गार है जो हम उनके व्याख्यानों में पाते हैं। उनको राष्ट्रीयता का भाव आजकल के [illegible] देशों के [illegible] में [illegible] है [illegible] वह राष्ट्रवाद [illegible] [illegible] करता है राष्ट्रवाद किसी

व्यक्ति के लिये उस संस्था की ओर जिसे [illegible] कहते हैं अगाध प्रेम का भाव है। ऐसा [illegible] है जिसके लिये हर व्यक्ति अपना जीवन, [illegible] स्वतंत्रता सब कुछ बलिदान करने को [illegible] रहता है। यह भाव व्यक्तित्व को इतना [illegible] देता है कि व्यक्ति अपने को उस [illegible] परिभाषा-रहित राष्ट्र को सम्मिलित समझने [illegible] जो उसको अपने 'आप' से ऊपर उठाकर [illegible] सामीप्य दिला देता है। हिन्दू-धर्म तथा [illegible] इस भाव के उद्गार को रोकने की चेष्टा नहीं [illegible] उन्नतिशील बनाता रहा।" राष्ट्रवाद की [illegible] इस प्रकार करते हुए स्वामी जी दिखाते हैं कि [illegible] भाव का महत्व कितना उच्च तथा [illegible] इसमें व्यक्तिगत 'अहम्' का भाव नष्ट होकर [illegible] बड़े 'अहम्' में मिल जाता है। यह वह [illegible] जो ईश्वर की ओर ले जाता है।

देशभक्ति का भाव उनमें इतना [illegible] हुआ है कि वे अपने को देश के व्यक्तित्व [illegible] देते हैं, वे अपने को देश के ही रूप में और [illegible] अपने ही रूप में देखने लगते हैं जैसा [illegible] कहते हैं "समझो कि मैं भारत हूँ—सम्पूर्ण [illegible] भारत का धरातल मेरा ही शरीर है। कुमारी [illegible] मेरे पाँव हैं, हिमालय मेरा सिर। मेरे [illegible] मेरे शीश से ब्रह्मपुत्र तथा सिन्ध बहती हैं। [illegible] पर्वत मेखला की भाँति मेरे कटि में हैं। [illegible] मेरा दाहिना तथा मलाबार मेरा बाँया [illegible] समग्र भारत हूँ और इसकी पूर्वी तथा [illegible] दिशायें मेरी भुजायें हैं और मैं उनको फैला [illegible] मनुष्यता का आलिंगन करता हूँ। मेरा प्रेम [illegible] [illegible] शिक है। आह ! मेरे शरीर का चित्र [illegible]

हुआ असीम अन्तरिक्ष की ओर टकटकी बाँधकर रहा है परन्तु मेरी आत्मा इन सब में व्याप्त है। मैं चलता हूँ मैं अनुभव करता हूँ कि भारत चल है, जब मैं बोलता हूँ मैं समझता हूँ कि भारत रहा है, जब मैं सांस लेता हूँ मैं अनुभव करता भारत सांस ले रहा है। मैं भारत हूँ, मैं हूँ, मैं शिव हूँ। यही देशभक्ति का महान भाव और यही व्यावहारिक वेदान्त है।" किस सरलता स्पष्टता से स्वामी जी एक साधारण राष्ट्रीय में व्यावहारिक वेदान्त के विषय को प्रमाणित देते हैं।

उनका हृदय भारत की दयनीय दशा को देखकर उठता है और वे एक साधारण मनुष्य की भाँति ने देशवासियों के लिये विह्वल हो उठते हैं। त की दशा का चित्र खींचते हुए वे अमेरिका सियों के समक्ष अपने भावों को इस प्रकार प्रकट ते हैं "एक ऐसे महादेश में जहाँ लाखों मनुष्य तों मर रहे हैं, जहाँ भूख तथा उपवास से पीड़ित युवक तथा युवतियाँ काल के गाल में जा रही हैं, जहाँ दरिद्रता तथा महामारी होनहार युवकों को नष्ट रही हैं, जहाँ नन्हें २ कोमल बालक अपने माताओं सूखे स्तनों से चिपटे रो रहे हैं, ऐसे देश में जहाँ संख्या में एक ऐसा व्यक्ति मिलेगा जो दोनों समय नियमपूर्वक भोजन पाता हो और जहाँ ऐसा व्यक्ति दोनों समय भोजन पाता हो अर्थात् सम्पन्न अथवा जहाँ राजा तथा महाराजा भी बहुधा आर्थिक कठिनाइयों के शिकार बने रहते हों, एक ऐसे देश में बिना अपने कष्टों तथा शिकायतों का ध्यान ऐसे शोचनीय दरिद्र देश में स्वार्थी समाचार [illegible] ऐसे कर के अलावा जिससे देश दरिद्र हुआ ना है इस बात को [illegible] कि लाखों रुपया इनके [illegible] हुए खून तथा [illegible] केवल नाम [illegible]

केवल कुछ कपड़ों के लिये तथा माँस के लिये।

देश के सभी अच्छे ओहदे अंग्रेजों के हाथ में हैं। बढ़ते हुए तीस करोड़ (आज से ४० वर्ष पूर्व की संख्या) भारतीयों में से एक भी व्यक्ति पार्लियामेंट का सदस्य नहीं है। ब्रिटिश के कारण देश की सभी उन्नति बंद है। बाहरी देश भारत की पैदावार से पलकर मोटे हो रहे हैं। बेचारे हिन्दुओं के भाग में केवल रूखी भूसी तथा गंदा जल ही पड़ता है और बहुधा वह भी नहीं मिलता......

इनसे आप लोगों को देश की दशा का कुछ ध्यान हो गया होगा।"

इससे प्रमाणित होता है कि राम किस प्रकार अपने देश की दयनीय दशापर विह्वल हो उठता है। वह एक साधारण राष्ट्रवादी की भाँति अपने भावों को रोकने में असमर्थ प्रतीत होने लगता है और वह अपने देश तथा राष्ट्र के गौरव का सदा ध्यान रखता है परन्तु वह किसी एक राष्ट्रीय दल का अनुयायी बनकर अपनी स्वतंत्रता को इसके अधीन नहीं कर सकता। राम आज़ाद है और अपने विचारों की आज़ादी को कभी नहीं रोक सकता यहाँ तक कि वह कांग्रेस की भी त्रुटियों को बतला देने में संकोच नहीं करता। वह कहता है "हे कायर और चतुर राष्ट्रीय कांग्रेस वालो ! राष्ट्रवाद के नाम में केवल एक बच्चे की बन्धुता सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता के लिये सभी सदस्यों के हजारों लेक्चरों से कहीं अधिक लाभदायक प्रमाणित हो सकती है।" राम को अपनी मातृभूमि इतनी प्रिय है कि वह इसकी स्वतंत्रता के लिये कोई भी बलिदान अधिक नहीं समझता। वह जब अपनी [illegible] तथा [illegible] में अपने विचारों को [illegible] के प्रति प्रकट करता है तो वह कभी उनको कायर [illegible] पसन्द नहीं करता। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में देखना चाहता है।

इन प्रमाणों से सम्भव है राम को लोग एक साधारण राष्ट्रवादी समझने लगें परन्तु जैसा आरम्भ में लिखा गया है एक साधारण राष्ट्रवादी की उपाधि एक ऐसे महात्मा के प्रति लगाना उचित नहीं। इसमें बहुधा ग़ल्ती हो जाने की सम्भावना रहती है। वह एक राष्ट्रवादी है तो सच्चा और निराला। वह राष्ट्रवाद को केवल एक साधन बनाना चाहता है उस लक्ष तक पहुँचने का जो उसके जीवन का महान अन्त है। वह भारतवासियों से कहता है।

"भारतवासियो, तुम अपने माताओं की शान्ति के लिये श्राद्ध करते हो, अपने स्वार्थ को भारत माता की स्वतंत्रता के लिये बलिदान कर दो।

हमारा व्यक्तिगत तथा स्थानीय धर्म कभी भी राष्ट्रीय धर्म से बढ़कर न माना जाना चाहिये। उचित सम्बन्ध रखने से ही कार्य उचित होता है।

राष्ट्र की उन्नति के लिये कुछ काम कि
शक्ति तथा देवताओं की सेवा करना है। इ
का बलिदान या यज्ञ भारत रूपी देवी के
होना चाहिये।

ईश्वर को पाने के लिये, सन्ता
आभास करो अथवा अपने स्वार्थ को नि
करके अपने छोटे से 'अहम्' को भारत
'अहम' मे बिल्कुल मिला दो"

इस से स्पष्ट रूप से विदित होता है
का देश-प्रेम एक साधारण वस्तु नहीं। इ
भगवान तक पहुँचने का साधन बनाता है।
यदि उनको राष्ट्रवादी की उपाधि दी जाय तो
उनका अपमान नहीं वरन् राष्ट्रवाद को एक
स्वच्छ स्थान पर पहुँचाना है।

करना उसे क्या शेष है ?

(रचयिता—स्वामीजी श्री भोलेबाबाजी)

विक्षेप मनरा जिम पुरुपके देखनेमे आय है।
करता वही मन रोकनेको, शम दमादि उपाय है॥
जिस प्राज्ञ नरकी दृष्टिमें, नहिं द्वैत भासे लेश है।
विक्षेप ही होता नहीं, करना उसे क्या शेष है ? ॥१॥
संसारके विक्षेपमे जो धीर सम्यक् मुक्त है।
करता हुआ सब कार्य भी, होता न कर्मासक्त है॥
इच्छा समाधीकी नहीं, विक्षेपसे नहिं द्वेष है।
सम–विषम है एक सम, करता उसे क्या शेष है ? ॥२॥
मनमें नहीं है वासना, आनन्दमें भरपूर है।
निन्दा प्रशंसासे रहित, तिहुँ एषणासे दूर है॥
नहिं मानमे अपमानमे पाता कभी जो क्लेश है।
निश्चिन्त है, निर्द्वन्द्व है, करना उसे क्या शेष है ? ॥३॥
निष्कर्म नहिं, नहि कर्म है, नहि हेय, नहिं आदेय है।
प्रारब्ध–वश आ जाय जो सुखमे उसे कर लेय है॥
नहि राग जिसको कर्म से, निष्कर्ममें नहि द्वेष है।
स्वच्छन्द है सविवेक है करना उसे क्या शेष है ? ॥४॥

निर्वासना, आलम्ब बिनु, सब बंधनोंसे मुक्त
आशा–निराशा–हीन, केवल आपमें आस
सूखे हुए तरु पातका, जैसे न निश्चित है
निश्चित नहीं जिसकी क्रिया, करना उसे क्या शे
संसार सब निस्सार है, परमात्म केवल सार
संसारसे है मुक्त, जिसका आत्म ही आगार
ब्रह्माण्डभर है देश, जिसकी दृष्टिमें न विदे
निष्काम आत्माराम है, करना उसे क्या शे
करता रमण निज आत्ममें है, चित्त शीतल स्व
इंद्रादिकी पदवी मिले तो भी समझता तुच्छ
क्या स्वर्गमें क्या नरकमें, जिसके लिये न वि
सर्वत्र समता देखता, करता उसे क्या शे
प्रारब्धवश चेष्टा करे, संकल्पमे मन शू
हाथी चढ़े, पैदल फिरे, नहिं है अधिक नहिं न्यू
सब वेष जिसके वेष या कोई न जिसका वे
भोला ! सभी सो कर चुका, करना उसे क्या शे

प्रेषक—श्री गंगा सहाय जी, शर्म

पगली उपासिका

(कुमारी श्यामकुमारी शर्मा)

(कहानी)

सुमङ्गला धनाढ्य परिवार की एकमात्र शोभा
... कुटुम्बी उसे प्राणों से अधिक प्यार करते हैं,
... पिता उसके सुख का सदैव ध्यान रखते हैं।
...ङ्गला भी साक्षात् देवी शक्ति प्रतीत होती है,
...प, लावण्य, स्वभाव शिक्षादि में कोई उसकी समता
... कर सकता। उस के स्वभाव पर सभी मुग्ध हैं,
... मुक्तकण्ठ से सर्वत्र प्रशंसा करते हैं। गर्व, अहं
...दि दुर्गुणों से वह कोसों दूर है। वह जीवमात्र
...प्रेम करती है।

ऐसी मोहिनी स्वरूप बालिका को पाकर किसे
प्रसन्नता नहीं होती। अतः माता, पिता तथा
...जन सभी उस के क्रिया-कलापों पर मोहित हैं।
...ने पन्द्रहवें वर्ष में पदार्पण किया, अब तो सब
... उसके विवाह की चिन्ता सवार हुई।

यत्र-तत्र धनिक परिवारों से बातचीत होने
...। उपयुक्त समय आया, अनुकूल परिस्थिति हुई।
...ला का सोलहवाँ वर्ष है, विवाह की तैयारी होने
...। माघ के महीने में सुमङ्गला का पाणि-ग्रहण
...तिष्ठित कुल के विद्वान नवयुवक प्रमोदकुमार से होगा

आज सुमङ्गला के द्वार पर शहनाई का मधुर
...नि आ रही है, द्वार खूब सजाया [illegible] है [illegible]
... में सुन्दरियाँ मङ्गलगान [illegible] रही हैं [illegible]
... ध्वनि से घर गूंज रहा है

सुमङ्गला पीतवर्ण [illegible] [illegible]
...णादि से अपने सौन्दर्य को [illegible] करती हुई
...वेद मण्डप में प्रविष्ट हुई [illegible] दोनों [illegible]
... बिठलाए गए [illegible] [illegible]
...पाठ आरम्भ किया [illegible] आह्वान हुआ
...के शरीर को सुगन्धित पदार्थ से [illegible] किया

गया, अग्नि ने प्रसन्न होकर दोनों को शुभाशीर्वाद
दिया।

इस समय प्रीतिभोज है, वर-वधू सब से घिरे
हुए बैठे हैं, प्रीतिपूर्वक सब ने भोजन किया, नव-
दम्पति को आशीर्वाद देते हुए, सब ने घर की राह
ली। विवाह समाप्त हो गया।

प्रातःकाल चार बजे सुमङ्गला शुभ मुहूर्त में
ससुराल को प्रस्थान करेगी। स्टेशन पर बड़ी
भीड़ है। अभी गाड़ी आने में पन्द्रह मिनट शेष हैं।
टन टन टन लो। रेल आने में एक मिनट शेष है,
और वह देखो गाड़ी प्लेटफार्म पर खड़ी है। मुसा-
फिर जल्दी से उतर रहे हैं। बात की बात में सामान
गाड़ी पर लद दिया गया; सब वधू सहित बैठ गए,
देखते-देखते गाड़ी चलदी, और सुमङ्गला का मुख-
पंकज पिता की आँखों से ओझल होगया।

घर वाले टगे से रह गए, आज सुमङ्गला का पत्र
आया है, वह ससुराल पहुँच गई। ससुराल में वह
देवी की भाँति पूजी जाती है। सास, ससुर तथा
परिजन उसको प्राणों से अधिक स्नेह रखते हैं।

जाड़े के दिन—नदी का किनारा, सन्ध्या का
सुहावन समय आकाश में बादल उमड़ रहे थे, ठण्डी
वायु च[illegible] रहा थी—सन—सन—सनन। प्रमोद सुमङ्गला
[illegible] बाहर निकला [illegible] उसके कन्धे पर था, संसार
[illegible] का बोझ—और उसके नेत्र खोज रहे थे—
[illegible] सुगम मार्ग को। वह श्रान्त-पथिक था।

नदी के किनारे एक विशाल वटवृक्ष की छाया में
दोनों बैठ गए, सुमङ्गला को किसी की चिन्ता न
न थी वह थी और सरिता का कलकल नाद। उस
भोली भाली को इसकी सूचना न थी, कि विधाता
उसके विपरीत है। उसके सुखमय जीवन को अधिक

काल तक सहन करना ब्रह्मा की शक्ति के परे है। भयङ्कर काल की कुदृष्टि उस पर पड़ रही थी, और वह अपनी कुचालें चल रहा है।

प्रमोद सिमट-सिकुड़ कर बैठा मधुरस्वर में कुछ गुनगुना रहा है। "हाय ! दीनानाथ !! आज क्यों निष्ठुर बन गए, हाय !!! प्राण प्यारा बैकुण्ठ सिधारा मेरे जीवन का सहारा, अन्धे का एक मात्र आधार। हाय ! क्या करूँ !" ये भयानक शब्द हवा में गूँज उठे। भयभीत होकर तथा पक्षी की भाँति पर फड़-फड़ा कर प्रमोद उठ खड़ा हुआ। सुमङ्गला ने भी व्याकुल होकर नेत्र उघारे, झपटकर प्रमोद के चरण गहे:—"प्राणनाथ ! मेरे जीवन के आधार !! कहाँ जाते हैं !"

"देव ! सुमङ्गले !!" नयन डबडबा आए, कण्ठ भरभरा आया, कठिनता से कहा:—"आह ! उसका नन्हा, प्यारा पुत्र, धधकती हुई चिता पर शयन कर रहा है, दीन-विधवा माता क्रन्दन कर रही है।"

वह सब कुछ समझ गयी, जानती थी, वह लालसा, अतृप्त-तृष्णा, सीधे-सादे सरल भावों की क्रीड़ा-स्थल हृदय में प्रवेश कर वासना रूपी कपट-कपाट खोलना चाहती है। एक ओर पति की ममता और निर्वैर, उसका हृदय प्रेमामृत से पूर्ण है। दूसरी ओर कुटुम्ब का भय, विचार करने का समय न था। वह अचेत होकर अवनि पर लोट गई। बन्धन छुड़ाकर प्रमोद दौड़ा।

प्राणप्यारी, सुमङ्गला सुखमय गेह, सबकी अवहेलना सबका तिरस्कार प्रमोद ने पाई सरल राह। बस अब किसको है किसकी परवाह।

आठ नौ दस अब ग्यारह बज गए, घर में हलचल मच गई। क्या कारण है अभी तक सुमङ्गला तथा प्रमोद नहीं लौटे वे नित्य आठ बजे लौट आते थे आज क्या है।

माता द्वार पर खड़ी है पिता व्याकुल निकल भागने पड़ने किसी प्रकार [illegible] के नेत्र पहचान।

देखा मूर्छित सुमङ्गला को अकेले, [illegible] कठिनता से सुमङ्गला को चेत [illegible] सम्मुख देखा ससुर को, [illegible] "पिताजी ! पतिदेव कहाँ हैं ?"

ससुर चकित हो गए। आज [illegible] व्यवहार में इतना परिवर्तन, मैं [illegible] साभाग पुत्र-वधू से बातें कर रहा हूँ। अब [illegible] वेदना ने प्रचण्ड रूप धारण किया।

अवरुद्ध कण्ठ से कहा:—"बच्चे ! [illegible] तेरे साथ ही था, तुझे नहीं मालूम वह कहाँ [illegible] सम्भव है जल-क्रीड़ा का आनन्द लेता हो, वह क्रीड़ा का बड़ा प्रेमी है।"

उत्तर मिला:—"नहीं ! पिताजी ! [illegible] के समान मुझ दमयन्ती को सोती हुई [illegible] अज्ञातमार्गका अन्वेषण करने गये।"

इतना कहते कहते सुमङ्गला के हिचकियाँ [illegible] गईं, ससुर का भी धीरज छूट गया। [illegible] कठिनता से घर के द्वार पर पहुँचे। सुमङ्गला [illegible] के लिपट गई और करुणस्वर से क्रन्दन करने [illegible] सास के बहुत पूँछने पर कठिनता से सम्पूर्ण [illegible] कहने में समर्थ हुई, विधवा की घटना [illegible] कर वह पुनः—मूर्छित हो गई।

घर में कोहराम मच गया, सब [illegible] प्रमोद की खोज करने लगे। नदी में जाल [illegible] गया इधर उधर आदमी भेजे गए, समाचार [illegible] चित्र दिए, और यह भी घोषित किया कि [illegible] को पाँच सहस्र रुपया इनाम देंगे, कि[illegible] व्यर्थ था।

पिता स्वयं वेष बदल कर खोजने [illegible] अभी तक कोई समाचार नहीं मिला। [illegible] स्मृति में सुमङ्गला की हृदयचिता को धधका [illegible] अश्रुराशियाँ को उद्वेलित कर व्यथा-वेदना [illegible] होकर इधर उधर फैल रही है।

...कि होगी। जो आवश्यक कार्य को पूरा नहीं करते और अनावश्यक कार्यों की हृदय में इच्छा रखते उनको सत्य की अभिलाषा सद्भावपूर्वक उत्पन्न ही नहीं होती। वे बेचारे आगे पीछे व्यर्थ चिन्तन करते रहते हैं। यदि यह कहा जाय कि आवश्यक कार्य क्या है, तो इसका उत्तर यही होगा कि जिस कार्य के बिना न रह सके तथा जिसे करने का साधन प्राप्त हो तथा जिसके करने में किसी प्रकार का भय न हो, वही आवश्यक कार्य है। अपने कर्तव्य का पालन करने पर स्वयं उन्नति हो जाता है; अतः उन्नति के लिए निदान का परम मूल है। जीवन की परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, सत्य की अनुभूति के लिए सभी मनुष्य समर्थ हैं। विचार दृष्टि से देखो कि जिस प्रकार देश का सम्बन्ध राज्य की सभी वस्तुओं से है, उसी प्रकार सत्य का सम्बन्ध सभी से है। जो अपने बनावटी स्वभाव को मिटा देता है वह सत्य का अनुभव कर लेता है और जो अपने बनावटी स्वभाव को नहीं मिटाता वह सत्य को किसी प्रकार नहीं पा सकता। सत्य संसार की सहायता से नहीं मिल सकता। यदि गुणों का अभिमानी रूप गुणाभिमान से नहीं मिटा सकता तो सत्य को नहीं पा सकता। यदि मनुष्य पतित अपने पतन स्वभाव को मिटा देता है तो सत्य को पा लेता है [illegible] में से गुण [illegible] तथापि गुणों के अभिमान [illegible] से बिलकुल [illegible] के जिसके समान [illegible] सकता [illegible] [illegible] से अभेद [illegible]

का त्याग ही सत्य का साधन है। यदि यह कहा जावे कि व्यक्तित्व की गुलामी किस प्रकार मिटाई जावे तो इसका उत्तर यही होगा कि जो अपने व्यक्तित्व को मिटा देता है उसको फिर किसी व्यक्तित्व की गुलामी की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि व्यक्तित्व को ही व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। यदि यह कहा जावे कि व्यक्तित्व किस प्रकार मिटाया जावे तो इसका उत्तर यही होगा कि मिटाई वही वस्तु जा सकती है जो वास्तव में न हो, बल्कि अविचार के कारण प्रतीत होती हो। देखो, आप अपने में जो व्यक्तित्व अनुभव करते हैं, क्या कभी आपने उसको देखा है? आप यह कहने के लिए मजबूर हो जायेंगे कि हमने अपने व्यक्तित्व को सुनकर स्वीकार कर लिया है, देखा नहीं। यदि कहो कि शरीर का व्यक्तित्व तो देखने में आता है तो इसका उत्तर यही होगा कि शरीर तो संसार से अभेद है, उसमें आप का क्या? विचार दृष्टि से देखो कि जिस शरीर को आप अपना समझते हैं वह वास्तव में सारे संसार से एक है; क्योंकि शरीर तथा संसार अंग तथा अंगी के समान हैं। अंग और अंगी में स्वरूप की एकता तथा माना हुआ भेद होता है। जिस प्रकार भारत वर्ष के अनेक प्रान्त भारतवर्ष से अभेद हैं, उसी प्रकार शरीर संसार से अभेद है। अतः माने हुए व्यक्तित्व को विचार पूर्वक [illegible] व्यक्तित्व के मिटते ही गुलामी [illegible] सत्य का [illegible] [illegible] दुःख में [illegible] अनुभव

होता है वही मन्त्र का अधिकारी है। विचार दृष्टि से देखो कि भोग करने पर शक्तियों का ह्रास होता है और शक्तियों का ह्रास होने पर रोग बिना बुलाए आ जाता है, तो फिर भोग का कर्ता भोग करने के लिए असमर्थ हो जाता है। ऐसी अवस्था आने पर भोग से जो हर्ष हुआ था, उससे कहीं अधिक शोक हो जाता है। इसी दृष्टि से विचारशील हर्ष में शोक का अनुभव करता है। चाहे कितना ही सुन्दर भोग क्यों न हो तथा समाज-नियमों के अनुकूल भी हो और भोगने की शक्ति भी हो, फिर भी शक्ति-हीनता होना अनिवार्य है। देखो, योग से शक्तियों का विकास होता है तथा भोग से विनाश होता है। भोग और योग में यही अन्तर है कि भोग के लिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि विषयों से सम्बन्ध होता है और योग के लिए विषयों का त्याग कर निरन्तर अनन्त सत्य से सम्बन्ध होता है। योग और ज्ञान में केवल यही भेद रहता है कि योगाभिमान के कारण योगी परम [illegible] नहीं होता; इसी लिए योगी में अनेक अद्भुत शक्तियाँ उद्भासित हो जाती हैं। [illegible] अभाव होने पर योग अपने आप हो [illegible] योग स्वतन्त्र तथा भोग परतन्त्र है, [illegible] लिए संसार की ओर नहीं देखना पड़ता। [illegible] प्रकार फलों की फसल खरीदने के लिए [illegible] के दाम देते हैं और फसल के साथ ही [illegible] मूल्य मिट जाती है, उसी प्रकार ज्ञान होने [illegible] स्वयं हो जाता है। यद्यपि ज्ञान सिद्ध [illegible] की कोई आवश्यकता नहीं रहती तथापि [illegible] कारण योग अपने आप होता है। अतः [illegible] और भोग शान्ति नहीं दे सकते [illegible] अधिकारी है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सन्त-महिमा

रचयिता—पं० [illegible]प्रसाद शास्त्री "द्विजेन्द्र"

[illegible] दूर-दूर [illegible];
[illegible] मन [illegible] है, देश-देश में।
[illegible] जाता
[illegible] में॥
[illegible]
[illegible] में।
[illegible]
[illegible] में॥

ज्ञान से मुक्ति

(लें०—पं० जयदयाल श्रीवास्तव गवर्नमेंट पेन्शनर)

मुक्ति ज्ञान से ही मिल सकती है और किसी उपाय से नहीं। ज्ञान सतसंग से होता है। सतसंग शास्त्र और सतगुरु से जो ब्रह्म निष्ठ हो हासिल होता है। ज्ञान में दृढ़ निश्चय की ज़रूरत है जिसको अटल विश्वास कहते हैं। दृढ़ निश्चय उस वक्त होता है जब तक बाकी नहीं रहता। शक उस वक्त दूर होता जब दिल उस बातको कुबूल करता है। दिल उस वक्त कुबूल करता है जब उसकी असलियत को समझ जाता है। मुक्ति आवागमन से छूटने को कहते हैं। यानी फिर पैदा और मरना न पड़े। पैदाइश कर्म भोग के वास्ते होती है। और फ़ना भोग ख़त्म होने पर होती है। अकाल मृत्यु नहीं होती है। बल्कि भोग ख़त्म होने पर जिस तरीके से मरना है उसी तरीके से फ़ना होती है। अकाल और अज्ञान के असली माने जुज़ काल या जुज़ ज्ञान के हैं। (अ) के माने नहीं के नहीं हैं बल्कि जुज़ याने थोड़े काल और थोड़े ज्ञान के हैं। क्योंकि काल यानी वक्त और ज्ञान का कभी अभाव नहीं होता बल्कि थोड़ा या जुज़ और बहुत या ज्यादा हुआ करता है। लोग गल्ती से अकाल मृत्यु और अज्ञान के मानी काल और ज्ञान के अभाव या नाश के समझते हैं मगर यह बात बिलकुल गल्त है। वक्त का पैमाना सूर्य है और आत्मा हमेशा से हर हालत मे मौजूद रहता है और यह ज्ञान स्वरूप कहलाता है। अगर काल और ज्ञान नहीं [illegible] और [illegible]

[illegible]

कारन यानी प्रान-मन-चिदाभास [illegible] में सूक्ष्म व कारन शरीर व जीव [illegible] निकल जाते हैं लिहाज़ा उसमें हरकत [illegible] रहता। सिर्फ़ पंच तत्व का शरीर [illegible] जैसे अगर दो घड़े एक खाली [illegible] से भरा हुआ सूर्य के सामने रक्खा [illegible] में सूर्य का अक्स बराबर पड़ता है। [illegible] भरे घड़े में अक्स ज़ाहिर होता है और [illegible] मालूम होता है। लेकिन खाली में [illegible] और न हरकत होती है। [illegible] अस्थूल शरीर के समझो और भरे घड़े [illegible] सूक्ष्म शरीर के समझो अक्स सूर्य [illegible] समझो और अक्स में हरकत [illegible] मन के समझो।

मुक्ति क्या है

मुक्ति या नजात जीव की जिस्मों से [illegible] कहते हैं। यानी फिर जिस्मों को जीव [illegible] और जीव अपनी असलियत में [illegible] यानी ईश्वर या ब्रह्म जो कि उसकी [illegible] उसमें टिक जावे यानी ब्रह्म भाव को [illegible] और नीचे ऊँचे लोकों में आवागमन से [illegible] यानी माया के शिकारों से या जिस्मों में [illegible] जावे। अब देखिये जिस वक्त आदमी [illegible] क़ाबिल होगया कि मेरे जीव पर पाँच [illegible] [illegible] जिस्मों में अलहिदा है और [illegible] [illegible] जानने वाला इस जानी हुई चीज़ से [illegible] [illegible] रहता है। यह अमर मुसल्लम है कि [illegible] [illegible] जुदा जुदा होते हैं आखिर [illegible] [illegible] जैसे तुम उस चीज़ को जानते हो [illegible]

जैसे बग़ैर किसी दूसरी चीज़ को जानते हो उसी तरह तुम यह खूब जानते हो कि तुम्हारी ज़िन्दा हस्ती जिस्म और रूह से मुरक्कब है। और यह सही है क्योंकि जब कोई मर जाता है तब रूह निकल जाती है और जिस्म पड़ा रहता है। लिहाज़ा तुम आक़िल या रूह हो और जिस्म मादूम है। पस यह जानने से कि तुम जिस्म ख़ाकी से अलहदा हो। बस तुम्हारी मुक्ति जिस्म ख़ाकी से हो गई। और अगर कोई भी तुमको बहकावे कि तुम जिस्म हो तो हरगिज़ तुम्हारा दिल क़ुबूल न करेगा। इसी तरह जिस वक़्त तुमको यह यक़ीन हो जावेगा कि इस ख़ाकी जिस्म के अन्दर प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय आनन्दमय कोश भी हैं जिनको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। तो तुम सूक्ष्म शरीर से भी मुक्त हो जावोगे। यह अगर तुम बख़ूबी जानते हो कि मुर्दा जिस्म में हवा या प्राण और गर्मी और चैतन्यपना और समझ या ज्ञान नहीं रहते लिहाज़ा यह मालूम होता है कि यह तमाम चीज़ें मुर्दा जिस्म से ज़रूर बाहर निकल जाती हैं। पस इस बात का कामिल यक़ीन हो गया कि जीव या चैतन्य सूक्ष्म शरीर का भी लिबास पहिने है और इसके साथ ही निकल जाता है। फिर तुमको यह भी मालूम है कि स्वाँस का चलना कोई चलाता है और जब स्वाँस बन्द हो जाती है तो चलाने वाला भी कहीं चला जाता है। तुमको यह तो बख़ूबी मालूम है कि तुम जब चाहते हो स्वाँस रोक लेते हो और जब नहीं रोकते तो बराबर चला करता है यानी तुम या जीव [illegible] लिहाज़ा जिस वक़्त तुमको [illegible] [illegible] हो गये [illegible] [illegible]

जीव समझने लगे। शास्त्रों में एक तीसरा जिस्म या गिलाफ़ या कारण शरीर कहलाता है। यही कारण बाइस शरीर पैदायश व फ़ना है। इसी को लिङ्ग शरीर भी कहते हैं। जिसमें गुज़िश्ता जन्मों की बीज रूप में भरी हुई वासनायें हैं जिनके लिये चार सिफ़त वाला अंतःकरण या मन है इन चार सिफ़तों को मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार कहते हैं इनमें पहिला चित्त है यानी चैतन्यपना और दूसरा अहंकार यानी इल्म हस्ती ख़ुद तीसरा मन यानी ख़्वाहिशात और चौथा बुद्धि यानी तमीज़ या समझ। अहंकार या ख़ुदी की वजह से जीव अपनी जुदागाना हस्ती मानता है। जैसे बच्चा शीशा में अपने अक्स को दूसरा बच्चा मानकर पकड़ता है और कुत्ता पानी में या शीशा में अपनी सूरत और हरकत देखकर उस अक्सी तसवीर को दूसरा कुत्ता समझकर भौंकने लगता है। यह अंतःकरण ही का बाइस तफ़रीक़ परमात्मा और जीवात्मा है। लेकिन जब बच्चा बड़ा और समझदार हो जाता है तब उसको यक़ीन हो जाता है कि यह शीशा की अक्सी तसवीर शीशा की वजह से जुदा नज़र आती है और उसकी जुदागाना हस्ती या असलियत नहीं है। मह्ज़ नमूद है जिसका देखने वाला मैं ख़ुद हूँ। दिखाने वाला आला अंतःकरण का शीशा है और जब उसको ऐसा यक़ीन हो जाता है बस वह कारण शरीर से भी मुक्त हो जाता है। इसी कारण शरीर या लिङ्ग शरीर में वासनायें बीज रूप में रहती हैं और उनका विकास सूक्ष्म शरीर में होता है मगर पूर्ण अस्थूल शरीर में होता है जैसे [illegible] बीज [illegible] [illegible]

विचार-कुसुम

(श्रवण ऋषि)

(अप्रकाशित ऋषिहृग दोहावली से)

१—"प्राप्त किये बिना 'त्याग' नहीं किया जाता है" जब कुछ है ही नहीं तो त्याग किसका होगा ? क्योंकि:—

दोः—नहिं पैसा पग मे छुएँ, घर न चूल्हे आग ।
भारतवासी करत 'ऋषि', सदा त्याग वैराग ॥

२—सारा ध्यान, सारा ज्ञान, सारा बल, और सारी ऋद्ध ऐश्वर्य तथा धन के प्राप्त करने मे लगा देना ही धर्म है । क्योंकि:—

दोः—नहि विन धनके धर्म हो, नहिं विन धनके त्याग ।
नहि विन धनके दान 'ऋषि', नहिं विन धनके याग ॥

३—यदि यह बात ठीक न होती तो श्रीकृष्ण चंद्र अर्जुन से यह न कहते कि तू लड़ और जय प्राप्त करके राज्य तथा राज्य के भोगों को भोग (गीता अ० २ श्लो० ३७) भारती होने के नाते याद रहे कि धर्म तुम्हारा जन्म घुटी के साथ तुम्हारे मुख में डाला गया है, इस लिये साथ ही यह भी याद रखना कि

दोः—है धन धन मोह धन 'ऋषि', जो धन सुधन कहाय।
या धनसों निर्धन भलो, जो धन कुधन कहाय ॥

धन सुकर्म ही से प्राप्त करना धर्म है।

४—लक्ष्मी को घर लाकर उस प[illegible] मोहित मत हो जाओ, वरन लक्ष्मी [illegible] मोहित होने दो, तभी यथार्थ सुख मिलेगा।

दो०—जो नर मोहित लक्ष्मी, पर वह [illegible]
जिसपर मोहित लक्ष्मी, वह 'ऋषि' [illegible]

५—धनको भूमि में गाड़ने के लिए न[illegible] लाभ, लोक-सेवा, तथा अपने सुख [illegible]

दोः—धर धर कर धन धरणि महिं, नर [illegible]
'ऋषि' अपने को जगत को, सुख हो यदि [illegible]

६—लक्ष्मी को व्यवहार में लाते [illegible] दोहे को याद कर लिया करो ।

दोः—ऋषि जग में वे अधम नर, जे हैं लक्ष्मी [illegible]
लक्ष्मी पति विष्णु करत, लक्ष्मी सँग [illegible]

७—भारत मे घर घर दरिद्रता ही [illegible] है, और दरिद्रता ही का विलास है । [illegible] मात्रा मे सबको प्राप्त है, इसी से सबको [illegible] है, इसलिए इसी का त्याग तथा इसी से वैरा[illegible]

समालोचना

(१) प्रताप समीक्षा (२) द्विवेदी मीमांसा, लेखक बा० प्रेम नारायण टंडन बी० ए० । टंडन [illegible] लेखक मंडली मे हाल ही मे पदार्पण किया है किन्तु उनकी यह दोनों पुस्तकें खूब लिखी गई हैं । [illegible] शैली अच्छी, विचार सुदृढ़ हैं । कागज और छपाई उम्दा है । दो तीन स्थान पर लेखक के बी० ए० [illegible] का परिचय अंग्रेजी शब्दों के धंस पड़ने से मिलता है । इन छोटी छोटी पुस्तकों में लेखक ने [illegible] दरिया को बंद किया है । हिन्दी साहित्य के इन दो महारथियों की कृति का सुन्दर और रोचक विवर[illegible] पुस्तकें पढ़ने योग्य है । [illegible] मे [illegible] के निबन्ध भी दिये गये है जो अंग्रेजी लेखक बेकन के [illegible] के टक्कर के है । [illegible] ([illegible]) मू० ॥।) (२) मू० ॥) प्रकाशक (१) साहित्य [illegible] भंडार [illegible]

वृ० शर्मा

VYAVAHARIKA VEDANTA

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

"GOD IS REAL, WORLD UNREAL,
SELF-REALIZATION THROUGH RENUNCIATION."

"RAMA"

...L. 1 | July, 1940 | No. 7

I Am Free

Oh! brimful is my cup of joy.
Fulfilled completely all desires;
Sweet morning's zephyrs I employ.
'Tis I in bloom their kiss admires.
The rainbow colours are my attires:
My errands run like, lightning fires.
All lovers I am, all sweet hearts I.
I am desires, emotions I.
The smiles of rose, the pearls of dew,
The golden threads so fresh, so new,
All sun's bright rays, embalmed in sweetness,
The silvery moon, delicious neatness,
The playful ripples, waving trees,
Entwining creepers, humming bees,
Are my expression, my balmy breath,
My respiration is life and death.
All ill and good, all bitter and sweet,
In those my throbbing pulse doth beat,
What shall I do, or where remove?
I fill all space, no room to move.
Shall I suspect or I desire?
All time is me, all force my fire.
Can I be doubt or sorrow-stricken?
No, I am verily all causation
All time is NOW, all distance HERE,
All problems solved, solution clear.
[illegible]
[illegible]
[illegible]

The Voice of Silence.

1 The whole world must move with one who lives as *one* with the whole world.

2 Science begins with *foot*, the unit of measurement, Religion right with heart the *hear*.

3 My system is not for promulgation first of all, it is for serving myself to live by.

4 He is a criminal forsaking his post who holds the word that is in him silent.

5 Science has done much for us, but it is a poor science that would hide from us the great deep infinitude of unknowable

6. Vedanta—active sympathy to such a degree that *altruism* & *egoism* become identical to us.

7. Let *us accept* eight things wherever it comes

Peace within me
Peace without me
Peace to the right of me
Peace left of me
Peace before me
Peace behind me
Peace above me
Peace below me

8 When industry and virtue meet and kiss Holy their union, and the fruit is bliss.

9 I laugh and laugh as I see plants, animals, men all dancing like iron filings under the magnet of my hypnotising MAYA

10 Death is inevitable, why not select death-in-life. Children when they just take a mango cant stop eating Such is the taste of death-in-life (मौत की चाशनी)

11 To whom shall I give thanks,
To whom shall I turn and look up
When I ...

14 All the universe is but My ...

15 The universe is my body ... are my dress and shoes

16. My cup is the Hemisphere ... and the sparkling light is my wine

17. The universe, being an ... my own Self is sweetness ... shall I blame ? What shall I ... O joy, it is all I.

18. The world is my body ... say the whole universe is my ... from transmigration

19 Do you play the part of a ... Prophet ?

A. No, that is below my dig... God itself and so are you The ... vehicle.

20. I desire nothing I have ... no fear, no expectation, no respons...

21. I do not want to produce ... and gather any followers, I ... truth.

22. Not to produce millions of ... like Budha, Mohammed, Christ ... prophets or incarnations but to pro... or express Rama himself in every ... and child, is Rama's mission. ... the body; eat up this person... digest, and assimilate me, then ... you do justice to Rama

23 Be you an American, ... Mohammedan, a Buddhist, or ... whatever you may be, you are ... You are the Self of self to him.

24 My system is not for pro... ... to live by

25 If my body orders me ... one word, I would ... the Knowledge of S... ... whole world is my b... ... religion

O friend! Why dost thou weep? Thou neither birth, old age nor death. Thou neither passion nor craving. Thou hast her gross nor subtle body. Thou hast ier mind nor *prana*. Thou art the Eternal, pervading Self. Feel this and be free.

O friend! Why dost thou grieve? Thou neither name nor form. Thou hast neither e nor age. Thou hast neither sex nor *indriyas*. u art neither bound nor weak. Thou hast her father nor mother. Thou art ever pure, nal, immortal. Realise this and be free.

Find out the real inner man. The real man ileless and formless. Do not identify the n with the outer food-sheath, annamaya-ha or the physical body. The gross physical y is like the shell of a cocoanut. The real n is the Immortal Spirit, which cannot be ihilated. Man in essence is the Imperish-e *Atman*. He is the silent witness of the ee states viz., *Jagrat, Swapna and Sushupti* aking, dreaming and deep-sleep-states)

Just as a rope in darkness is mistaken for nake, a post in darkness for a man, so also s impure body is mistaken for the pure Self ough *avidya* or ignorance. If you bring a t, the illusory snake in the rope will dis-pear. Even so if you atta[illegible] knowledge [illegible] e Self, the illus[illegible] dy will va[illegible] T[illegible] e man [illegible] st, no[illegible] ually [illegible] ousness [illegible] tributes [illegible] easure [illegible] It you [illegible] eme S[illegible] ou will [illegible] her w[illegible] re Self [illegible]

That *vastu* or something which has neither beginning nor end is the Imperishable Brahman (*Akshara*). *Akshara* only is Unchanging, Infinite, Eternal, Self-luminous, Indivisible, Pure, Perfect, Ever-free and Independent. *Akshara* is your Imortal Soul.

The fields or bodies are different but the Knower of the field is one. *Jivatmas** are different but Paramatma is one. Wherever there is mind, there are *prana*, egoism, and *Jiva-chaitanya* or reflected intelligence or Abhasa Chaitanya side by side. *He who has the sense of duality (Dvaita Bhava) will take births again and again. This delusion of duality (Bheda-Bhranti) can only be removed by the knowledge of identity of Jiva and Brahman.* "Aham Sukhi" "I am happy". "Aham Dukhi" "I am miserable". AhamKarta" "I am the doer"; 'Aham Bhokta" "I am the enjoyer", is the experience of all human beings. Therefore the Jivatma is a Samsarin and is subject to pleasure and pain and Jivatmas are different in different bodies, whereas Parmatama is free from pleasure and pain. He is Asamsarin. He is eternally free. He is one.

If there is only one *Jivatma* in all bodies, all should have similar experiences at the same time. If R[illegible] suffers from abdominal colic, K[illegible] experience the pain at the [illegible] Jacob also [illegible]

The Self is not affected by pleasure and pain, virtue and vice. He is the silent witness only. Pleasure and pain are the dharmas of the mind only. They are ascribed to the Self through *avidya* or ignorance. The ignorant man only regards the physical body as the Self. He is swayed by the two currents *Rag-Dwesha* and does virtuous and vicious actions, reaps the fruits of these actions, viz., pleasure and pain and takes births again and again. But the sage who knows that the Self is distinct from the body is not swayed by *Raga-Dwesha*. He identifies himself with the Pure, Eternal, Brahman and is always happy and actionless, though he performs actions for the welfare of the humanity.

The disease of *timira* which causes perception of what is contrary to truth pertains to the eye but not to the man who perceives. If the disease *timira* is removed by proper treatment he perceives things in their true light. Even so ignorance, doubt, pleasure and pain, virtue and vice, attachment and detachment, (Rag-dwesha), false perception, non-perception of truth as well as their cause belong to the instrument mind, but not to the silent witness.

The wheel of *Samsara* or the world's process rotates on account of avidya. It exists only for the ignorant man who perceives the world as it appears to him. There is no *Samsara* for a liberated sage. Any disease of the eye cannot in any way affect the Sun. The breaking of the pot will not in any way affect the pot-ether. The water of the mirage cannot render ...

causes perception of what is ... of truth, or causes doubt or ... truth. As soon as Knowledge of ... dawns the three forms of Avidya ... toto. Therefore the three forms ... are not attributes of the Self ... to the mind, the organ or instrument ... is only an effect or product of a ...

In the state of liberation where ... annihilation of mind ... avidya, there is no play of the ... attachment and detachment (Ra... If false perception, ignorance ... doubt, bondage, delusion, sorrow, ... essential properties of the Self, ... is an essential property of fire, ... got rid of at any time. But there ... liberated sages in the past like Sri S... Sri Dattatreya, Jada Bharata, ... who possessed extra-ordinary ... intutional knowledge, who were ... false perception, doubt, fear, delusion, etc. They were not conscious of ... they had perfect awareness of ... *Swaroop*, or essential *Sat-chid-ananda* ... nature. Therefore we will have to ... the Self is free, pure, perfect, eternal ... avidya inheres in the instrument mind ... in the Self.

The liberated sage who is freed ... selfishness, egoism, lust, anger, ... about happily. He has shaken off ... *Avidya* and its modifications cannot ... He is the ... He is the *Sannyasi* ... He is the *Paramahamsa* ... He is Brahman himself ... Lords. He is the ... He is fit to be worshipped ... blessings be upon you ... liberation in this very ...

SWAMI SIVA...

स्वामी राम की पुस्तकें

(उर्दू में)

		मूल्य	
		सा०	जि०
१—खुमखाने राम–भाग १ पृष्ठ ४०० इसमें स्वामी राम के वे लेख संगृहीत हैं, जो पहले (अलिफ) मासिक पत्र में प्रकाशित हुए थे।		१।।)	२)
२—खुमखाने राम–भाग २ पृष्ठ ४०० इसमें स्वामी राम की आत्म-कथा और उनके सदुपदेश हैं।		१।।)	२)
३—खुमखाने राम–भाग ३ पृष्ठ ४०० इसमें स्वामी राम के वेदान्तविषयक १२ लेख व भाषण हैं।		१।।)	२)
४—राम वर्षा— स्वामी राम व अन्य महात्माओं के ज्ञान-भक्ति विषयक भजनों का बृहद् संग्रह		१)	१।।)
५—राम-पत्र (इसमें स्वामी राम के ११०० से ऊपर पत्र हैं)		।।)	।।)
६—सवाने-उमरी स्वामी राम श्रीमान् आर. एन. नारायण स्वामी कृत		।।)	१)
७—नारायण-चरित्र श्री आर० एन० नारायण स्वामी का जीवन चरित्र		।।)	..
८—वेदानुवचन (आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह बेदी)		१।।)	२)
९—[illegible]		।।।)	१)
१०—रिसाला अजाइबुल इल्म		।=)	।।)
११—[illegible]		।=)	।।)
१२—नारायण धर्म (स्वामी [illegible] कृत [illegible])		।।)	...

ॐ

विषय-सूची।

कुछ पाश्चात्य योगियों के उपदेश और अनुभव

(ले० श्री सम्पूर्णानन्द जी)

हम लोग भारतीय महात्माओं के योगमूलक वाक्यों से तो थोड़े बहुत परिचित हैं ही, सूफ़ियों के कलामों को सुनते सुनते यह भी मानने लग गये हैं कि मुसलमानों में भी ऐसे लोग हो गये हैं, परन्तु ईसाई धर्म के अनुयायियों में भी योगी होते थे इसका बहुत कम लोगों को पता है। जिन पादरियों ने हमको ईसाई धर्म सिखलाने का ठेका लिया है उनको स्वयं योग से दूर का भी कोई संबन्ध नहीं है। न वह हमारे सामने यूरोपियन योगियों के वाक्य रखते हैं, न बाइबिल के ही उन भागों के समझाने का प्रयत्न करते हैं जिनमें योग और वेदान्त की ओर संकेत है। उदाहरण के लिए सेण्ट जॉन के गास्पेल का यह प्रथम वाक्य ले लीजिये :—

"आदि में शब्द था और वह शब्द ईश्वर के पास था और वह शब्द ईश्वर था।" १

जो लोग ॐ (प्रणव) का अर्थ समझते हैं और परमेश्वर तादात्म्य का बोध रखते हैं, वह तो इस वाक्य का कुछ अर्थ लगा सकते हैं, परन्तु सामान्य ईसाई धर्मोपदेशक इसकी सन्तोषजनक व्याख्या नहीं कर सकता। इसी प्रकार के और भी बहुत से स्थल हैं।

ईसाई धर्म के प्रचार के साथ योग का भी [illegible] ... [illegible] के कई सम्प्रदाय ... मठों में [illegible] ... [illegible]

यह बातें कैथोलिक सम्प्रदाय में ही रहीं। ... गन के उदय के साथ इनका प्रायः लोप ... भी ऐसे लोग होंगे पर उनका पता कम ...

चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम ... निरोध पतञ्जलि के अनुसार अभ्यास और ... द्वारा सिद्ध होता है। वैराग्य और ... मन को विषयों से हटाने के संबन्ध में ... देखिये:—

"मैं यहाँ विषयों के अभाव की ... रहा हूँ क्योंकि यदि वासना बनी रही तो ... विराग नहीं होता। मैं उस वैराग की ... हूँ जिसका स्वरूप है वासनाओं को ... से दूर रहना"—सेण्ट जॉन आव दि क्रॉस। २

"तुझको तेरे हृदय की अशान्त ... अधिक और कौन रोकता है"—टामस अ ... ३

जो इस मार्ग पर पाँव रखता है उसमें ... तितिक्षा होनी चाहिये—पदे पदे इसकी ... होगी। यदि वह इसमें ठहर न सका तो ... सकेगा। किसी महात्मा ने कहा है:—

हँस हँस कन्त न पाइयाँ, जिन पाया तिन ...
हाँसे खेले पिउ मिलै, तो कौन दुहागिन ...

यही भाव इन वाक्यों में देखिये—

"दुःख सहना प्रेम का सनातन नियम है ... दुःख के खोज नहीं होती। यह ... सहित न हो"—सूसो। ४

... and the Word was ...

... absence is not ...

... cessing desires and ...

... own heart—Thomas A ...

... pain, there is ...

"सत्यार्थ एक निःसीम मधुर, दैवी संगीत है"-सेण्ट फ्रांसिस। १०

"मैंने ऐसे फूल देखे जिनमें से ध्वनि निकल रही थी और ऐसे रागों को देखा जो चमक रहे थे"—सेण्ट मार्टिन। ११

"यह अनुभव ऐसा प्रतीत होता है जिसमें सब इन्द्रियाँ मिल कर एक हो जाती हैं"—एडवर्ड कार्पेण्टर। १२

"समाधि प्रायः यकायक लग जाती है। अपने को सँभालने का अवसर नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई बादल या बलवान बाज ऊपर को उठ रहा है और तुमको उठाये लिये जा रहा है। मैं फिर कहती हूँ:—"तुमको ऐसा प्रतीत होता है कि तुम न जाने कहाँ उठाये लिये जा रहे हो।".. और फिर, मैं मानती हूँ कि जब मैंने अपने शरीर को इस प्रकार पृथिवी से ऊपर उठते देखा तो मुझे भय लगा, पहिले तो बहुत भय लगा"—सेण्ट टेरीसा। १३

"मैंने उस रात में सनातन तत्व को देखा। (वह) निर्मल और अनन्त प्रकाशके चक्रके सदृश (था) उतना ही शान्त जितना कि वह चमकीला था" वान-१४

"मैंने अपनी दृष्टि उस अनन्त प्रकाश पर इतनी देर तक स्थिर रखने का साहस ... मेरी दर्शनशक्ति ही जाती रही। उसके ... मैंने विश्वके बिखरे पत्रोंको प्रेम के द्वारा ... बँधे देखा।...पर वाणी कितनी अल्प है ... बुद्धि में कितना थोड़ा आया है! यह सब (... मन और वाणी में आ सका है) उसकी ... को मैंने देखा इतना कम है कि इसको थोड़ा ... कहते बनता (अर्थात् यह वर्णन में ... इतनी थोड़ी है कि इसकी क्षुद्रता को ... कोई ठीक शब्द नहीं मिलता)... ऐ ... जो अपने आपमें स्थित है, जो ... सकती है, जिसको सिवाय तेरे कोई और ... सकता, तू प्रेम करती है और मुस्कराती है" डान्टे...

"जब मनुष्य की सारी वृत्तियाँ ... अचल रूप से एकाग्र हो जाती हैं तो ... आश्चर्य की बात नहीं है कि अपनी ... के साथ प्रयोग करते हुए, पहिले जैसे ... जाता है और वह अपनी अन्तर्भु... में ... कनिवासियों को देखता है और फिर ... एक प्रकार से जल्दी आग, या उससे ...

10 Reality is a heavenly melody, intolerably sweet.—St Francis

11 "I heard flowers that sounded, and saw notes that shone"—Saint Martin

12 "The perception seems to be one in which all the senses unite into one ... ward Carpenter

13 Rapture comes in general as a shock, quick and sharp, before you can ... thoughts or help yourself ... you see and feel it as a cloud or a ... rising up ward ... I repeat it You feel and ... carried ... that it threw me ... from the ...

...और उसको विलक्षण माधुर्य्य के साथ ज्ञानोपदेश ...ता है और इस प्रकार संगीतपूर्ण ध्वनि में उसको ...ना मिलता है" —बोहे। १६

परन्तु इतने ऊँचे पहुँच कर भी नीचे गिरने की शंका रहती है। अभ्यासी योग के इन सुखों में फँस रह जा सकता है, सिद्धियों का उपयोग करके पतित हो सकता है, देवलिङ्गादि के दर्शन करके अभिमान के वशीभूत हो सकता है। पतञ्जलि ने संग और स्मय दोनों बातों से सावधान किया है। इसी ...में एक साधक के वाक्य सुनिये:—

"यदि ऐसा हो कि तुझको अपनी चर्मचक्षु से या ध्यान में कोई ऐसा प्रकाश देख पड़े जो दूसरों को न दिखाई देता या अपने कान से कोई विचित्र शब्द सुने या तेरे मुँह में यकायक कोई मीठा स्वाद जान पड़े जो तू जानता है कि प्राकृतिक नहीं या तेरे शरीर के किसी अंग में कोई सुख मिलने लगे या तेरे सीने में आग जैसी कोई गर्मी प्रतीत हो, यदि कोई देव जैसा दिव्य प्राणी साकार देख... और तुझे सान्त्वना या उपदेश दे या कोई ऐसी बात हो जिसको तू जानता है कि तुझसे या किसी ...रे व्यक्ति से उत्पन्न नहीं हुई है, तो उसी क्षण या उसके बाद ही सावधान हो जा और अपने हृदय के इन भावों पर विचार कर; क्योंकि यदि इन भावों और दृश्यों में मिलनेवाले सुखों के कारण तेरा हृदय धर्म्म के आन्तरिक प्रेम और ईश्वर के आध्यात्मिक ज्ञान और साक्षात्कार से फिर गया और तेरा हृदय इन भावों और दृश्यों को दिव्य आनन्द का भाग समझकर इतने ही सुख पाने लगा तो फिर तुझे सन्देह करना चाहिये कि यह बातें शत्रु (शैतान, कुसंस्कार) की ओर से आयी हैं और चाहे वह कितनी ही सुन्दर और विलक्षण हों इनको स्वीकार मत कर।" १७

ज्यों ज्यों अभ्यास में दृढ़ता आती जाती है, त्यों त्यों योगी ज्ञान की भूमिकाओं में ऊपर उठता जाता है। रैमेनाक कहते हैं:—

"यह अभेद भावना, जो योग की क्रिया का अन्तिम पद है, एक विशेष अर्थ रखती है। प्रारम्भ में तो योगी को आत्मा से भिन्न परमात्मा की अनुभूति होती है पर ज्यों ज्यों योग में प्रगति होती है यह भेदभाव मिटता जाता है।" १८

समाधि की अन्तिम सीढ़ी, उसका परिणाम, कैवल्य है। पतञ्जलि कहते हैं 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—उस समय द्रष्टा—पुरुष—अपने स्वरूप में अव-

... own conception and that at what ... only in thyself at last. ... Thyself comprehending.

... marvel that ...

स्थित हो जाता है। इस अनुभूति को यों कह सकते हैं—"जब मैं ईश्वर के संकल्प में रिक्त होकर और ईश्वर के संकल्प और उसके सब कार्य्यों से रिक्त हो कर और स्वयं ईश्वर से रिक्त होकर स्थित होता हूँ (अर्थात् जब मैं अपने सारे संकल्प विकल्पों को छोड़ कर ईश्वर में चित्त को एकाग्र करता हूँ और फिर ध्याता और ध्येय की तन्मयता हो जाने से ध्यान का भी लोप हो जाता है) उस समय मैं सब प्राणियों से ऊपर हूँ और न ईश्वर हूँ, न जीव हूँ प्रत्युत मैं वह हूँ जो मैं था और सदा रहूँगा।" मास्टर [illegible]

यह थोड़े से अवतरण इस बात को [illegible] लिये पर्य्याप्त होने चाहिये कि योग [illegible] सम्प्रदाय के भेद को नहीं जानता [illegible] सार्वभौम है।

[इस लेख में दिये हुए अवतरण [illegible] अण्डहिल कृत मिस्टिसिज्म ([illegible]) लिये गये हैं।]

for it by occasion of the pleasure and liking thou takest in the said feeling or [illegible] feelest thy heart drawn from the inward desire of virtues and of spiritual [illegible] feeling of God for to set the sight of thy heart and thy affection, thy delight [illegible] principally in the said feelings or visions, supposing that to be a part of heavenly [illegible] angel's bliss then is this feeling very suspicious to come from the enemy; and [illegible] though it be never so liking and wonderful, refuse it and assent not thereto [illegible]

18 This feeling of identification, which is the term of mystical activity, has [illegible] portant significance In its early stages, the mystic conciousness feels the absolute [illegible] to the self as mystic activity goes on, it tends to abolish the opposition —Recejac

19 When I stand empty in God's will and empty of God's will and of all [illegible] and of God Himself then am I above all creatures and am neither God nor creature but [illegible] what I was and evermore shall be'—Meister Eckhart.

साकार-प्रेम

(कविवर श्री[illegible] अवस्थी आशुकवि)

आज [illegible] आत्मा ने, साकार रूप है पाया ।
या कि प्रेम ही अंबर छाया, के नीचे है छाया ॥
क्या हर्ष ही शिशु रूप धार कर, सुधासार ले आया ।
या उत्कंठा रूप में ही [illegible] जग पर आया ॥
है उस के सुन्दर प्रेम के [illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible]
[illegible]

निराकार-ब्रह्म

(रचयिता श्री [illegible])

नाम रूप सब छोड़ दे, और [illegible]
एक सच्चिदानन्द घन, सोई [illegible]
सोई आत्मा जान, बिना उस [illegible]
क्या सूक्ष्म स्थूल, सहित कारन [illegible]
वही तुम्हारा रूप, जो सदा [illegible]
सा अद्वती है नहीं, द्वैत का [illegible]

ॐ

वेदान्त और साकार भक्ति तथा मूर्तिपूजा

(ले०—भगवानदास गुप्त, बी० ए०)

वेदान्तशास्त्र की जानकारी हमारे देश में बहुत कम हो गई है, इसलिए वेदान्तशास्त्र के विषय में कुछ लिखने के पहले उसके मत का एक संक्षिप्त दिग्दर्शन आवश्यक है। वेदान्तशास्त्र के जन्मदाता कृष्ण व्यास हैं जिनका समय मोटे हिसाब से सन् से ३५०० वर्ष पहले माना जाता है। ये भगवान् श्रीकृष्ण के समकालीन और उनके परमभक्त कहे जाते हैं। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्तसूत्र (जिसको ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं) में अपने वेदान्तमत का निरूपण किया है। व्यासदेव के प्रायः १५०० या १६०० वर्ष पीछे (संवत् ८४५) श्रीशङ्कराचार्य इस संसार में पधारे। इन्होंने वेदान्तसूत्र के ऊपर अपना भाष्य लिखा और वेदान्तमत को जो कुछ शिथिल हो गया था पुनर्जीवित किया। हम इस विषय में आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि शङ्कराचार्य हमारे समय में वेदान्त की मानो मूर्ति माने जाते हैं यहाँतक कि इस विषय में लोग व्यास-वेदान्त न कहकर शाङ्कर-वेदान्त कहते हैं।

शाङ्कर-वेदान्त का मत

हम अपने शब्दों की अपेक्षा दो एक बड़े बड़े विद्वानों के शब्दों में वेदान्तमत का वर्णन करेंगे।

तिलक महाराज लिखते हैं—"श्री शंकराचार्य का कथन यह है कि (१) मैं—यानी मनुष्य की आँख से दीखने वाला सारा जगत् [illegible] की अनेकता सत्य नहीं है [illegible] और नित्य ब्रह्म [illegible] मनुष्य की इन्द्रियों को [illegible] है (२) मनुष्य [illegible] रूप ही है [illegible] आत्मा और परब्रह्म की एकता का पूर्ण ज्ञान अर्थात् अनुभवसिद्ध पहिचान हुए बिना कोई भी मोक्ष नहीं पा सकता। इसी को अद्वैतवाद कहते हैं। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि एक शुद्ध-बुद्ध-नित्य-मुक्त परब्रह्म के सिवा दूसरी कोई भी स्वतन्त्र और सत्य वस्तु नहीं है। दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टि का भ्रम या माया की उपाधि से होने वाला आभास है; माया कुछ सत्य या स्वतंत्र वस्तु नहीं है—वह मिथ्या है।"

विश्वकोष

"शंकराचार्य केवलाद्वैतवादी थे. उनके मत की एक सार बात यह है कि ब्रह्म ही एकमात्र अद्वितीय वस्तु है. जीव ब्रह्मवस्तु छोड़कर और कुछ भी नहीं है. जगत् माया की पहेलिका है। ब्रह्म, जीव और माया इन तीनों के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य ने अतीव पाण्डित्य पूर्ण प्रतिभा के साथ दार्शनिक विचार किया है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और सभी माया कल्पित और मिथ्या है। जीव और ब्रह्म में कुछ भी भिन्नता नहीं है। अविद्या के विनष्ट होने से ही जीव और ब्रह्म का पार्थक्य ज्ञान विनष्ट होता है। ब्रह्म निर्गुण है। वह ज्ञानमय नहीं है किन्तु ज्ञानस्वरूप है। वह चिन्मात्र सजातीयादि त्रिविध भेदरहित है। वह नित्य वस्तु और जीवात्मा ब्रह्म ही पदार्थ है. अविद्या की आवरणी और विक्षेपिका शक्ति ही सब बंधनों की हेतु है इस अविद्या माया से ही [illegible] पञ्चभूत [illegible] देहेन्द्रियादि के [illegible] होते हैं, [illegible] ब्रह्म [illegible] इस ज्ञान

प्रपञ्च का ज्ञान विनष्ट हो जाता है, इसलिए माया अनिर्वचनीया, माया अव्यक्ता है।"

श्रीसम्पूर्णानन्द जी

श्रीसम्पूर्णानन्दजी का विवेचन स्यात् सब से अन्त का है और इतना स्पष्ट और थोड़े में है कि यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा। वे लिखते हैं—"शाङ्कर-वेदान्त के अनुसार केवल एक पदार्थ का अस्तित्व है। वह सत्पदार्थ ब्रह्म है। "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों के द्वारा यह बतलाया गया है कि वह हमारे 'अहम्' से अभिन्न है। वह पदार्थ एक है, अद्वय है, एक रस है। पर इसके साथ ही इसके सर्वथा अभिन्न परन्तु स्वरूप में विपरीत असत् माया की प्रतीति होती है, यह आभास है, माया कुछ सत्य या स्वतंत्र वस्तु नहीं है—वह मिथ्या है।"

विद्वानों के प्रमाण सामने होने से हमें विचार के लिए सामग्री और सहायता मिलती है। ऊपर के वाक्यों से स्पष्ट होता है कि इनसे ब्रह्म की केवल एक आभा या झलक हमें दिखाई देती है। हम इतना ही कह सकते हैं कि यही एक अस्तित्व है, सत् है, अपरिवर्तनशील है, अर्थात् बदलता नहीं। इससे अधिक जब हम कहने चलेंगे तो गोता खायेंगे क्योंकि हमारा ज्ञान और हमारे शब्द तो इन्द्रियों से बँधे हैं (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, या और जोड़ लो मन बुद्धि) और ब्रह्म इन सब से परे है। इसलिए तत्त्ववेत्ताओं से ब्रह्म को, ईश्वर को यों दिखलाया है कि वह क्या नहीं है। नेति, नेति, वह नाम नहीं है, रूप नहीं है, गुण (सत्व, रज, तम) यदि है तो उनकी अवस्था हम नहीं अनुभव कर सकते, वह क्रिया नहीं है, कर्म नहीं है, वह मन नहीं है, अमन भी नहीं है [क्योंकि मन अमन का प्रश्न तो [illegible] [illegible]

की मनोहर कथा जो आगे आवेगी यही [illegible] करती है] वह सूक्ष्म क्या शून्य है। यह "[illegible] "यह नहीं" "यह नहीं" "अमुक नहीं" [illegible] ऐसी प्रबल हुई कि विचार होने लगा कि [illegible] है ही नहीं। वेदान्त और नास्तिकता की [illegible] दूसरे को छूने लगी। गौतमबुद्ध जैसे [illegible] यह शिक्षा देने लगे कि इस विषय पर [illegible] व्यर्थ है अर्थात् उनका झुकाव अनि[illegible] था, यहाँ तक कि शङ्कराचार्य को भी उनके [illegible] के कारण लोग कहा करते हैं कि वे [illegible] गौतमबुद्ध थे।

उससे यह

ब्रह्म के विषय में ऊपर विचार हो [illegible] पर उससे यह जगत्, यह संसार जो [illegible] बिलकुल ही विपरीत है कैसे बना। [illegible] गमागम् धातु से बना है जिसके अर्थ है [illegible] चलना" और संसार शब्द का अर्थ है "[illegible] जो सरकता जाता है—जिसमें सदा परिव[illegible] रहता है। वेदान्त का मत है कि ब्रह्म [illegible] उत्पन्न करने की इच्छा हुई, उसमें विकृति [illegible] बिगड़ गया जैसे दूध बिगड़ जाता है और [illegible] है, इसी बिगाड़ का नाम वेदान्त में माया है। बिगाड़ उत्पन्न हो यह बात जग सुनने में [illegible] पर शास्त्रों का यही मत है। माया शब्द [illegible] बना है "मा" जो मापा या नापा जा [illegible] जो। पाठक जानते होंगे कि हमारे नापने के शास्त्रोक्त नाम प्रमाणपुरुष है। मोटे हिसाब जाने का अर्थ है "जिसका ज्ञान इन्द्रियों [illegible] हो सके।" यह बात समझने की है कि माया [illegible] भिन्न कोई वस्तु नहीं है उसका एक अंश ही है बिगड़ा हुआ तब उसका एक अंश ही है।

वह कहना है (और वेदान्ती इसको [illegible] कि ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत न पहिले तप अर्थात् चित्त स्थिर [illegible]

के लिए लिखे। यहाँ तक कि परोपकारदृष्टि से
ने छोटे भाई की बहुओं के साथ सहवास किया।
ाचार्य ने अनेकानेक ग्रंथ लिखे और अपने
न्तों को सक्रिय रूप देने के लिए स्थान २ पर
ार्थ किये और द्वेषियों को परास्त किया। कितने
मन्दिर बनवाये और मूर्तियाँ स्थापित कीं। उनके
य मठ शृंगेरी (मैसूर) में सरस्वती देवी का
न् मन्दिर है, उसको शारदापीठ कहते ही हैं,
क ऐसे विद्याप्रेमी की इष्टदेवी सिवाय सरस्वती-
और कौन हो सकती है। कश्मीर के श्रीनगर में
ते पहाड़ पर एक सुन्दर मंदिर और विशाल मूर्ति
की स्थापित की है और उनके सम्पत्ति का तो
ना ही क्या है। लाखों लाख की वानवीत है जो
न्ततः सब सदाचार के लिए है। उनके अनुयायी
दंडी संन्यासी, गेरुआ धारी हैं वे भी मन्दिरों में
हैं और मूर्तियों के दर्शन और दंड से स्पर्श करते
बहुतेरे धन बटोरने के लिए भी कलङ्कित हैं।
र्य यह कि कट्टर से कट्टर वेदान्ती भी शास्त्र-
त कर्मकांड, साकार उपासना, मूर्तिपूजा इत्यादि
निषेध नहीं करते। अब इन दोनों परस्पर विरोधी
ाओं का मेल कैसे खाया जाय। कहाँ तो निर्गुण
हित ब्रह्म का ज्ञान, उसके लिए कर्म और संसार
याग और संन्यास, और कहाँ शास्त्रविहित कर्मकाड,
ार भक्ति, मूर्तिपूजा और इन सब के लिए धन-
संचय। वेदान्त इस विषय पर नीचे के अनुसार
व्याख्या देता है। शुद्ध-बुद्ध-नित्य-मुक्त का ज्ञान और
अनुभव होना अति कठिन और दुष्प्राप्य है।

ज्ञानको मार्ग कृपान को धारा। परत खगेश लगै नहिं बारा॥

जीव तो मायावर्ती जगत् में रह रहा है उनके
मायातीत ब्रह्मतत्त्व कैसे समझ में आवे। एक ओर
माया ने फँसा रक्खा है, दूसरी ओर अनीश्वरवाद
पड़ोस में है। एकबारगी संन्यास ले लेना पर्याप्त नहीं।
ज्ञान के लिए मोक्षप्राप्ति के लिए तैयारी करनी चाहिये,
सीढ़ी के द्वारा चढ़ना चाहिये। पहला काम चित्त को
स्थिर करना है—एक केन्द्र पर ध्यान लगाना, मनाने।
इसके लिए एक देवमूर्ति से आरम्भ करना चाहिये
और सिद्धि होजाने पर उसे त्याग देना चाहिये। इस
अभ्यास से चित्त में दृढ़ता तब ही निराकार का ज्ञान,
अनुभव और साक्षात् होगा महात्माओं के बताये
हुए सदाचारके कर्मकांड इसके बड़े साधन हैं और
अधिकतर परोपकार के हैं।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीड़नम्॥

जब हम दूसरों को अपने ऐसा समझकर उनकी
सेवा में लगेंगे तो स्वार्थ, तृष्णा इत्यादि अनेक वास-
नाएँ छूट जायँगी। इन्द्रियों पर नियन्त्रण हो जायगा।
माया का फाँस कट जायगा और यही मोक्ष है। फिर
जीव शरीर त्याग कर ब्रह्मतत्त्व में लीन हो जाता है।

चार बूँद आँसू

(लेखक — [illegible])

[illegible] विशाल हम भेंट ही लगाते हैं।
[illegible] मन को लगाते व रिझाते हैं।
[illegible] द्वारा तुमको मनाते हैं।
[illegible] चार बूँद आँसू तुमको चढ़ाते हैं।

साधारण धर्म्म की दृष्टि से वर्तमान काल की आवश्यकतायें

[लेखक—भाई सन्तानन्द जी एफ़० टी० एस०, एन० डी० एच० एस०]

[illegible] को देखना कर्मफल की लालसा करना और इसमें आसक्त होना कीचड़ में फँसना है। [illegible] लौकिक लोगों की बातों में पड़कर दलदल में [illegible] जाता है उसके निकालने के लिए वेदान्त का [illegible] शब्द पर्याप्त है। जैसे रस की थोड़ी सी मात्रा [illegible] समय में बड़ा काम कर दिखाती है या होमियो- [illegible] औषधि का एक डोज (Dose) जिसमें [illegible] का १०० वाँ या १००० वाँ बल्कि लाखवाँ [illegible] होता है बड़े पुराने असाध्य रोगों को नाश [illegible] है, इसी प्रकार वेदान्त का एक शब्द जन्म-जन्मान्तर के पापों को नाश कर देता है और [illegible] foreign matter अर्थात् जो अनित्य पदार्थ हैं उन्हें [illegible] बाहर करता है और जो नित्य है उसे अप- [illegible] है। संयोगवियोगादि द्वन्द्व अनित्य हैं और [illegible] इनका आधार है वह नित्य है।

सुना है कि जब स्वामी राम "ओ३म्" का [illegible] करते थे तो उनके Sympathetic vibrations द्वाराकरवृत्ति से और लोग भी जो उनके [illegible] उच्चारण करने लगते थे। सत्संग की महिमा [illegible] बड़ी है। जो भी किसी महापुरुष की संगत में [illegible] है तर जाते हैं, [illegible]

[illegible]

दुर्जन के पश्चात्। Saint had it in past while sinner had it in future. "पश्चात्ताप" क्या है? पश्चात् को ताप सहना। हमें यह पश्चात्ताप क्यों करना पड़ता है? केवल इसलिए कि हमको धर्म्म का स्वाध्याय करना मालूम नहीं। स्वामी राम बतलाते हैं कि जिस प्रकार तुम रसायनशास्त्र (Chemistry) पढ़ते हो उसी प्रकार धर्म्म का भी स्वाध्याय करो। अर्थात् धर्म्म की सचाई को अपने आचरण में ढाल कर अनुभव करो तब 'यथावत्' ज्ञान होगा और तुम अपने सुर को ईश्वर के सुर में मिला सकोगे। यही In tune with the infinite अथवा At-one-ment है। 'अयथार्थ' ज्ञान से ऐसा नहीं होता और 'विपरीत' ज्ञान से तो अधर्म को धर्म मानकर हम अपने उद्देश्य (मंज़िले मक़सूद) से कोसों पीछे भागते हैं।

बन्धन ही अशान्ति है और इस से छूटना मुक्ति है। लोग कहते हैं कि खाओ पियो और मौज करो। खा पी तो अवश्य लेते हैं परन्तु मौज कहाँ नसीब होती है? मौज तो यह है जिस सुखभोग के पश्चात् दुःख का भोग न हो। कौन सा ऐसा विषयभोग का [illegible] है [illegible] पश्चात् [illegible] का दुःख नहीं [illegible] है।

[illegible]

करता था और कीर्तन करते २ उसे यह मस्ती छाई कि विवाह का ख्याल जाता रहा। पर आज कीर्तन में जूते चोरी जाते और डंडेबाजी होती है। ऊपर के कीर्तन या किसी वस्तु से लाभ नहीं होता जब तक दिल से न हो। जिस प्रकार रेडियो में वायु द्वारा सब शब्द सुनाई देते हैं उसी प्रकार इस मानसिक जगत् में, हम जैसा विचार करते हैं वैसा ही सारे संसार में फैल जाता है। इसलिए यदि हम किसी का भी, चाहे वह हम से कितनी शत्रुता करता हो, बुरा चिन्तन करते हैं तो सारे संसार में बुरे भाव फैल जाते हैं और अच्छे विचारों से अच्छे भाव फैल जाते हैं। इसलिये व्यावहारिक वेदान्त या साधारण धर्म यह बतलाता है कि मनसा वाचा कर्मणा किसी की भी बुराई न करो। दुनिया शैतान का चर्खा है। यदि तुम दूसरों को दुःख देना चाहते हो तो दुःखी होगे और सुख देना चाहते हो तो सुखी।

मनुष्य का शरीर जो माता पिता के संयोग से बनता है रजोगुणी या तमोगुणी होता है। उसको सत्वगुणी बनाना हमारा कर्तव्य है। और यह बात संस्कारों से होती है। सिवाय हिन्दू या आर्य जाति के किसी और जाति में "गर्भाधान संस्कार" नहीं होता है। यदि इस संस्कार को हम ठीक रीति से करने लगें तो फिर महान आत्माएँ इस जाति में जन्म लेने लगें। एक बूढ़ा एक वृक्ष लगा रहा था। उससे पूछा गया कि किसके लिए लगाता है? उत्तर मिला आने वाली संतान के लिए। हमारे पूर्वजों ने जो बोया उसे हमने काटा और जो अब हम बोते हैं उसे आगे आने वाले लोग काटेंगे। यही संगठन का रहस्य है कि स्वार्थ को त्याग कर सबकी भलाई के लिए काम करो और घृणा को [illegible] पापों का [illegible] और [illegible] संसार [illegible] यह [illegible] नहीं [illegible] [illegible] का [illegible] है [illegible] [illegible]

को अपनी रक्षा के लिए न कि दूसरों के [illegible] लिए काम में लाओ।

उपरोक्त उपदेश भाईजी ने [illegible] लखनऊ में ७ जुलाई सन १९४० ई० को दिया [illegible] इस उपदेश के पश्चात् सभापति श्री [illegible] ने उपस्थित सज्जनों और उपदेशक [illegible] को धन्यवाद देते हुए बतलाया कि जैसे [illegible] और हैजे के कीटाणु होते हैं उसी प्रकार ईर्षा, [illegible] और घृणादि के भी कीटाणु होते हैं जो इन [illegible] को फैलाते हैं और आजकल जो घोर संग्राम [illegible] में मचा है इन्हीं घृणा के कीटाणुओं का [illegible] जिस प्रकार बादल जो भाप से भरपूर (Saturated) हो जाता है वह बिना बरसे रह नहीं सकता। [illegible] प्रकार जब मानसिक आकाश के बादल ईर्षा, [illegible] घृणा आदि दोषों से भरपूर हो जाते हैं तो [illegible] की वर्षा किये बिना रह नहीं सकते। इसके [illegible] नाना प्रकार के दुःख कष्टादि हैं वह भोगने ही [illegible] हाँ, अभी समय है। जो सँभल जायेंगे वह [illegible] सँभलना यही है कि हम अपने हृदयों से ईर्षा, [illegible] को दूर करके उन्हें दया, प्रेमादि से भर दें और [illegible] सज्जन इस घोर संग्राम से जो सारे संसार में [illegible] हुआ है बच कर नये युग में प्रवेश करेंगे। [illegible] प्रकार महाभारत के युद्ध के पश्चात् कलियुग [illegible] था उसी प्रकार वर्तमान युद्ध के पश्चात् [illegible] आवेगा। और उसके लिए यही तैयारी [illegible] कि हम मनसा वाचा कर्मणा किसी को [illegible] पहुँचावें और आत्मिक बल के साथ २ [illegible] (Aggressive) न [illegible] बल को प्राप्त करते हुए [illegible] अर्थात् अपने आप पहिले किसी पर आक्रमण न [illegible] हो अपने बचाव के लिये जैसा उपदेशकजी ने [illegible] बताया है अवश्य उपाय करें। [illegible]

नोट, उपरोक्त श्रीमान भाई समतानन्दजी [illegible] [illegible] विद्वान हैं इसी प्रकार के लिये बाहर [illegible] या सज्जन या संस्था उनके सदुपदेश से लाभ उठाना [illegible] हम सूचित करें।

छठीं सदी ईसा के पूर्व का भारत

(ले०— राय साहब डा० श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्०)

अब से उन लोगों का ध्यान भारतवर्ष के प्राचीन [illegible] समय के इतिहास की रचना की ओर ले [illegible] जाता है। कुछ ही वर्ष पहले तक से लोग [illegible] समझते थे कि भारतवर्ष का वास्तविक इतिहास [illegible] के पश्चात् अलेक्ज़ेंडर दि ग्रेट के भारत आक्रमण (सन् ३२६–२३ ई० पू०) से प्रारंभ होता है। उनकी धारणा थी कि पहले का इतिहास– [illegible] और महाभारत की कुछ कथाओं को छोड़कर– [illegible] न था। उनकी राय थी कि पुराणों इत्यादि [illegible] के सिवा कुछ था ही नहीं।

हम जानते हैं कि प्राचीन भारत का सच्चा इतिहास हिन्दी भाषा में सन् १९१९ में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था। अंगरेज़ी में न होने के कारण उसकी [illegible] हिन्दुस्तान में ही सीमित रही। दूसरी ओर कलकत्ता हाई कोर्ट के जज मिस्टर पार्जिटर ने सन् १९२२ में अपना प्राचीन भारतीय इतिहास अंगरेज़ी में लिखा जिसमें संस्कृत के मूल ग्रन्थों और विशेष रूप से पुराणों के बहुत से उद्धरण दिये गये। परन्तु इस ग्रन्थ में अनेक त्रुटियाँ रह गयीं। अगले साल सन् १९२३ में हिन्दी के प्राचीन इतिहास का दूसरा संस्करण निकला। सन् १९२४ में डा० राय चौधरी और सन् १९२७ में डा० सीतानाथ प्रधान के प्राचीन भारत संबंधी बड़े महत्त्वपूर्ण इतिहास कलकत्ता युनिवर्सिटी ने अंगरेज़ी में प्रकाशित किये। इन सब पुस्तकों तथा संस्कृत एवं अन्य [illegible] ग्रन्थों को [illegible] का तीसरा संस्करण हिन्दी [illegible] हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन [illegible] इन सब पुस्तकों [illegible] पर पर्याप्त प्रकाश [illegible] राम त्रेता से प्रारंभ होकर प्रायः महाभारत तक चलता है, परन्तु इसमें अनेक स्थलों पर काफी भूलें हुई हैं जिससे इसके परिणाम अनेक अंशों में अशुद्ध माने जाते हैं। डा० राय चौधरी ने विशेष रूप से महाभारत के समय से लेकर गुप्त काल तक का बहुत ही प्रामाणिक और गवेषणापूर्ण इतिहास लिखा है, अर्थात् उन के ग्रन्थ में लगभग १६ शताब्दियों (१०वीं सदी ईसा पूर्व से छठीं ईस्वी तक) का अच्छा हाल लिखा है। डा० प्रधान ने रामायण काल (१३वीं सदी ईसा के पूर्व) से महाभारत काल (१०वीं सदी ईसा के पूर्व) तक अर्थात् केवल ३ सदियों का विद्वत्तापूर्ण और सविस्तर इतिहास लिखा है। इन दो इतिहास-लेखकों ने १९ सदियों का हाल बड़े अनुसंधान और योग्यता से लिखा है, अतएव इनके तथा जस्टिस पार्जिटर के भारतीय बहुत ऋणी हैं।

हिन्दी का यह प्राचीन भारतीय इतिहास २८ वीं सदी ईसा के पूर्व से प्रारंभ होकर छठीं सदी ईसा के पूर्व तक समाप्त होता है। प्रश्न उठ सकता है कि १३ वीं सदी ईसा के पूर्व से पहले का इतिहास कैसे प्राप्त हुआ? इसका उत्तर यही है कि हड़प्पा, मोहनजोदड़ो से प्राप्त सामग्री तथा निम्नलिखित संस्कृत तथा अन्य भाषा की पुस्तकों के आधार पर:—

(१) चारों वेद, अनेक ब्राह्मणग्रन्थ, कई उपनिषद्,
(२) प्रायः अट्ठारहों पुराण तथा अनेक उप-पुराण,
(३) अनेक बौद्ध और जैन ग्रन्थ
(४) [illegible] महाभारत [illegible] हरिवंश आदि [illegible] ग्रन्थ
(५) [illegible] साहित्य [illegible] पुस्तकें
(६) अनेक [illegible] मुद्राएं।

इनमें से अनेक मूल ग्रन्थों का अध्ययन हुआ और अनेक के अनुवाद से काम लिया गया। हमारी धारणा है कि संस्कृत ग्रन्थों में जो ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है उसको सदा ऊटपटाँग मानलेना भारी भूल है। उनको भली भाँति जाँचने से आँखें खुल जाती हैं। निःसन्देह उनमें बहुतसी बातें भद्दी और हँसी लाने वाली भी हैं परन्तु यदि कोई उनपर गंभीरता पूर्वक विचार करे तो उनमें सच्चे इतिहास की पर्याप्त सामग्री मिलती है। पुराणों में भारतीय राजवंशों के उत्तम क्रमिक वर्णन पाये जाते हैं। इसका विस्तृत वर्णन फिर किया जायगा, किन्तु यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि इन राजवंशावलियों से इतिहास के समय निर्धारित करने में काफी सहायता मिलती है। यों तो उनमें कहीं कहीं पर एक एक राजा का शासनकाल १००, १००० या १०००० वर्ष अथवा इससे भी अधिक लिखा है और "जोजन एक मुच्छ रह दाढ़ी" तक लिख देने में भी लोगों ने संकोच नहीं किया, परन्तु इन वंशावलियों को ध्यान पूर्वक मिलाने से बहुत सी बड़े महत्त्व की बातें स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती हैं। दूसरी बात यह है कि प्राचीन काल के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों के हाल भी पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में अधिकता से पाये जाते हैं और इन्हें राजाओं तथा प्रसिद्ध घटनाओं से मिला देने से कभी कभी इतिहास की महत्त्वपूर्ण उलझी हुई गुत्थियां सुलझ जाता है। उदाहरण के [illegible] विश्वामित्र और वसिष्ठ का [illegible]। इन दोनों महर्षियों के [illegible] राजाओं के साथ आये हैं [illegible] अन्तर माना [illegible] परन्तु इन पर विचार करने से सिद्ध हो [illegible] या [illegible] मानने [illegible] उस [illegible] किसी भी [illegible] इतिहासकार मान सकता है। इसी

सिद्धान्त पर हम यह मानने को तैयार नहीं [illegible] ऋषि या महर्षि सौ, सवा सौ या [illegible] वर्ष से अधिक जीवित रह सकता है। [illegible] राज्यत्व काल की सीमा अन्य [illegible] भाँति हमने एक सदी में ६ मानी है [illegible] में ५ पीढ़ियों का होना माना है। इसी [illegible] अनुसार भारतीय इतिहास का जो सन्द [illegible] गया है वह कदाचित् पाठकों को रुचिकर होग

(१) मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की [illegible] समय विद्वानों की राय से प्रायः २८वीं सदी पूर्व है। इसी समय से यह इतिहासप्र [illegible] होता है। उस समय की जो वस्तुएँ मिली हैं बनावट कारीगरी आदि के विचार से यह [illegible] आता है कि सभ्यता को उस हद तक [illegible] हमारे बुजुर्गों को २-३ हजार वर्ष लगे [illegible] जिससे हमारी पुरानी सभ्यता का प्रारम्भ ७-८ हजार वर्ष पूर्व पहुँचता है। यह समय [illegible] का था जिसमें हमारे ६ मन्वन्तर आजाते हैं [illegible] समय एक दूसरे के पीछे क्रम से इस [illegible] हुए जिनका समय ७५० वर्ष का १९ वीं स [illegible] पूर्व तक पड़ता है। इसमें दैवासुरसंग्राम, [illegible] और प्रह्लाद के इन्द्र बनने की प्रधान घट [illegible] यह वह समय है जिस समय सभ्यता ऊँचे [illegible] पहुँच चुकी थी, कलाकौशल, व्यापार [illegible] उन्नति हो चुकी थी। मकानात, जेवर, [illegible] कारीगरी से बनते थे। विद्या, साहित्य, [illegible] बहुत उन्नति पर थे, लोग सत्य बोलते थे, [illegible] व्यवहार था, लोकमत का मान था। इस [illegible] सभ्यता उन्नति की सीमा पर पहुँच गयी थी [illegible] प्रमाणों के बल पर यह सिद्ध नहीं किया जा [illegible] कि वह आजकल की सभ्यता और उस [illegible] बढ़ी चढ़ी थी।

दूसरी बात यह है कि त्रेता में [illegible] ७३ पीढ़ियाँ मिलती हैं जिनमें से प्रत्येक की

रूप है, इसी प्रकार आत्मा व्यापक होने पर भी कर्म-रूप संसार रचकर खण्ड २ बोध होता है, परन्तु वास्तव में सब एक ही आत्मा आकाशवत् व्यापक है। जैसे व्यापक अग्नि वा वायु अपने अन्तर्गत रूप-रूप प्रतिरूप होजाता है, इसी प्रकार यह आत्मा रूप रूप प्रतिरूप भिन्न २ देख पड़ता है परन्तु विचारने से यह एकरूप निरञ्जन है। देख क्या पड़ेगा! हां शरीर (संसार) के कारण यह दो रूपों में अनुभूत होता है। एक तो अविद्या के कारण उत्पन्न हुआ अन्तः-करण की उपाधि से भोक्ता कहलाता है, परन्तु दूसरा विद्या की उपाधिसे संसार रचकर फल भोगता है यद्यपि सर्व साक्षीभाव सच्चिदानन्द एकरस कर्ता है।

सिद्ध योगी समाधिस्थ हो अपनी इसी व्यापक रूप में ब्रह्माण्डका रहस्य युगपद् देखता है परन्तु आत्मज्ञानी अपने एक ही आत्मा के आधार से अपने आपको—अणुसे अणु और महान् से महान सम-ष्टि में ग्रहण करलेता है जिससे व्यष्टिरूप में भी व्यष्टिभाव और समष्टिभाव में अपना अनन्त व्यष्टि-स्वरूप अनुभव करता है परन्तु किसी विषय में वह अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता है।

अणोरणीयान्महतो महीयान्—
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥कठ १।२०॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यन्त्विहैव निहितं गुहायाम् [illegible]

यही कारण है कि वह समष्टिरूप होकर भी अवतार ग्रहण कर व्यष्टिभाव से इन्द्रियों के द्वारा कभी कार्य करता हुआ भिन्नरूप से देख पड़ता है यद्यपि वह वास्तव में अभिन्न रहता है और कभी अनेकरूप से रामलीला करता है

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा—
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥कठ० ५॥

अतः पूर्ण व्यापक होने पर भी सर्वत्र आत्मा इसी व्यष्टिभाव से अपने समष्टित्व के आधार से बैठा हुआ भी दूर जाता है और लेटा हुआ भी सर्वत्र चलता है।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः
कस्तम्मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥कठ०॥

जो समस्त पदार्थों को आत्मा में ही देखता है और सब पदार्थों में आत्मा को तो द्वैत बुद्धि कहाँ रह सकती है जिससे मोह शोक बना रहे! द्वैत बुद्धि भय उत्पन्न करती है।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ईश०॥

यह आत्मा मन से भी अत्यन्त तीव्र है। इसीसे यह अचल बोध होता है। जैसे अलात चक्र घूमता हुआ स्थिर समझ पड़ता है। अथवा जैसे दीप की शिखा प्रत्येकक्षण भिन्न ज्योति के संचार और निर्गम होने पर भी स्थिर अव्यय बोध होती है। इनका चलना और नहीं चलना समान बोध होता है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ईश०॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ईश०॥

परन्तु यह अवस्था तभी होती है जब कि पाचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन स्थिर निर्विषय हो जाते हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है। आत्मज्ञानी के

लिये इनकी आवश्यकता ही क्या है ? वह तो सर्वज्ञ है। इस लिये न उसके मनन करने की आवश्यकता होती है और न विचारने की कोई बात रह जाती है।

> यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह
> बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम ॥

आत्मा स्वयं परिपूर्ण है इस लिये उसको न ज्ञानेन्द्रिय, न मन और न बुद्धि की अपेक्षा है। वह तो बिना हाथ पैर के ही चलने फिरने और लेने देने में समर्थ है। वह बिना चक्षु के देखता है और बिना कान के सुनता है। वह समस्त पदार्थ को जानता है परन्तु उसका जानने वाला कोई नहीं है। उसी को वेद महान पुरुष कहते हैं।

> अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
> पश्यत्य चक्षुःस शृणोत्य कर्णः।
> स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
> तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम ॥

वह अशरीर होने पर भी सशरीर प्रतीयमान होता है। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम' परन्तु घटाकाश और महाकाश अभिन्न एक अद्वितीय है। यद्यपि अज्ञानावरण मृत्तिका के व्यवधान से घटाकाश को महाकाश से पृथक करता है परन्तु मृत्तिकामें भी सूक्ष्म आकाशतत्व के होने से आवरणमय मृत्तिका एकरस व्यापक आकाश को भिन्न नहीं कर सकती है। जैसे एक्सरे (X-Ray) शरीर के भीतर की वस्तु छिपाकर देखते हैं। शरीरके आवरण होने पर भी उसका (एक्सरे का) व्यवधान नहीं होता है उसी प्रकार घट-मृत्तिका के द्वारा घटाकाश के व्यवधान अव्यवधान होने पर भी [illegible]

[illegible]

को बना लेता और फिर अपने में लय कर [illegible] परन्तु स्वयं अविकृत रहता है उसी प्रकार [illegible] अद्वितीय आत्मा अनेक रूप बना लेता है [illegible] उसे अपने में लय कर लेता है। रक्त, पुष्प, पुष्पों के संसर्गसे यद्यपि [illegible] पीत भासित होता है परन्तु वास्तव में [illegible] रंगरहित है। उसी प्रकार गुणों के संसर्ग से [illegible] आत्मा शरीरी बोध होता है परन्तु वह [illegible] अशरीरी सब रूपों में एक रस अखण्ड [illegible] परिपूर्ण व्याप्त है। आत्मा आकाश में [illegible] के समान सर्वत्र व्यापक अत्यन्त निगूढ़ है [illegible] वह लट्टुओं के समान भिन्न २ पिण्डों में [illegible] के तुल्य अन्तःकरण के संयोग से अनेक [illegible] प्रज्वलित हो उठता है पुनः अन्तःकरण के [illegible] होते ही प्रकाश आकाश में लय हो जाता है सहस्रों सूर्य का तेज दीप शिखा के समान प्रतीत होता है।

> न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
> नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
> तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

अतः आत्म-साक्षात्कार के लिये मन, बुद्धि [illegible] किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है [illegible] आत्मा संसार के किसी पदार्थ का विषय [illegible] आत्मा को स्वयं आत्मा में आत्मा से अनुभव करना चाहिये। यहाँ किसी वस्तु का अन्तर अविद्या है। सर्वत्र व्यापक एकरस अखण्ड सच्चिदानन्द मूर्ति ही आत्मा है। शरीर [illegible] अन्तःकरण और उसका ज्ञान आवश्यक है

लगन और प्रेम या तो उन्हें मालूम थी या भगवान श्री कृष्ण जानते थे।

सिर्फ मुलाहिज़ा तशरीह व तौजीह के वास्ते रवाना ख़िदमत है—

श्री सुखलाल तिवारी का उत्तर

(मु० ८।७।१९२७)

श्री बाबूजी महाराज–जय श्री माधोजी महाराज की–आपका कृपा पत्र मु०११ जून सन १९२७ औरा से आने के बाद गोपाल रावजी साहब के मारफ़त मुझे मिला गोया रोगी को एक अमूल्य चूर्ण प्राप्त हुआ जो सब आधि व्याधि रोगों का नाशक है–पहले से महाराज कहां सो गये थे या किसी और मरीज़ के मर्ज़ रफ़ा करने के फ़िक्र में थे। अब जब ऊपरी सांस चलने लगा गला घुटने लगा तब तशरीफ़ लाये ख़ैर ग़नीमत है। आदि-अनन्त का जोड़ा है। आदि न मर्हीं अन्त में तो पधारे अपने एक ज़ईफ़ निराधार मरीज़ की याद तो आपको रही यह याद ही आप की उसकी शफ़ा का बायस है स्वामी यह निठुरता का क्या बाना पहना गया है कुछ समझ में नहीं आता क्या मार कर जिलाना यही हकीम हाज़िक का शेवाह (रास्ता, तरीक़ा) है। अच्छा, प्रभु आप के चरित्र आपही जानो यहां सिवा चुप बैठने के और कोई चारा ही नहीं है–धन्य हो आप और आप की महिमा व अदा दोनों अकथनीय हैं—

खोजते २ एक पहाड़ी पीर मिले उन्होंने अपने जवाबी कलाम से होश ख़ाख़्ता कर दिये। मैं हूँ जो एक महज़ गुमान था मिटा दिया अजब नज़्ज़ारा ख़ुश अज़ बयां दिखलाया। होश में आकर डेरा गायब पाये। ज़्यादे तरद्दुद की हालत में पहाड़से निदाय ग़ैब सुनाई दी कि अरे यह अदा तू ही तो है यानी मालिक दीन दुनी तू ही तो है तेरे सिवा कोई और नहीं।

पुन्य शान न भय अचल बैठा तेरे आगे
प्रकृति का नाच है तो

स्वामी ... आप के नाच ... बगना

आप से भिन्न न कोई पहाड़ न पहाड़ी पीर [illegible]
आपकी भाव भक्ति का प्रताप है जो [illegible]
रहा है सुन्दर अपनो भाव है जो कुछ दीने आ[illegible]
अभी क्या हुआ है यह आप की सिदक दिली [illegible]
पीर परमात्मा इसकी रोज़ बरोज़ तरक्की [illegible]
बड़े रंग लायेंगी जैसा कि किसी ने कहा है–[illegible]
है हिना पत्थर पे पिस जाने के बाद और [illegible]
का भी फ़रमान है कि जब कोई तालिब करे,
जी से अपनी घुटाई करे, दिल सोज़ी पर .
तो यह चीज़ अपने आपे में आप ही मे [illegible]
है बशर्ते कि कोई दुनयावी अगराज़ ख़ुदगर्ज़ी में [illegible]
इसका अन्दरूनी पल्ला न पकड़े यह अनुभव [illegible]
बात है और यह आप के मालिक का बड़ी [illegible]
ज़माना तेरा मुबतिला हो रहा है–तुझे भी ख़बर [illegible]
क्या हो रहा है–जिस की तशरीह एक मुख़त[illegible]
बहुत कुछ की गई है मगर वह कागज़ [illegible]
होता है और बीमारी व ज़ईफ़ुल उमरी के कारण [illegible]
कल दिलो दिमाग काम नहीं देता है अभी [illegible]
है अभी भूल जाता हूँ लिहाज़ा लिखने पढ़ने से [illegible]
बिल निहायत मजबूर व तंग हूँ मगर [illegible]
को मैं अपना एक लाज़मी व लाबुदी फ़र्ज़ [illegible]
करता हूं जिसके कारण खेंचातानी करके [illegible]
के शब्दों का सहारा लेकर यह कुछ टूटी फूटी [illegible]
व तौजीह स्वामी की सेवा में अर्पण करता हूँ
सूरज को चिराग़ बतलाने के बराबर है—

वह अदा जिस पे ज़माना है फ़िदा आपकी है

आप क्या जिसका मिस्ल और नामों के [illegible]
नाम कल्पित है यानी इस "आप" नाम से [illegible]
व ख़लाक़ जैसा कि कहा गया है–ख़लीक़े करम [illegible]
कारसाज़ कि दाराय ख़लकस्त व [illegible] गर्द
के ऊपर ही लोग फ़िदा हैं वह तो यानी ख़ुद [illegible]
की भी जान है—

जिस मरने से जग डरे मेरे अति आनन्द।
मरने ही ते पाय हूं पूरण परमानन्द॥

है जो कहिये कहने ही लजिये का मज़मून होगया दूसरा न रहा -खुदी, ग़ैरियत, अहंकार, कपट, फ़रेब, धोखा, जाल, झूठ वग़ैरा २ जो खुदरूपी पिता की फ़रामोशी (भूल) के अनेक नाम रूप थे-खुद को जानते ही खुद में समा गये अब तो खुद रहगया जो खास खुदा था पहले से ही-देखिये बुल्लाशाह महाराज का कलाम

बुल्लाशाह दीवान मस्तान फिरदे ।
इश्क़, यार, दे कुफ़र सब तोडयाई ॥

इश्क़ और यार गार वग़ैरा २ यह सब कुफ़-ख़याली पुलाव अपनी भूल थी जो अपनी शिनाख़्त के बाद आपे में लीन होगई अब दीवाना मस्ताना फिरते हैं बजुज़ अपने दूसरा नज़र नहीं आता । यह अदा आपकी है और ला इन्तिहा है जिस के टुक हिस्से यानी शिम्मये (ज़रासी) अदा पर ज़माना फ़िदा है, जिस की तशरीह ऊपर अर्ज़ की जा चुकी है देखिये सन्त वाणी और सत पुरुषों के पद

सब उठा के दिल की शंका,
यों रहते अपनी मौज में ॥ टेक ॥
विधि निषेध की हद तोड़ के,
लोक वासना चले छोड़ के ॥
काल बली का सीस फोड़ के,
विजय किया मन फौज में ।
तब दिया नक्कारे डंका,
सब उठाके दिल की शंका ॥ यों रहते०
वर्ण आश्रम के अभिमानी,
दास वेद के हैं ते प्रानी ।
वर्ण आश्रम तजते ज्ञानी,
नहीं किसी के गोज में ॥
जिन किया वेद का फंका,
सब उठा के दिल की शंका । यों रहते०
दुरमति जिन की गई सरक है,
ऊंच नीच में नहीं फरक है ॥
निजानन्द में सदा गरक है,
दुनियादब गई बोझ में ।
तब क्या राजा क्या रंका,
सब उठा के दिल की शंका ॥ य०
दुनियाँ की यह मई मदा है,
यके भूल में कहे जुदा है ।
जय२ राम सो आप खुदा है,
नहीं किसी के खोज में ॥
कोई महरम हो इस ढंग का,
सब उठा के दिल की शंका ॥ य०

दूसरा पद मारवाड़ी

यह तो म्हारो मनड़ो भयो मस्तान,
देख्यो नूर निरंजन को ॥ टेक ॥
अगम अगोचर अजर अमर,
है दरशन निर्गुण को ॥
अधे ऊर्ध विच गगन मंडल,
में मेलो हरिजन को ॥ देख्यो नूर०
है निर्धार धार नहीं वांके,
स्वरूप चेतन को ।
अखंड स्वरूपी है परि पूरण,
कारण नहीं तत्व को गुण को ।
देख्यो नूर निरंजन को० ॥
है निर्लेप लिपे न छूवे,
प्रकाशक ज्यों दिन को ।
कर चोकस चशमों में रल गयो,
कारण नहीं घर को बन को ॥ देख्यो
भेदी तो भरमे नहीं जी,
जाके शंको न जन्म मरण को ।
देख्यो सो पाछो नहीं आवे,
पायो भेद भजन को ॥ देख्यो नू०
झिल मिल २ एक सरीखो,
जैसे झड़ लाग्यो घन को ।
कहे ज्योतरश पुरी निर्भय,
जहाँ जोर नहीं जालिम जम को ॥
अब तो म्हारो मनड़ो भयो मस्तान० ॥

[illegible] प्रभू के आखिरी इल्हाम की तशरीह लेकिन यहाँ यह सवाल पैदा होता है कि मन [illegible] और नूर निरंजन रूप जिस को देख कर यह [illegible] मतवाला होगया अपनी नाजायज अन [illegible] में खोप ऐसी हस्ती से हाथ धो बैठा—

(जवाब) मन दरअसल कोई चीज न था [illegible] की ज़्यादती का ही एक अन हुआ [illegible] खड़ा हो गया था जैसे कि हवा के चक्कर का [illegible] और पानी के चक्कर का भँवर या बरफ़ या [illegible] ज्यादती हुआ व ठंडक और फलस्वरूप [illegible] पानी के कारण पैदा हो जाता है जिनकी [illegible] सूरत और नाम जिसका दूसरा भभूला भँवर या ओला व बर्फ़ होता है और हस्ती जिस [illegible] भंगुर सिर्फ़ चन्द रोज़ा या चन्द मिनट की [illegible] है सो भी हस्ती उस की नहीं। वह हवा और [illegible] की हस्ती है क्योंकि उस में सरापा सिवा हवा पानी के और कुछ है नहीं, मगर हो क्या रहा है [illegible] वह हवा और पानी अपनी अनन्त व असली [illegible] को भुला कर छोटी सी चक्करदार सूरत वाला [illegible] छोटा सा भभूला व भँवर या ओला या बर्फ़ [illegible] हालत जो उसकी अनन्त हस्ती के एक हिस्से [illegible] शरीर, टाँके, चक्र, ब्लाक इत्यादि के महदूद [illegible] व फ़र्ज़ी हदबन्दी है—मानता है और जानता [illegible] कि मेरी यही सूरत है और यही मेरा नाम है।

[illegible] बाबा जय २ राम महाराजः—

यहाँ नाम ही नाम पुकारना।
है कौन कहाँ का कब [illegible]

[illegible] इस ने पैदा किया-कौन [illegible]
[illegible] नहीं है [illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] होता नहीं है अपने आप का-दुर मति को नहीं टारता।
यह पूरा जाल कुटुम का-है कौन कहाँ का कब का॥

यहाँ नाम०। २।

आप न मूझ्या और न बूझ्या-नमा का मारा रहे अमूझ्या।
मन दुश्मन ने कभी न झूझ्या-जन्म अमोलक हारता॥
आजाप काल हो तब का-है कौन कहाँ का कब का।

यहाँ नाम०। ३।

जीते जी तो आस्त भुगती-मरे के पीछे कैसी मुक्ती।
जब २ राम लखे कोई युक्ती-जीते सीस उतारता॥
है आखिर मरना सब का-है कौन कहाँ का कब का।

यहाँ नाम०। ४।

सो यह मानना और जानना उसका कि मेरी यही शक्ल और यही नाम है बिल्कुल झूठ व गलत है जिस में दिली अलेहदगी और किनाराकशी (जिस का नाम नफ़रत दोष-दर्शन जो वैराग का खास हेतु है) अख्तियार करने के लिये पहले पहाड़ी पीर ने उपदेश फ़रमाया है। इसी झूठी मानन का नाम मन है जो अपने आपको भुला कर पांच तत्व और तीन गुणों को जो महज़ (केवल) खयाल मात्र है अपना आप तसौवर (खयाल) करे और उनके धर्म व ड्यूटी को अपने ऊपर धारण करे। मसलन मैं एक प्राणी जीव हूँ—जीता हूँ, मरता हूँ खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, जागता हूँ, इत्यादि। जो केवल तत्व व गुणों की क्रिया है उसको अपनी समझना है यही धारन करना है उसका कर्ता भोक्ता खुद बन बैठना है। इस निश्चय के बोझ को दिलके सरने नीचे उतार कर नहीं फेंकना इस गुल्ती में यह मन जो मिस्ल भँवर व भभूले के है अर्से तक भट-[illegible] चक्कर खाता रहता है और अनगिनत खया-[illegible] के अनगिनत (शरीरों) को धारण [illegible] के मध्य होकर [illegible] रहता है [illegible] अर्से में यह आदो [illegible] इसी जन्मे [illegible] रहता है आपके [illegible] अनुसार जब यह मन अपनी हकीकत

यह इसी पाप का नतीजा है।
डूबे दुखों में आज जाते हो॥
ब्रह्म विद्या का दान अब करदो।
वरना इज्जत से हाथ धो बैठो॥
वक़्त देखो, समय को संभालो।
जात कायम हो काया पल्टा लो॥
नंगो नामूस अब इसी में है।
बचना ज़िल्लत से बस इसी में है॥
डूबा तुम्हारा तारा पूरब को।
ब्रह्मविद्या चली है योरप को॥
हिंद मजनूँ बना है दीवाना।
तलमलाता है मिसले परवाना॥

—राम वर्षा पृ० ३८३

"कलियुग" नामक कविता में रामजी का मत है कि कलियुग केवल दान—वह भी ज्ञान-दान करने से ही जा सकता है। बात ठीक भी है। आज कल भी रामजी के इस सिद्धांत के पोषक शिक्षा-प्रसार योजना को सफलीभूत करने पर तुले हैं। स्वामी जी भी तो कह गये हैं कि "सबसे बढ़कर तो तीसरा है दान। ज्ञान इसी का ज्ञान ही का दान" अतः वे भी पंडितों को आदेश देते हुए कहते हैं:—

"पंडितो! ज्ञान-दान दीजिएगा।
हिंद में आम दान दीजिएगा॥
गर यह कलियुग का गैहन है यारो।
कमर है ज्ञान-दान देने की॥"

—राम वर्षा पृ० ३८७

और इधर स्वामी राम, बादशाह बन कर 'कलयुग' को हुक्म देते हैं कि—

[illegible]

—[illegible]

स्वामी रामजी को कर्मवीरों में बड़ा [illegible] महावीर नेपोलियन की अद्भुत सफलता पर [illegible] मुग्ध थे और उनके मुँह से जबरन [illegible] निकल ही पड़ती है। स्वामी रामजी [illegible] पीठ थपथपा कर कहते हैं:—

"वाहरे नेपोलियन! नडर (निडर) [illegible]
टिड्डी दल फौज तेरे आगे [illegible]॥
"हाल्ट!" कह कर सिपाहे दुश्मन [illegible]
लर्ज़ां कर दे अकेला लश्कर को॥
जाँ बाज़ी में, शेर मर्दों में।
खुश खुनाँ दशने गमन वर्दी में॥
रोब में और गज़ब की सौल्त में।
तू बराबर था हिंदू औरत के॥
राजपूतों की औरतों का दिल।
न हिले गरचे कोह आये हिल॥
उनकी जानिब में शेर को बैलेन्स।
लैकशोहरत के नाम से है रंज॥
पुश्ते—कुश्तों के कर दिये हरम्।
खूँ के जूए भर दिये हरम्॥
मुल्क पर मुल्क तूने मार लिया!।
पर कहो इससे क्या संवार लिया!
देना चाहता था राज को [illegible]।
पर मिली हिरमाँ—आज को [illegible]
दिल तो वैसा ही रह गया [illegible]।
जैसा जंगो—जदल से पहिले था॥"

—राम वर्षा पृ० [illegible]

उसके बाद स्वामी रामजी "सीज़र" [illegible] है और नेपोलियन की भांति, अपना [illegible] अमर कर जाने के कारण, उसे [illegible] कहते हैं,—

"ऐ शाहनशाह जूलियस सीज़र।
सारी दुनियाँ का बना तू अफ़सर॥

सीज़र—" पूरा नाम जूलियस सीज़र [illegible] प्रसिद्ध बादशाह था। लेखक—

त्याग-वैराग्य

(ले०—श्रवण ऋषि)

त्याग का अर्थ है छोड़देना, वैराग्य का अर्थ है मुंह मोड़ लेना।

जो कुछ प्राप्त है, पास है वही त्यागा जा सकता है, जो वस्तु सन्मुख है, पास है, प्राप्त है उसी से मुंह भी मोड़ा जा सकता है।

बिना प्राप्त के त्याग और वैराग्य ढोंग है। कहा है:—

"जोय मरी घर संपत नासी,
मूड़ मुड़ाय भये सन्यासी"

एक हिंदू धर्मावलंबी के विषय में यह कहना कि अमुक गोमांस-त्यागी है, उसे गाली देना है। उसने तो कभी ग्रहण ही नहीं किया। इसलिये ग्रहण न करने और त्याग देने में अंतर है।

बहुत सी वस्तुएं हमें ग्रहण ही नहीं करनी चाहिये और बहुत सी ग्रहण कर के त्याग देनी चाहिये।

किसी वस्तु का बाहरी त्याग पूरा त्याग नहीं होता, पूरा त्याग मन से होता है और जिसने जिसका त्याग मन में कर लिया, फिर वह उसका भोग करते हुए भी त्यागी ही है।

और मन बिना बलिष्ट हुए त्याग में पग नहीं उठता। मन का बलवान होना शुद्ध विचार शुद्ध भोजन और शुद्ध आचार पर निर्भर है। क्या भूखे मनुष्य में [illegible] ऐसा नहीं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

अब तक त्याग और वैराग्य का पाठ पढ़ते ठीक है, समय अनुकूल था, सब कुछ प्राप्त पर अब भी वही पाठ पढ़ना, त्याग और वैरा रट लगाना भूल है, क्योंकि कुछ रहा ही नहीं, कुछ पास ही नहीं तो त्याग किसका? और कि किससे?

अब प्राप्त करने, पाने, ग्रहण करने, और का पाठ समयानुकूल है। यही पढ़ना

दो:०—नहिं बिन धनके धर्म हो, नहिं बिन धन के
नहिं बिनधनके दान 'ऋषि', नहिं बिन धन

इस लिये राम के प्यारो को राम यह फर्मान (आज्ञा) न भूल जाना चाहिये।

प्यारो फैल जाओ देश-देशांतरों में। न केवल समुद्र को वरन् पृथिवी को भी, के नाना प्रकार के रत्न (अर्थात् [illegible] आविष्कार इत्यादि) करदो भारतवर्ष को कला-कौशल से देश को परिपूर्ण कर दो, हो जाओ, तभी तो एमरीकन लेडी की करोड़ नहीं, अट्ठारह सहस्र करोड़ रुपये की भेट कर सकोगे (राम का लेख और जब पूर्णतः प्राप्त हो जायगा, तब उपदेश समयानुकूल होगा।

अभी, जब तक पूर्णतः प्राप्त नहीं हो करने पाने, ग्रहण करने और लाने की धुन रहना चाहिये।

याग त्याग रटना भूल है। ग्रहण करा की रट लगाना चाहिये।

[illegible]—पूर्ण प्राप्त की लगन रख, है यदि
बिना प्राप्त के त्याग का, रटना है

(1) याग = यज्ञ

और मत-मतान्तर सम्बंधी ग्रन्थ हैं, उन सब में गीता का उपदेश श्रेयस्कर है, ऐसा लोकमत है। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मन, और अमेरिका के तथा अन्य देशों के शास्त्रकारों का भी ऐसा ही मत है। गीता में इसके साधन भी विविध प्रकार बताये हैं, मुख्यतः तीन योग हैं, "ज्ञान-योग, कर्म-योग, भक्ति-योग" प्रकृति-अनुसार मनुष्य के स्वभाव वाले पैदा होते हैं, एक दैवी, दूसरा आसुरी (गी०, अ० १६ श्लो० ५) ये तीन गुणों के सत, रज्, व तम आधीन होते हैं फिर चौदहवें अध्याय में वर्णन किया है (श्लो० ५ देखिये,) इसलिये थोड़े मनुष्य तो पूर्ण दैवी सम्पदा वाले (सत् गुणी) होते हैं, और कुछ पूरे आसुरी सम्पदा वाले (तमोगुणी) अधिक ऐसे होते हैं जिन में सत् तथा तम दोनों का समावेश रहता है। यह नर स्वभाव वाले (रजोगुणी) होते हैं। प्रथम श्रेणी के लोग तो स्वयं स्वभाव ही से मोक्ष (अक्षय आनंद) पथ पर चलते हैं, जो आसुरी सम्पदा वाले हैं वे न केवल अज्ञानी हैं वरन् उल्टे विचार वाले होते हैं, उनका समझाना कुछ कठिन सा जान पड़ता है, इस लिये उनका सुधार देर से होगा, अब रहे बीच वाले मनुष्य-स्वभाव के लोग उन के लिये गीता का बीच का बनाया मार्ग अर्थात् कर्म योग है।

शास्त्रकारों ने कर्म के साथ भी 'त्याग वैराग्य आदि तथा कर्मकांड, यज्ञ, याग, तप, दान, इत्यादि की शाखायें की हैं। परन्तु श्री पातंजलि योग साधन करने वालों, त्यागी तथा विरागी साधू सन्यासियों को भी अंत में यही कहा है कि साधन पूर्ण होने पर लोक हित के लिये काम करना चाहिये। व्यासजी जन्मते ही जगत से चले गये पर सर्व साधारण के सुख तथा [illegible] के लिये ग्रन्थ रच गये। बुद्ध भगवान देश-[illegible] [illegible] लौट कर सन्यासियों को उपदेश दिया। स्वामी शंकराचार्य या हाल के स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, स्वामी [illegible] इत्यादि सभों ने लोक उद्धार के लिये काम [illegible] इससे जीवन उद्देश्य यही सिद्ध होता है कि [illegible] लोक-हित के आनंद के लिये काम करने को हुआ है।"

अब यदि यह काम केवल दैवी [illegible] साधू, सन्यासी या महात्मा ही कर सकते हैं [illegible] यह सब का जीवन-उद्देश नहीं हो सकता।

यदि सब के लिये है तो वह कौन सी [illegible] जिस से सर्वसाधारण अर्थात् मनुष्य तथा [illegible] प्रकृति वाले भी अपने उद्देश्य की पूर्ति सुगमता [illegible] कर सकें।

दूसरे वेद, वेदांग, वेदांत, शास्त्र, पुरा[illegible] केवल गीता ही का ज्ञान भारत ही में कहाँ [illegible] प्रति सहस्र ही होगा, अन्य देशों का तो [illegible] कहना ही क्या?

वेद तथा वेदांत का ज्ञान पुस्तक ही पर [illegible] नहीं, यह तो सर्वमई है, जो जितना, जिस [illegible] जिसभाव से पालन करता है, फल पाता है। [illegible] उंगली डालने से जाने या बिना जाने एक ही [illegible] होता है। नकदधर्म वाले व्याख्यान में रात [illegible] जापान तथा अमरीका निवासी गीता या [illegible] का नाम भी चाहे न जानते हों, पर वहां [illegible] व्यवहार हो रहा है, और वे उन [illegible] भोग रहे हैं।

भारतवासी वेदांत-ज्ञान के निर्माता हों, घर पर गीता तथा उपनिषद बँधे पड़े हों [illegible] व्यवहार में ला रही हों, पर वे, हाय! व्यव[illegible] लाने का विचार तक नहीं करते।

ऐसा जान पड़ता है कि वेदांत का विचार [illegible] फिर उसका अनुभव तथा साक्षात्कार होना [illegible] कठिन है (इसी से भारतवासी बच्चों को गीता [illegible] डरते हैं कि सन्यासी हो जायगा) इससे मु[illegible] कोई सिद्धांत ऐसा होगा जो जीवन भर ही [illegible]

अर्थात् दो:-लाखन देवालय लखे, लाखन तीर्थ नहाय ।
नहि निहाल एक मन किया, 'ऋषि' व्यर्थ सब जाय ॥

समस्त जीव न सही, तुम मनुष्य मात्र ही की सेवा करो ।

दो:-नर नारायण एक ऋषि, दो गुण भेद लखाँय ।
जो नर की सेवा करें, नारायण कहलाँय ॥

गीतामें कृष्ण भगवानका वचन है:-(अ, ३ श्लो, १३)

दो:-यज्ञ जो करना यज्ञ, यज्ञमे जो कुछ बचता सोही खान ।
वह नर जगके सब बंधन से, अरु सब पापों से छुटजात ॥
दो.-जो केवल अपने लिये, पापी अन्न पकात ।
वह अहार है पाप मय, सदा पाप वह खात ॥

(श्रीकृष्णोपदेश)

(गीता अ, (६) श्लो० ३२)

दो:-जीव मात्र का दुःख-सुख, अपना दुःख-सुख जान ।
लखत आप सम सब जगत, उत्तम योगी मान ॥

मतलब यह है कि यदि नाव चलना (वेदांत का सत्य सिद्धांत) समझ में नहीं आता है, तो किनारा ही चलता मानकर (साधारणतः यही मानकर कि सब जीव अलग अलग हैं, पर सबको दुःख-सुख का अनुभव एक समान होता है, और सारी बातों को छोड़ कर यदि मनुष्य "सेवा भाव" को ही अपना जीवन-उद्देश मान ले और व्यवहार में लाने लगे तो वेदान्त पर्यंत, व्यवहार में आने लगे । ऐसे ही भारी के सत्य काम करने वाला था इसका [illegible]

[illegible]

राम कहते हैं, मैंने उन से पूछा "इस अवस्था में यह नवीन भाषा क्यों सीखते हो" उत्तर मिला भूगर्भशास्त्र (Geology) का प्रोफेसर हूँ । भाषा में भूगर्भशास्त्र पर एक अच्छी पुस्तक निकल गई है, यदि मैं इस का अनुवाद कर सकूँगा, तो देश बांधवों को अत्यन्त लाभ होगा, इसी लिये भाषा पढ़ रहा हूँ" राम ने कहा "तुम सैंत के हो, अब क्या पढ़ते हो, अब ईश्वर सेवा करो" उत्तर दिया

"लोक सेवा ही ईश्वर सेवा है"

अतः यही जीवन-उद्देश भी है ॥

याद रक्खो इस प्रकार सेवा करने से मात्र का दुःख दूर करने की यथायोग्य चेष्टा स्वयं तुम सुखी होते हो, क्या किसी दुःखी कर तुम दुःखी नहीं होते ?

यदि होते हो तो फिर क्यों नहीं दूर करने में सहायक बनकर अपना दुःख करते ? और जो नहीं होते ! तो तुम हो । यह बात मनुष्य-स्वभाव से विपरीत

दो:-दुखियाको लख जासु हिय, तनक दुखी
ताहि मनुज जानो न 'ऋषि', अधम पशु
जाके मन नहिं उठत 'ऋषि', लख दुखिय
ताके तन में मन नहीं, है 'ऋषि' प

सेवा करोगे सेवा पाओगे । तुम इस [illegible] तुम्हारी, इस प्रकार [illegible] [illegible] होगा—तुम्हारा जीवन ही [illegible] आनन्दमय होजायगा ।

जिनके लिये उन्होंने 'सुमेध' होकर प्रण किया था उसे 'सिद्धार्थ' होकर पूरा किया। वे उस घोर प्रयत्न से प्रबुद्ध होकर उठे और संसार को शांति का मार्ग सिखाया। उन्होंने दुःख का कारण तथा उसके नाश का मार्ग जाना।

हे मनुष्यता के पूर्ण पुष्प, हमारी जाति के प्रथम विजयी खोजक! हम आपके सन्मुख शीश नवाते हैं और आपकी प्रशंसा करने में असमर्थ हैं। आप पिछली सदियों की सफलता के स्तम्भ हैं। आपके बन्धु अभी अज्ञानता और पाप के दलदल में पड़े हुए हैं।

इस प्रकार भगवान बुद्ध प्रकाश प्राप्त कर के काशी आये और एक उपवन के पड़ोस में रुक कर उन्होंने अपना पहिला उपदेश दिया और अपना मार्ग खुला घोषित किया। मनुष्य एक बड़ी संख्या में उनके उपदेश सुनने थे। वे उनसे इस प्रकार बोलते थे जैसे एक पिता अपने पुत्रों से। एक हिरन आपके पास आया और रँभाने लगा। उनकी उदारता की कोमल सबके हृदय पिघला देती थी। चालीस वर्ष तक उन्होंने भारत में घूमते हुए अपने उपदेश देते रहे।

उनके स्त्री और पुत्र ने उनके चरण खोजे और उनके द्वारा एकान्त के प्रतिफल को जो उनका भाग था प्राप्त किया। उनके पिता भी उनके शिष्य होगये और महलों के साम्राज्य को पृथ्वी के साम्राज्य से बड़े होने की शिक्षा प्राप्त की और अन्यान्य लोगों ने उस महान् आत्मा के सन्मुख शीश नवाया, गेरुआ वस्त्र धारण किया और उनके भिक्षु बन गये।

चालीस वर्ष तक वे जीवित रहे और अपने उपदेशों का प्रचार करते रहे। इसके पश्चात् वे संसार से विमुख हुए और अपना यह कार्य अपने प्यारे भाई भगवान मैत्रेय के हाथ सौंप गये।

उनकी मृत्यु के बाद एक बड़ा स्तूप उनके पहिले उपदेश के स्थान पर बनाया गया। वह आज भी उपस्थित है। शेरों के सिर एक मध्यस्थित स्तम्भ पर उस मठ में बाद में बनवाये गये और अनेक स्तम्भ उनके चारों ओर हैं।

यह कहा जाता है कि भगवान ने उस संसार को, जिसके लिये उन्होंने घोर परिश्रम किया, छोड़ा नहीं है। ऐसा भी कहा जाता है कि वैशाख मास की पूर्णिमा को बुद्ध भगवान की झलक चन्द्रमा में देखी जा सकती है। वह अपने उत्तराधिकारियों की शुभ कामना करते हैं जिन्होंने इस सकरे मार्ग को विस्तीर्ण किया। साथ ही साथ उनकी शुभ इच्छायें उन दरिद्र और अज्ञान पुरुषों के साथ हैं जिन्होंने उनका ज्ञान रूपी प्रकाश प्राप्त किया।

कुछ भी हो वह सदैव निवास करते हैं और उस आध्यात्मिक शान्ति को प्रत्येक मनुष्य प्राप्त होगा। कारण यह है कि वह विभूति समस्त जीवधारियों के लिये शान्ति का संदेश लेकर आई थी॥ नमो बुद्धाय॥

(धर्म सन्देश से)

हमारा राम

कलियुग की ठीक आयु

[ले०—श्री १०८ स्वामी पण्डित राजनारायणजी षट शास्त्री ज्योतिष भूषण फाजिल्का जिला फीरोजपुर (पंजा)

मनुस्मृति अध्याय १ श्लोक ६७—७० मे चारों युगों की आयु कलियुग से लेकर क्रमपूर्वक इसप्रकार आती है ४८००, ३६००, २४००, १२००। मेधातिथि ने भूल में पड़कर सतयुग ४८०० वर्षों का समझा तो उसके हिसाब से त्रेता ३६०० का, द्वापर २४०० का और कलियुग १२०० वर्षों का हुआ। उसने सोचा होगा कि कलियुग तो मुझ तक ही कई हजार वर्षों का व्यतीत हो चुका है फिर यह १२०० वर्षों का नहीं हो सकता तब उसने श्री मद्भागवत् स्कन्ध १२ अध्याय २ के श्लोक को देखा होगा—

> दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थं तु पुनः कृतम्।
> भविष्यति यदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम् ॥३४॥

इसका शब्दार्थ यह है—"चार हजार दिव्य वर्षों के अन्त में" अर्थात् चार हजार दिव्य वर्षों में (कलियुग बीता) पुनः (फिर) सत्ययुग आयेगा जो मनुष्यों के मन और आत्मा में प्रकाश करेगा।"

भागवत् में इस श्लोक से पहले कई पृष्ठों में केवल कलियुग ही का वर्णन है यह स्पष्ट है कि उसी कलियुग की ओर इशारा है कि यह चार हजार वर्षों मे बीता है पुनः सतयुग आयेगा"।

इस श्लोक में दिव्य शब्द आता है, मेधातिथि ने इस शब्द का अर्थ देवता कर डाला और अभी तक प्रायः पंडित लोग ऐसा ही अर्थ कर रहे हैं। चूंकि एक मानुष वर्ष के बराबर देवताओं का एक दिन होता है यह विचार करके मेधातिथि ने भ्रम से [illegible] वर्षों का कलियुग जानकर और [illegible] से यह देव वर्ष समझकर उनको ३६० के गुणा करके [illegible] बना दिया और कलियुग की इतनी अवधि [illegible] सर्वथा मिथ्या है 'दिव्य' शब्द का अर्थ देवता नाम [illegible] मे

नहीं हो सकता। पहले मैं इसके प्रमाण देता हूँ

ऋग्वेद १। १६४। ४६

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः सुपर्णो ग[illegible]
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वा न[illegible]

इस मंत्र का देवता सूर्य है अतः इसमें अ[illegible]
प्रसंग है।

अर्थ—अग्नि रूपी सूर्य को इन्द्र मित्र व[illegible] हैं वही दिव्य, सुपर्ण, गुरुत्मान है। एक स[illegible] विद्वान् बहुत नामों से कहते हैं। अग्नि, यम, [illegible] रिश्वा कहते हैं।"

यह मंत्र निरुक्त दैवत कांड ७।१८ में भी [illegible] है यहां दिव्य शब्द की व्युत्पत्ति यह की है "दि[illegible] दिविजो" अर्थात् जो दिवि में प्रकट होता है उसे दि[illegible] कहते हैं। दिवि द्यु को कहते हैं नैघण्टुक कांड [illegible] के १२ नाम लिखे हैं उनमें द्यु शब्द भी दिन का [illegible] है अब दिव्य का यह अर्थ हुआ कि "जो दि[illegible] प्रकट होता है" और यह प्रत्यक्ष है कि दिन में सू[illegible] ही प्रकट होता है अतः दिव्य सूर्य का नाम है।

ऋगवेद १। १६३। १० यह है—

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः संशूरणासो दिव्यासो अ[illegible]
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्य मज्ममश्वाः।

इस श्लोक का "अश्वोअग्निर्देवता" अर्थात् अ[illegible] का घोड़ा (सूर्य) है, इस में भी सूर्य ही का वर्णन है

इस मंत्र पर निरुक्तने दिव्य शब्द की व्युत्[illegible] "दिव्या दिविजो" की है। बात वही है कि जो दिवि [illegible] प्रकट होता है वह दिव्य सूर्य है और यह भी [illegible] लिखा है कि "अस्यादित्यस्तुति" अर्थात् 'इस [illegible] मे सूर्य की स्तुति है'। गोया वेद में दिव्य [illegible] का है देवता को दिव्य कदापि नहीं कहते। [illegible]

प्रमाण वेद के हैं। ऋगवेद में इसी प्रसंग में १६४ मंत्र २ यह हैं—

"सप्तयुञ्जन्ति रथमेक चक्रमेक वाहिणम्। त्रिनेमि चक्रमजरमनर्व यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ एकोऽश्वो वहति सप्तनामा। सप्त युञ्जन्ति रथमेक चक्रमेकं वहति सप्तनामा। त्रिनाभि चक्रमजरमनर्व यत्र विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥" इस मन्त्र की व्याख्या निरुक्त नैगमकांड ४।२७ में यह की है—"सात किरणें एक रथ को जोड़ती हैं (रथ आकाश है) एक सात नामों वाला घोड़ा जो सूर्य है उसकी ओर सात किरण जलों को खींचती हैं अथवा सात ऋषि इसकी स्तुति करते हैं जिसके एक वर्ष के ३६० दिन-रात होते हैं ६ अरों वाले पहिये ६ ऋतुएँ हैं। १२ अरे १२ मास हैं, ३६० कीलों से जोड़ते हैं यह ३६० कीलें उसके ३६० दिन हैं (ऋगवेद १।१६४।४८ को भी देखो) सब भुवन इस सूर्य के आश्रित हैं इत्यादि।

यह सब सूर्य ही का प्रसंग वेद में चल रहा है सूर्य ही से दिन रात, १२ मासों, ६ मौसमों और ३६० दिनों की उत्पत्ति बताई जाती है और सूर्य ही का नाम दिव्य लिखा है।

व्याकरण से भी दिव्य शब्द का अर्थ देवता नहीं बनता, दिवु धातु में 'स्वार्थे यत् प्रत्यय" लगाने से दिव्य शब्द बनता है इसकी व्युत्पत्ति यह हुई 'दिवि भवं दिव्यम्' अर्थात् जो दिवि में प्रकट होता है वह दिव्य है और दिन में सूर्य ही प्रकट होता है। अतः दिव्य केवल सूर्य ही को कहते हैं दिवि द्यु को कहते हैं और द्यु दिन का नाम है। सूर्य सिद्धान्त १२।२९ में भी आता है "न तत्र द्यु निशोर्भेदो" अर्थात् वहां दिन रात का भेद नहीं।

यहां भी द्यु शब्द दिन के अर्थ में आया है इस प्रकार कभी दिव्य का अर्थ देवता नहीं होता क्योंकि वेद में देवता शब्द इसका 'देवतात्' आदि मन्त्रों में आता है। इस कारण भी दिव्य और देवता शब्दों का आपस में कोई सम्बन्ध ही नहीं है दिव्य शब्द और देवता शब्द बनाने के

कुल्लूक भट्ट ने तो अपनी मनुस्मृति में १।७१ की टीका करते हुए पृग खंडन किया है कि "एतस्य श्लोकद्वयादौ यद्दे तन्मानुषम चतुर्युगं परिगणितम् एतद्देवानां युगमुच्यते"।

अर्थात यह चारों युग मनुष्यों के हैं इनके बराबर देवताओं का एक युग होता है—

मेधातिथि ने चारों युगों को देवताओं के युग और उनके वर्षों के बराबर देव वर्ष लिखा है उसका खंडन कुल्लूक भट्ट पांच सौ वर्ष पहले कर चुके हैं। मेधा तिथि और कुल्लूक के दरम्यान छः सौ वर्ष होते हैं इन छः सौ वर्षोंमें उस समय के पंडित लोग आखें बन्द करके मेधातिथि के पीछे चल पड़े थे कुल्लूक भट्ट के खंडन को भी नहीं देखा और अब तक प्रायः सब पंडित ऐसा ही मिथ्या मान रहे हैं।

अब विचार की बात यह है कि मेधातिथि ने उल्टा हिसाब लगाकर कलियुग को १२०० वर्षों का लिखा है और दिव्य शब्द का अर्थ देवता करके १२०० को ३६० के गुणा करके कलियुग को ४३२००० वर्षों का लिख डाला परन्तु दिव्य शब्द का अर्थ किसी प्रकार भी देवता नहीं हो सकता तब कलियुग के १२०० वर्ष ही रहे और कलियुग की आयु १२०० वर्ष नहीं क्योंकि पंचांगों के अनुसारही कलियुग को अब तक ५०३६ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं इस बात से ही स्पष्टरूपेण सिद्ध होता है कि मेधातिथि ने कलियुग की जगह सतयुग समझ लिया था वास्तव में सतयुग १२०० वर्षों का होता है, त्रेता २४०० का, द्वापर ३६०० का और कलियुग ४८०० वर्षों का। यह अब समाप्त हो रहा है भागवत् के श्लोक में ४००० वर्ष कलियुग के बताये हैं संध्या संध्यांश के ८०० वर्ष हैं कुल ४८०० वर्ष हुये।

अन्य स्पष्ट प्रमाण

द्वादशाब्दसहस्रेण देवानाञ्च चतुर्युगम्।
चत्वारि त्रीणि द्वे चैक सहस्र गणितं मतम्॥

कल्कि-पुराण ३।५।१२

अर्थ—"द्वादशाब्द सहस्रेण देवानां"—१२ हजार वर्षों का देवताओं का एक युग होता है (देखो मनुस्मृति १।७१) "च चर्तुयुगम" और चर्तुयुग को ४-३-२-१ क्रम से गिनो (व्यास कहते हैं) 'मनम' यह मेरी सम्मति है।

मतलब यह हुआ कि १२०० वर्षों के बराबर ४ युग होते हैं यह देवताओं के एक युग के बराबर हैं और चार युगों की संख्या इस क्रम से है कि ४-३-२-१ को हजार से क्रमशः गिनो अर्थात्—

४— ३— २— १

१००० — २००० — ३००० — ४०००

यह ४-३-२-१ युगों में धर्मों के पाद या चरण हैं।

सतयुग में पूर्ण चार पाद धर्म रहता है फिर अन्य युगों में एक एक पाद घटता है। इस प्रमाण से सतयुग के १००० त्रेता के २००० द्वापर के ३००० और कलियुग के ४००० वर्ष होते हैं। अगला श्लोक यह है। टीकाकारों ने इसका अर्थ ठीक नहीं किया।

[illegible] चत्वारि त्रीणि द्वे चैकमेवहि।

सन्ध्या क्रमेण तेषान्तु, सन्ध्यांशोऽपि यथाविधः॥१३॥

अर्थ—जितने हजार वर्षों के सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग हैं उतने उतने सैकड़ों की उनकी सन्ध्या और सन्ध्यांश की अवधि है।

अर्थात् सतयुग के १००० वर्ष हैं तो १०० वर्षों की सन्ध्या हुई, १०० वर्षों का सन्ध्यांश हुआ। इसी प्रकार सतयुग १२०० वर्षों का त्रेता २४०० का द्वापर ३६०० और कलयुग ४८०० वर्षों का हुआ।

विष्णु पुराण

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इस प्रकार है—

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमं।
दिव्याब्दानां सहस्राणि युगेष्वाहुः पुराविदः॥

अर्थ—४-३-२-१ के क्रम से सतयुग, [illegible] द्वापरयुग और कलियुग हैं। उनकी संख्या [illegible] दिव्य वर्ष में है ऐसा प्राचीन विद्वान कहते हैं।

यहां भी ४-३-२-१ धर्म के पादों के सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की [illegible] अर्थात् ४ पाद वाला सतयुग, ३ पाद वाला [illegible] पाद वाला द्वापर और १ पाद वाला कलियुग है। संख्या भी क्रमशः १०००-२०००-३००० [illegible] हैं जैसे—

४	३	२	१
सतयुग	त्रेता	द्वापर	कलियुग
१०००	२०००	३०००	४०००

अगला श्लोक पढ़ो—

तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते।
सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः॥

अर्थ—उतने ही सैकड़ों की संख्या है और [illegible] ही संध्यांश है इन दोनों के बीच की संख्या [illegible] कहते हैं।

मतलब यह है कि ४ चरण धर्म वाला [illegible] १००० वर्षों का है उसकी १०० वर्षों की [illegible] १०० वर्षों का सन्ध्यांश है। यह कुल १२०० [illegible] इस प्रकार सन्ध्या और सन्ध्यांश के [illegible] के १२०० वर्ष हैं परन्तु केवल सतयुग १००० वर्ष का है इसी प्रकार त्रेता २००० वर्षों का है और [illegible] सन्ध्या सन्ध्यांश के हैं कुल २४०० वर्ष [illegible] [illegible] ३००० वर्षों का है ४०० वर्ष [illegible] [illegible] का सन्ध्यांश है कुल कलियुग [illegible] [illegible] सन्ध्यांश सहित हुआ।

(क्रमशः)

A warning to Sadhakas

(SWAMI RAMDAS)

Conceit, fretfulness and ill-temper are not the signs of spiritual advancement; it is not to be filled with anxiety for the future either. As you walk on the Path you develop broad and noble qualities. Pettiness and brooding are foreign to the illumined nature of the sadhaka. The mere fact that a person can talk glibly of Brahma jnana and write in extenso on the greatness of that achievement does not make him a real sadhaka. Even a long stay in the company of a saint does not entitle him to the supreme spiritual status. Very often a prolonged residence with a saint far from being conducive to his spiritual progress proves a drag on his Path. Ramdas can emphatically say that it would be well for a sadhaka to get the necessary touch of a saint and then go and live by himself and do spiritual discipline for control and purification of the mind, preliminary to gaining the knowledge of the Self. What retards his progress is the pride that he has attained the goal although he may be only a smatterer in Brahmavidya.

Self-realisation is the knowledge and experience of the Self. In this state the saint lives in unbroken inner peace and bliss. He knows that he is the immortal Atman and the Prakriti before him is his own manifestation. *In him* there is no duality. He may assume duality for the sake of [illegible]. As you see *yourself* in the mirror [illegible] himself in all creatures and [illegible] of the world [illegible] the entire [illegible]

[illegible]

is a [illegible]

spiritual [illegible]

observed [illegible]

illumined soul [illegible]

personality by which he attracts all [illegible] towards him. He does not merely [illegible] but elevates and sanctifies their lives [illegible] people shrink away from the sadhaka [illegible] presumes to be advanced on the path, who [illegible] big of himself, who looks down upon [illegible] on others, you may depend upon it he is [illegible] away from the goal. Further such [illegible] becomes a tyrant to those who have to [illegible] and deal with him. There is nothing [illegible] pernicious than the egoism of the so-[illegible] spiritually advanced sadhaka.

A keen aspiration coupled with [illegible] and humility are essential for a sa[illegible] Until he realises God he will avail him[illegible] every help in his march on his Path. T[illegible] I am Brahma is very easy but to act B[illegible] is very very difficult. By mere saying [illegible] cannot realise that you are Brahma. [illegible] and sages have taught by their exam[illegible] to reach this exalted state. Ramdas wa[illegible] spiritual aspirants not to delude them[illegible] into thinking that they have attained [illegible] perfection while they are still stumbling [illegible] Path. Ego must be dead along with a[illegible] desires. Brahma must be the dominan[illegible] the only real factor in the life of the sad[illegible] His life must totally be filled with the [illegible] peace and joy of the Brahma. He m[illegible] live and move as Brahma. He must [illegible] eat and do all actions as Brahma. [illegible] have achieved this consummation of the d[illegible] [illegible] then you are a thousand times bles[illegible] [illegible] purpose of human life is fulfilled [illegible] go onward steadily and surely intens[illegible] [illegible] day your thirst for God until you [illegible] that you are He.

Om ! Om !! Om !!!

Prayer for World-Peace

(SWAMI SIVANAND)

O Adorable Lord! May Absolute Peace [illegible] over the whole world! May the War [co]me to an end soon! May all Nations and [com]munities be united by the bond of Pure [lo]ve! May all enjoy Peace and Prosperity. [M]ay there be deep abiding Peace throughout [th]e Universe! Grant us Eternal Peace, the [Pe]ace that passeth all understanding! May [w]e all work together harmoniously with the [spi]rit of self-sacrifice for the well-being of [th]e World. May we all develop Cosmic [lo]ve and Universal Brotherhood! May we [a]ll see God in all faces!!

O All-merciful Lord! Grant us an under[st]anding and forgiving heart, broad tolerance [an]d adaptability. Grant us that inner eye of [W]isdom, O Lord, with which we will behold [On]e-ness or the Self everywhere!!

Peace be to the East. Peace be to the [W]est. Peace be to the North. Peace be to the South. Peace be Above. Peace be Below. Peace be to all creatures of this Universe!

Sarvesham Swastir Bhavatu.
Sarvesham Shantir Bhavatu.
Sarvesham Poornam Bhavatu.
Sarvesham Mangalam Bhavatu.

May Auspiciousness be unto All!
May Peace be unto All!
May Fullness be unto All!
May Prosperity be unto All!

Lokah Samastha Sukhino Bhavantu.
May Happiness be unto the whole World!

Om Poornamada Poornamidam Poornat Poornamaduchyathe. Poornasya Poornamadaya Poornameva Avasishyathe. That is Full. This is Full. From that Full this Full has come; when This Full is taken from That Full, It always remains FULL!!

Om Santi! Santi!! Santi!!!
Om Peace! Peace!! Peace!!!

N.B.—(All are requested to repeat this prayer daily at surise. The spiritual vibrations [g]enerated by collective prayers will bring peace to the whole world—Editor)

Sadharan Dharma

[illegible] truth.

Vision Universal

(SWAMI OMKAR.)

Vision Universal is the Birthright of every individual on the face of the earth, irrespective of the differences of castes creeds, colours and nations

When once a man is blessed with Universal Vision, the false values of the world such as differences of high and low stations, riches and poverty, learning and ignorance, lose their empty meanings, and one beholds all beings as the One Manifestation of God

It is the lack of Universal Vision that is creating havoc in the lives of individuals as well as nations, resulting in unrest, excruciating sufferings, and wars

People are jealous of each other even in the name of spirituality and religion There is communal strife and fighting between Hindus and Mohammedans, all in the name of religion There are blood thirsty wars taking the toll of millions of lives in East and West, all because of the denial of the Vision Universal

Where people are blessed with Vision Universal, there is Peace, Prosp[illegible] Progress, economically, socially and spir[illegible]

Where the people are living like [illegible] devoid of Universal Vision or Divine [illegible] there is strife, poverty, degenerat[illegible] ignorance of every kind and in every for[illegible]

Behold! the life-giving and soul-awak[illegible] vision of the Sun as he rises from the horizon every morning! He dispels all [illegible]ness in every form, with his penetrating [illegible] of sweeping, effulgent Light His Vis[illegible] always filled with Light and Life [illegible] nothing but Life and Light in all his [illegible] every day, because he radiates and [illegible] infinite Light on the whole world.

It is in the Vision Universal that [illegible] realizes, that in loving anyone, one is lov[illegible] One God, that in hating or hurting anyo[illegible] is hating and hurting the ONE PRESEN[illegible]

In the Universal Vision, everyth[illegible] everyone is God! Verily, nothing [illegible] except THAT!

Thou art That: Tat Twam Asi

Whatever thou lovest, man
Thou, too, become that must,
God, if thou lovest God,
Dust, if thou lovest dust.

स्वामी राम की पुस्तकें

(उर्दू में)

		मूल्य	
		सा०	वि०
१—खुमखाने राम-भाग १ पृष्ठ ४०० इसमें स्वामी राम के वे लेख संगृहीत हैं, जो पहले (अलिफ) मासिक पत्र में प्रकाशित हुए थे।		१॥)	२)
२—खुमखाने राम-भाग २ पृष्ठ ४०० इसमें स्वामी राम की आत्म-कथा और उनके सदुपदेश हैं।		१॥)	२)
३—खुमखाने राम-भाग ३ पृष्ठ ४०० इसमें स्वामी राम के वेदान्तविषयक १२ लेख व भाषण हैं।		१॥)	२)
४—राम वर्षा— स्वामी राम व अन्य महात्माओं के ज्ञान-भक्ति विषयक भजनों का बृहद् संग्रह		१)	१॥)
५—राम-पत्र (इसमें स्वामी राम के ११०० से ऊपर पत्र हैं)		॥)	॥)
६—सवाने-उमरी स्वामी राम श्रीमान् आर. एस. नारायण स्वामी कृत		॥)	१)
७—नारायण-चरित्र श्री आर० एस० नारायण स्वामी का जीवन चरित्र		॥)	..
८—वेदानुवचन (ब्रह्मदर्शी बाबा नगीनासिंह बेदी)		१॥)	२)
९—[illegible]	.. ..	[illegible]	[illegible]
१०—[illegible]	.. ..	[illegible]	[illegible]
११—[illegible]	.. ..	[illegible]	[illegible]
१२—[illegible]		[illegible]	

[illegible]

ॐ

विषय-सूची ।

व्यावहारिक-वेदान्त

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

] सितम्बर १९४०

आश्विन १९९७ [अङ्क ९

मृत्यु में जीवन का आनन्द

विछड़ती दुलहन वतन से है जब, खड़े हैं राम और गला रुके हैं।
कि फिर न आने की है कोई ढब, खड़े हैं राम और गला रुके हैं॥
यह दीनो-दुनियाँ तुम्हें मुबारिक, हमारा दूल्हा हमें सलामत।
पै याद रखना, यह आखिरी छवि, खड़े हैं राम और गला रुके हैं॥
ठगों को कपड़े उतार दे दो, लुटा दो असबाबो-मालो-ज़र सब।
खुशी से गर्दन पे तेग धर तब, खड़े हैं राम और गला रुके हैं॥
न बाक़ी छोड़ेंगे इल्म कोई, थे इस इरादे से जम के बैठे।
है पिछला लिक्खा पढ़ा भी गायब, खड़े हैं राम और गला रुके हैं॥
है चौड़ चौपड यह खेल दुनियाँ, लपेट गंगा में इसको फेंका।
मरा है [illegible] उड़ा है असबाब, खड़े हैं राम और गला रुके हैं॥
पड़ा है [illegible] कहाँ की वहशत।
है [illegible] है राम और गला रुके हैं॥
[illegible] में नहीं [illegible]
[illegible] है राम और गला रुके हैं॥

—राम बादशाह

राम-वचनामृत

जगत में रोग एक ही है और औषधि भी एक ही। चित्त से अथवा क्रिया से ब्रह्म को मिथ्या और जगत को सत्य जानना एक यही विपरीत वृत्ति कभी किसी दुःख में प्रगट होती है, कभी किसी में। और हर विपत्ति की औषधि शरीर आदि को 'है नहीं' समझ कर ब्रह्माग्नि में ज्वाला रूप हो जाना है।

लोग शायद डरते हैं कि दुनियाँ की चीजों से प्रेम किया जाय तो प्रेम का जवाब भी पाते हैं, परन्तु परमेश्वर से प्रेम तो हवा को पकड़ने जैसा है, कुछ हाथ नहीं आता। यह धोखे का ख्याल है, परमेश्वर के इश्क में अगर हमारी छाती जरा धड़के, तो उसकी एक दम बराबर धड़कती है और हमें जवाब मिलता है बल्कि दुनियाँ के प्यारों की तरफ से मुहब्बत का जवाब तब ही मिलता है जब हम उनकी तरफ से निराश होकर ईश्वर भाव ही की ओर लेते हैं।

× × ×

किसी ने कहा लोग तुम्हें यह कहते हैं, कोई बोला लोग तुम्हें यह कहते हैं, कहीं हाकिम बिगड़ गया, कहीं मुकद्दमा आ पड़ा, कहीं रोग आ खड़ा हुआ। ओ भोले महेश! तू इन बातों में अपने तकले में ब्योंग न पड़ने दे ... में मन आ ... तू एक न मान. ब्रह्म बिना ... क्या ... हुआ ... नहीं ... बिन में त्याग और ब्रह्मानन्द का ... तो ... सब कल्याण ... आँख खोल ... माल समझ ... तो मुझको समुद्र में डुबो देना

एक बालक को देखा दूसरे बालक को ... रहा था, "आज पिता से तू ऐसा पिटेगा, ... पिटेगा, कि सारी उम्र याद पड़ा करे", दूसरे ... ने शान्ति से उत्तर दिया "अगर वे मुझे ... भले ही के लिए मारेंगे न, तेरे हाथ का ... इस बालक के बराबर विश्वास तो हम लोगों में ... चाहिए. भयंकर भयानक भाव की ... बगुले की तरह गर्दन उठाकर, घबराकर, "... क्या? क्यों करने लगीं। आनन्द से बैठ, मेरे ... यहाँ कोई और नहीं है, तेरा ही परम पिता, ... आत्मदेव है,' अगर मारेगा भी तो भले के लिए। और अगर तुम उसकी मर्जी पर चलना शुरू ... तो वह पागल तो है नहीं कि यूँही पड़ा पीटे।

× × ×

जीता तो वही है, जो सत्य में, नारायण में राम में रहता-सहता, चलता-फिरता और ... है। जिन्दगी तो यही है। जहाँ पर सत्य, प्रेम और नारायण का निवास है, वहाँ शोक, मोह, दुःख ... आदि का क्या काम? उस मनुष्य की जय कभी नहीं हो सकती, जिसका हृदय पवित्र नहीं है।

× × ×

राम जब प्रोफेसर था, उसने उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण विद्यार्थियों की नामावली बनाई थी और उनके ... का ढंग और आचरण से यह परिणाम निकाला ...

जो विद्यार्थी परीक्षा के दिनों या उसके कुछ दिनों पहले विषयों में फँस जाते थे, वे परीक्षा में प्रायः फेल होते थे, चाहे वे वर्ष भर श्रेणी में अच्छे ही न रहे हों; और वे विद्यार्थी, जिनका चित्त परीक्षा दिनों में एकाग्र और शुद्ध रहा करता था, उत्तीर्ण र सफल होते थे।

× × ×

जिस समय हम लोग अर्थात् आर्य लोग इस में आए, उस समय हमको ज़रूरत थी कि हमारी और संख्या अधिक हो, इसलिए विवाह के में इस प्रकार की प्रार्थना की जाती थी कि इस के दस पुत्र हों। मगर इन दिनों दस पुत्रों की का करना ठीक नहीं है। तुम कहते हो कि मरने बाद पुत्र तुम्हें स्वर्ग में पहुँचायेंगे मगर, अब तो ने ही ये बच्चे, जिन्हें तुम पेट भर रोटी भी नहीं सकते, तुम्हारे पाप अर्थात नरक के कारण हो रहे। उधार के पीछे नक़द क्यों छोड़ते हो।

× × ×

स्वर्ग मुक्ति नहीं है, स्वर्ग के बाद तो फिर यहाँ आना पड़ता है। जो वैकुंठ की कामना रखता है, वह ब्रह्म का उपासक कैसे कहा जा सकता है? वह तो अप्सराओं की इच्छा रखता है और कामासक्त है।

× × ×

प्यारो, अगर तुम जनसंख्या के कम करने में यत्न न करोगे, तो प्रकृति अपनी क्रूर-पद्धति को काम में लायेगी और काट-छाँट करना शुरू कर देगी। जैसा कि महर्षि वशिष्ठजी ने कहा है कि महामारी, दुर्भिक्ष, भूकम्प, और युद्ध द्वारा छाँट शुरू हो जायगी। यदि आप गृह-कलह, दुर्भिक्ष, प्लेग आदि नहीं चाहते तो पवित्रता [illegible] और निर्मल आचार-व्यवहार को बर्ताव में लाओ। देश में मेल और राष्ट्रीय एकता कदापि स्थिर नहीं रह सकती, जब तक जन-संख्या की वृद्धि और भूमि की पैदावार का अनुपात ठीक न रहे। संसार में कोई देश ऐसा नहीं है, जो निर्धनता में हिन्दुस्तान से कम हो और जन-संख्या में इससे अधिक। ऐसी दशा में झगड़े-बखेड़े और स्वार्थ-परायणता भला क्यों कर दूर हो सकती है और मेल मिलाप व एकता क्यों कर स्थिर रह सकती है। दो कुत्तों के बीच में एक रोटी का टुकड़ा डाल कर कहते हो कि मत लड़ो। भला यह कैसे हो सकता है? इस दशा में प्रेम व एकता का उपदेश करना, लेक्चरबाज़ी की हँसी उड़ाना और उपदेश का मखौल करना है। एक गोशाला में दस गाएँ हों और चारा केवल एक के लिए हो तो गायों के समान सीधा-सादा शान्त स्वभाव और बेज़ुबान पशु भी आपस में लड़े मरे बिना नहीं रह सकता। भला भूखों मरते भारत-निवासी कैसे शान्ति और निष्कपटता स्थिर रख सकते हैं? पदार्थ-विद्या में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि किसी की साम्यस्थिति के लिए आवश्यक है कि उसके प्रत्येक अणु की आन्तरिक गति के लिए इतनी जगह हो कि दूसरे अणु की गति में बाधा न पड़ने पावे। अब भला बताओ कि जिस देश में एक आदमी के पेट भर खाने से बाक़ी दस आदमी अर्द्ध-तृप्त या भूखे रह जाँय, उस देश में भिन्न भिन्न व्यक्ति एक दूसरे के सुख में बाधा डालने वाले क्यों न हों? और ऐसे देश की शान्ति और साम्य स्थिति कैसे स्थिर रह सकती है? क्या तुम भारतवर्ष को कलकत्ता की काल कोठरी बनाए बिना न रहोगे?

[illegible] नहीं है [illegible]
[illegible] इसमें [illegible] राम

श्रीकृष्ण

(लेखक-श्री संपूर्णानन्दजी)

कुछ ही दिन हुए, देश के कोने-कोने में श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव मनाया गया है। हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार श्रीकृष्ण को शरीर छोड़े पाँच सहस्र से ऊपर वर्ष बीत गये, क्योंकि वर्तमान कलिकाब्द यह ५०४१ वाँ वर्ष माना जाता है। इस लम्बे काल में ही इसके पहले की तो बात ही जाने दीजिये–करोड़ों मनुष्यों ने जन्म लिया और मर गये। सभी के जीवन उनके लिये और उनके सामाजिक परिधि में रहनेवालों के लिये महत्व रखते थे। उन सबने ही किसी का भला किया होगा, किसी का बुरा किया होगा। पर साल गिरह और जन्म दिन मनाने की बात तो दूर रही उनके शत्रु-मित्र उनको दस-पाँच वर्ष भी नहीं याद करते। फिर जिन लोगों को करोड़ों मनुष्य दीर्घ-काल तक यों अपने मन मन्दिर में बिठाये रहते हैं, उनमें कोई विशेषता तो होगी।

श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व कितना असाधारण था, इसका परिचय हमको उनके जीवन से कुछ-कुछ मिलता है। उनकी जीवनी आधुनिक ढंग से तो लिखी गयी नहीं थी कथाओं में प्रसङ्गवशात् बहुत बातें इधर उधर से जोड़ी गयी हैं, कभी-कभी सैकड़ों वर्ष आगे पीछे की घटनाएं एक ही जगह खड़ी कर दी गयी हैं, फिर भी मुख्य-मुख्य बातें निकाली जा सकती हैं। श्रीकृष्ण प्रतिभावान रहे होंगे, उनको बचपन में विद्या-भ्यास का अवसर नहीं मिला। बाद को पढ़ा-लिखा था। उनके समय में ही बड़े-बड़े विद्वान कुलपति उप-स्थित थे [illegible] सिद्ध [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

सन्ध भी पृथ्वी पर विद्यमान थे। उनका [illegible] पद भी कुछ बड़ा न था। मथुरा का राज्य [illegible] दुर्बल था। यादवों को जरासन्ध के डर से [illegible] रात भागना पड़ा था। जरासन्ध के मरने पर भी [illegible] दूसरे शक्तिशाली राज्य रह गये थे। जैसा [illegible] था, यादवों की शासन पद्धति भौज्यगणतन्त्र [illegible] की थी। उसमें क्षत्रियों के दो प्रमुख कुलों के [illegible] शासनसूत्र था। एक कुल का नाम वृष्णि और [illegible] का अन्धक इसीलिये इसको अन्धक-वृष्णि संघ [illegible] थे। यह संघ बहुत दिनों तक चलता रहा। [illegible] खोने पर इसने शकों को अपना अधिपति [illegible] कर लिया था। अस्तु श्रीकृष्ण के समय में वृष्णि [illegible] के नेता अक्रूर और अन्धक कुल के उग्रसेन थे। [illegible] व्यवस्था परिषद की बैठक होती थी तो ये दोनों [illegible] उसके साथ पति होते थे। दोनों मिलकर [illegible] थे। ऐसी पद्धति पुराने स्पार्टा में भी थी। [illegible] कृष्ण इस छोटे से राज्य में भी प्रमुख न थे। [illegible] शाली अवश्य थे पर यह नहीं था कि सब [illegible] बात चुप चाप मान लें। महाभारत में [illegible] से अपना दुःख रोया है। कहा कि यह लोग [illegible] लड़ते रहते हैं, मेरा सारा समय बीच [illegible] में ही जाता है। मेरी दशा तो 'कितव [illegible] नैकस्य जयमन्विच्छेन् न चान्यस्य पराजयं' [illegible] उस माँ-जैसी है जिसके दो लड़के आपस में [illegible] खेल रहे हों। अब यह बेचारी किसकी [illegible] किसकी जीत। नारद ने उनको समझाया कि [illegible] [illegible] ऐसा होना ही है। तुम्हें धीरज [illegible] [illegible] और शान्ति से काम लेना चाहिये। [illegible] का तात्पर्य यह है कि विधानतः श्रीकृष्ण का [illegible] आसन पद कुछ बड़ा न था। फिर भी [illegible]

आत्यन्तिक शान्ति

(श्री स्वामी करपात्री जी)

जिस समय संसार में सब राष्ट्रों, समाजों, जातियों [illegible] परिवारों में वैमनस्य, विद्वेष फैल जाता है; प्रति राष्ट्र, प्रति समाज, प्रति परिवार, प्रति व्यक्ति दूसरे [illegible] के भूखे हो जाते हैं, तब किसी को शान्ति नहीं मिलती। सभी शंकित, चिन्तित तथा अशान्त रहे हैं। तब सभी सुख की नींद सोने के लिए कुछ कुछ शान्ति का उपाय खोजते हैं। अहिंसा, सत्य, [illegible]स्तेय आदि सामाजिक धर्म इसीलिए प्रचलित किये [illegible] कि सभी लोग सुख से रहें। लोगों को जान [illegible] कि अपने आपको निर्भय एवं सुखी रखने के [illegible] विश्व को भी निर्भय और सुखी बनाना पड़ेगा। [illegible] प्रयत्नों में कुछ संघर्ष दूर होता है। परन्तु ऐका-[illegible], आत्यन्तिक वैमनस्य, विद्वेष आदि की निवृत्ति [illegible] तभी होती है, जब सर्वत्र एक आत्मा की भावना [illegible]। तब भय, आन्तर विद्वेष, ईर्ष्याज्वाला सर्वथा मिट [illegible] है, जब यह समझ में आ जाता है कि नाना [illegible] के सकल चर-अचर जगत् का पर्य्यवसान [illegible] अन्तरात्मा में ही है। जैसे जल से प्रादुर्भूत फेन [illegible], तरंग सब जल ही हैं वैसे ही भगवान् से [illegible], भगवान् में ही स्थित, सब कुछ भगवान् ही [illegible]। ऐसी दृष्टिवाला पुरुष किसी नगण्य से नगण्य [illegible] के साथ किये गये अन्याय और अत्याचार से [illegible] का ही अपमान समझेगा। भगवान् ने [illegible] है 'यदा भूतपृथग्भावमेकस्थम[illegible] विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा [illegible] मनन, निदिध्यासन [illegible] वस्तुओं के [illegible] ही स्थित देखता है [illegible] की उत्पत्ति [illegible] ही हो [illegible]

[illegible]स्वात्मक ब्रह्म ही हो जाता है और जब वही समस्त प्राणियों के निरुपाधिक, निरतिशय प्रेम का आस्पद है, तब फिर किससे वैमनस्य, किससे विद्वेष ? फिर तो पिछले वैर-विद्वेषों को स्मरण करने पर भी उसे लज्जा ही लगेगी। जितनी भिन्नता, जितनी विषमता, सब का पर्य्यवसान एक निस्सीम सम अद्वैत ब्रह्म से ही हो जाता है। नाना प्रकार की विषमता से परि-पूर्ण विश्व में विराजमान होकर भी भगवान् कर्म और कर्मफलों से असंस्पृष्ट रहते हैं। वे कार्य्य-कारण से अतीत एवं गुणों और अवयवों से रहित होने के कारण सर्वाधिष्ठानरूप से शरीरों में रहकर भी न किन्हीं कर्मों के कर्ता होते हैं, न किन्हीं कर्मों के फलों से लिप्त होते हैं। जैसे आकाश अतिसूक्ष्म होने के कारण सर्वगत होता हुआ भी किसी में लिप्त नहीं होता वैसे ही ब्रह्मात्मा भी सर्वत्र स्थित होकर भी किन्हीं भावों से लिप्त नहीं होता। निष्प्रपञ्च, निर्वि-कार आकाश में कितनी ही घनघोर घटा छायी हो, दामिनी दमक रही हो, फिर भी ब्रह्म निर्विकार ही रहता है। न वह वर्षा से भीगता, न घाम से सूखता, न वायु से उड़ता और न धूलि से मलिन होता है। नाना तरह के विस्मय अस्त्र-शस्त्र संहारक यन्त्रों से भी उसमें कोई विकार नहीं आता सब उपद्रवों के रहने या न रहने पर उसमें कोई विशेषता नहीं [illegible] वैसे ही परमानन्दस्वरूपात्मक भगवान् [illegible] इन्द्रिय मन, बुद्धि अहंकार [illegible] का प्रभाव नहीं [illegible] विशेष से [illegible] कारण, [illegible] जिसका प्रतिष्ठा [illegible] सहज सुख

है। सूर्य बादलों से छिप जाय या पृथक् हो जाय उसकी स्वच्छता सदा निर्विशेष है—

"समाहितैः क्व करजैर्गुणात्मभिर्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधामनः।
विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम्॥"

जो विवेकी विज्ञान चक्षु से दृक्-दृश्य, चितिचैत्य, सम-विषम, पुरुष एवं प्रकृति का सम्यक् साक्षात्कार करके भूतों की अविद्या लक्षण प्रकृति का अभावापादन या बाध जानते हैं, वे परस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाते हैं। जिस समय विद्वान पुरुष देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार एवं शब्दादि विषयरूप में परिणत गुणों को ही कर्त्ता समझने लगता है, और अन्तरात्मा को असंग, अनन्त तथा गुणों के प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह आदि सभी विकारों एवं हलचलों का भासक साक्षीरूप से देखने लगता है उस समय वह अवश्य ही सर्व उपद्रवों से मुक्त होकर भगवद्भाव को प्राप्त हो जाता है। वास्तव में इतना ही सारभूत ज्ञान है। समस्त दृश्य अनात्मा ही कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अनर्थों की जड़ एवं आश्रय हैं। अन्तरात्मा इनसे पृथक्, असंग, अनन्त और इन सबका भासक है। जैसे दर्पण में आकाश, बादल, बिजली, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य, वन, पर्वत, नगर आदि सभी का प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है, उसी तरह कूटस्थ, असंग, अनन्त, निर्विकार, चिदात्मा में सर्वानर्थ परिप्लुत समस्त विश्व कल्पित है। जैसे शुद्ध दर्पण पर दृष्टि रखकर प्रतिबिम्ब-दृष्टि मिटायी जाती है, उसी तरह शुद्ध भान पर दृष्टि रखकर दृश्य मिटाया जा सकता है।

कर्त्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, मन्ता, विज्ञाता, [illegible] गन्ता इन सभी भावों में निर्विकार अनन्त [illegible] अनुस्यूत है। सर्वानुगत अखण्ड बोध या [illegible] परम तत्त्व है उसमें ही सर्व दृश्य का लय [illegible] निर्दृश्य निर्विकल्प उस नित्यबोध का [illegible] परमात्मदर्शन है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

सांख्य-मतानुसार तो प्रकृति-पुरुष दोनों [illegible] सत्य हैं इसी लिए उनका विवेचन हो जाने पर [illegible] दोनों ही बने रहते हैं। इसीलिए उनके [illegible] विषमता का आत्यन्तिक अभाव नहीं होता। [illegible] वेदान्त-मतानुसार तो पुरुष-प्रकृति का [illegible] सत्यानृत का संमिलन ये मिथुनीभाव है। अ[illegible] तो जैसे रज्जुसर्प का विवेचन होने से स[illegible] जाता है, वैसे ही सत्य पुरुष, अनृत प्रकृति [illegible] विवेचन होने पर प्रकृति मिट जाती है। फिर [illegible] की मूलभूत विषमता की जड़ ही कट [illegible] तन्मूलक वैर, वैमनस्य, ईर्ष्या आदि का अत्य[illegible] अभाव हो जाता है—"भूतप्रकृतिमोक्षं च ये वि[illegible]न्ति ते परम्।" समस्त विश्व के प्राणी एक ही [illegible] हैं या एक ही सर्वान्तरात्मा भगवान के सब [illegible] अंश हैं, ऐसी बुद्धि होने पर समस्त विश्व में [illegible] एवं बन्धुभाव की प्रतिष्ठा होती है। तभी सा[illegible] के द्वन्द्व मिट सकते हैं। बिना इन भावनाओं [illegible] विस्तार हुए स्थायी शान्ति असम्भव है।

'सिद्धान्त से उ[illegible]

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥ (मनु)

सब कुछ [illegible] [illegible] लेता है वह अधर्म की ओर मन नहीं लगाता। [illegible] और [illegible] ना अपने में है सब तो अपने ही हैं, जिनसे वैर [illegible] और सब [illegible] किसको दुःख दे? कोई दूसरा अपने से अलग हो [illegible] और पहिचान [illegible] सब कुछ पहिचान ना उसको दुःख दे उससे कुछ छीनकर अपना [illegible]

स्वामी राम का पत्र

(गुरु भक्त धन्नारामजी के नाम)

ब्रह्मपुरी, हृषिकेश,
३० अगस्त, १८९८

ॐ महाराज सच्चिदानंद स्वरूप, सर्व शक्तिमान, नित्य, अनंत, परमानंद, विभु, अनिर्वाच्य जी !

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्थः—पूर्ण वह है, पूर्ण यह है, पूर्ण से पूर्ण निकाल लिया जाय, पूर्ण का पूर्ण लिया जाय, तो पूर्ण बाक़ी रह जाता है ।

क्या हम अकेले हैं ?

तनहास्तम तनहास्तम दर बहरो-बर यक्तास्तम ।
जुज़ मन न बाशद हेच शै मन आस्तम मन मास्तम ॥

भावार्थः—मैं अकेला हूँ, मैं अकेला हूँ, पृथ्वी और समुद्र में भी अद्वितीय हूँ । मेरे से अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु है नहीं । मैं ही भूमि हूँ, मैं ही जल हूँ ।

कोई विद्यार्थी साथ नहीं, नौकर पास नहीं, गाँव बहुत दूर है । आदमी का नाम काफ़ूर है । अरण्य है, सुनसान है; तारों-भरी रात है, आधी इधर, आधी उधर है, पर क्या हम अकेले हैं ?

अकेली हमारी बला ! अभी वर्षा लौंडी स्नान करा कर गयी है । हवा बाँदी चारों ओर दौड़ रही है । वह किसी रफ़ीक़ ने कुओं में से आवाज़ दी "हाज़िर जनाब" (मालूम होता है सियार है अथवा हाथी की चिंघाड़ है । [illegible] झाड़ियों में दबे बैठे हैं [illegible]

हम अकेले क्यों ?

पर हाँ, हम अकेले हैं [illegible] [illegible] हैं, हम ही हैं; पवन नहीं, हम ही हैं; गंगा कहाँ ? हम हैं; यह चाँद नहीं, हम हैं; ख़ुदा (ईश्वर) नहीं, हम हैं; प्रियवर कौन ? हम हैं; मिलाप क्या ? हम हैं । अरे 'अकेले' का शब्द भी हमसे भाग गया ।

ईं नारह-ओ-ईं नारहज़नो, नीज़ ईं सहरा ।
अशजारो कोहसारो शबो-रोज़ो-नगारा ॥
ईं मारो-फ़िराक़ वस्लो दमे-हिज्राँ ।
बाद अञ्जुमो गंगा-जलो-अबरो-महे-ताबाँ ॥
काग़ज़ क़लम् चश्मत व मज़मून तो ख़ुद जाँ ।
ईं जुमल्गी रामस्त मरा दाँ मरा दाँ ॥

भावार्थः—यह गरज, यह गरजने वाला, और यह अरण्य, वृक्ष, पर्वत, रात, दिन, प्यारा, मिलाप और विरह का समय, वायु, तारे, गंगाजल, बादल और चमकता हुआ चाँद, काग़ज़, लेखनी और मेरे नेत्र, विषय और ऐ प्यारे ! तू स्वयं, सब के सब राम हैं, ऐसा मुझको तू समझ, ऐसा मुझको तू समझ ।

हमारा पता पूछो, तो यह है ।

निशानम बेनिशाँ मी दाँ । मकानम दर दिलत मी ख़्वाँ ।
जहाँ दर दीदह-अम पिन्हाँ । मरा जोयन्द गुमराहाँ ।

भावार्थः—मेरा निशान बे निशान समझ । मेरा स्थान अपने हृदय में देख। जगत् मेरी दृष्टि में छिपा है। मुझको गुमराह लोग (अपने से बाहर) ढूँढ़ते हैं ।

क्या हम बेकार हैं ?

मन का काम मनोहर जगत् में त्याग्य ([illegible] आनन्द को नहीं हृदय में से [illegible] अनेक नाम रूप हैं । विष्णु के [illegible] हुआ कि मना न मरा । [illegible] के [illegible]) में चरणों द्वारा

गंगा-जल बन कर सत्वगुण वह निकला। ठीक उसी प्रकार से इस समय,

नारा (जल या सत्वगुण) में शयन करने वाला नारायण,
तीर्थ (जल रूप सत्वगुणी) में रमण करने वाला,
तीर्थों को रमणीय (शोभावाला) बनाने वाला,
तीर्थ राम नारायण

सत्वगुण या आनन्द से भरपूर हो रहा है। उसका ब्रह्मानन्द समेटे से समिटता नहीं। परमानंद सी सरिता या स्रोत बनकर यह तीर्थ राम साक्षात् विष्णु, पूर्णानन्द की धारा (नदी) जगत् को कृतार्थ करने के लिये भेज रहा है। खुशहाली (प्रसन्नता) और फ़ारगुलबाली (विश्रामता) की प्रभात वायु संसार को भेज रहा है। कौन कहता है, वह बेकार (निष्कर्मी) बैठा है ? मैं सच कहता हूँ, इस तीर्थ-राम के दर्शनों से कल्याण होता है, यह गंगा है, यह तुर्या राम है, वह राम है।

धन्य भूमि धन्य काल देश वह।
धन्य माता, धन्य कुल, धन्य समर्थी॥
धन्य धन्य लोचन कर रहे दरस जो।
राम तिहारो सर्वज्ञ समर्थी॥

मेरी

बाँकी अदायें देखो! चाँद सा मुखड़ा पेखो॥
वायु में, बहते जल में, बादल में मेरी लटें।
तारों में, नाचनी में, मोरों में मेरी मटकें॥
चलना ठुमक-ठुमक कर, बादल का रूप धर कर।
घूँघट अबर उलट कर, हँसना यह बिजली बनकर॥
शबनम गुल और सूरज, चाकर हैं तेरे पद के।
यह आन बान सज धज, ऐ राम! तेरे मटके॥

जगत सारा वार डारूँ, राम तेरे नाम पर।
इन्द्र ब्रह्मा वार डारूँ, राम! तेरे ध्यान पर॥

मैं कैसा खूबसूरत हूँ! मेरी सूरत, मेरी मोहनी मूरत, मेरी झलक, मेरा हुस्न (सौन्दर्य), मेरा जमाल (शोभा), इसको मेरी आँख के अतिरिक्त किसी और को देखने की ताब (शक्ति) नहीं हो सकती।

आज कल लक्ष्मण झूले से परे गंगा-तट पर्वतों में निवास है। गंगा क्या है विराट् परमात्मा का हृदय। परमात्मा के हृदय या परमात्मा का आत्मा बनकर विश्राम करता हूँ।

पावस-प्रसंग

[कविवर श्रीकृष्णवदन सिंह "सुमन", आजमगढ़ी]

लोप भई लपटैं, निदाघ की दोहाई गई,
बिछि गये हरित बिछौने उपवन में।
धूरि उड़ती थी जहाँ, अंकुर उगे हैं वहीं,
करने किलोल केकी लागत में, बन में॥
कलिकायें बूँदन के भार झुकि झुकि जा रहीं,
[illegible]
[illegible]
[illegible]

पुकार

[रचयिता—जगमोहन मिश्र एम॰ ए॰]

धेनु सबै निधि दीन भई,
अब आइ गुपाल इन्हें अपनाओ।
नग्न भई, यह जानि दयानिधि,
चीर बढ़ाइ सुलाज बचाओ॥
दीन किसान बिहाल परो,
करुनाकर नीर सुधा बरसाओ।
सागर में छिन जाय दुरे,
घनश्याम उगा सुगचद दिखाओ॥

संस्कार

(ले०—श्री गोपाल शास्त्री)

सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय करने से संस्कार शब्द बनता है। जिसका अर्थ होता है किसी वस्तु को विशेष प्रकार द्वारा सामान्यावस्था से उन्नतावस्था पर पहुँचा देने वाला कर्म।

यह संस्कार प्रत्येक धर्म तथा सम्प्रदाय में किसी न किसी स्वरूप में पाया जाता है। प्रत्येक समाज में यह एक प्रकार का उत्सव माना जाता है। सामान्यतः इसके तीन उद्देश्य बताये जाते हैं।

प्रथम—संस्कार जीवों को अपने कोशों को पवित्र कर उसे उन्नत बनाने का अवसर देता है।

द्वितीय—संस्कार देवताओं और ऋषियों के अनुग्रह द्वारा ज्ञान वृद्धि में सहायता पहुँचाता है।

तृतीय—संस्कार संस्कृत व्यक्ति की मानसिक शक्ति तथा उसके आचार व्यवहार को शुद्ध पवित्र करता है। जिससे उसे अध्ययनादि कृत्यों में बड़ी सुविधाएँ मिलती हैं।

संस्कार एक ऐसी वस्तु है कि यह कर्म जिसी वस्तु में लगता है उसके गुण, परिमाण, आदर, अवस्था, पद कहाँ तक कहा जाय संस्कार किये जाने वाले पदार्थ के सभी गुणों को देदीप्यमान कर उसकी अवस्था को सब प्रकार से उन्नत कर देता है।

सोना जिस समय खान से निकाला जाता है उस समय उसे सोना कहने को कोई भी साधारण व्यक्ति उद्यत नहीं हो सकता, पर वही जब चतुर शिल्पियों के द्वारा संस्कार युक्त हो जाता है तो उसे सभी ले [illegible] और अपने [illegible] साथ अपने गले के [illegible] नाना तरह के उपयोगी भूषण [illegible]

दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, [illegible] धातुओं में छोटा है पर शिल्पी गण जब [illegible] संस्कार करके वीणा, सितार प्रभृति बाजों [illegible] तैयार कर देता है तब उसके मूल्य का [illegible] नहीं रह जाता। जितना मँहगा चाहो [illegible] बेच सकते हो। इसी प्रकार सभी पदार्थ [illegible] द्वारा उज्ज्वल, तथा उन्नत हो जाते हैं। मूर्तियें [illegible] वस्तु हैं? चतुर शिल्पी द्वारा जिसका विशेष प्रकार [illegible] संस्कार कर दिया गया है। ऐसा पत्थर ही तो [illegible]

यज्ञ भस्म क्या वस्तु है? चतुर चिकित्स[illegible] एक विशेष प्रकार से संस्कार किया गया वही [illegible] सोना, अवरख आदि धातुएँ ही तो हैं। [illegible] तसवीर को देखकर आप बिलकुल मुग्ध हो जाते [illegible] सो क्यों? क्योंकि एक प्रवीण स्थपति ([illegible] द्वारा मनोयोग के साथ उसका एक विशेष प्रकार [illegible] संस्कार ही तो हुआ है जो आपकी सभी इ[illegible] को एक बार वशीभूत कर लेता है।

इसी प्रकार मनुष्य मात्र के लिये संस्कार बड़ा ही उपयोगी साधन है। जिसके द्वारा [illegible] समाज अपनी आभ्यान्तरिक अवस्थाओं के [illegible] साथ साथ मानसिक, वाचनिक, शारीरिक सभी [illegible] को दूर करता हुआ कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर [illegible] स्थूल शरीर की सर्वविधि उन्नति कर सकता है। पुरुषकार रूपी संस्कारों का सदुपयोग सुचारु [illegible] किया जाय तो प्रारब्ध कर्म भी बदल दिया जा [illegible] है। वाग्भट ने साफ साफ कहा है कि पुंसवन [illegible] तभी तक हो जाना चाहिए जब तक गर्भस्थ [illegible]

गर्भे पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्।
बली पुरुषकारो हि दैवमप्यतिवर्तते।
(वाग्भट शारीरस्थान अ० १ श्लो० [illegible])

संस्क्रियन्तेऽनेनेति संस्कारः। सम् + कृ + घञ्।

इस भौतिक संसार से पृथक् एक दूसरे जगत की सत्ता का तत्व निहित है।

किन्तु यह मान लेने का कोई कारण नहीं है कि वह आन्तरिक प्रेरक शक्ति जो मनुष्य को ईश्वर की ओर प्रवृत्त करती है, अन्य जीवनोपयोगी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से पृथक् कोई एक विशेष प्रवृत्ति है। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, अपनी मानसिक कार्यकारिणी शक्तियों के विकास के पूर्व की [illegible] अवस्था में, मनुष्य ने संसार के [illegible] धार्मिक वृत्ति का परिचय दिया, वह उन्हीं [illegible] की प्रबल प्रेरणा से उत्पन्न हुई थी, जो भय, [illegible] और श्रद्धा की साधारण प्रवृत्तियों में पाई जाती [illegible]

कलियुग की ठीक आयु

(ले०—श्री राजनारायण जी बट शास्त्री, ज्योतिष भूषण)

(गतांक से आगे)

श्रीमद्भगवद्गीता महापुराण

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथा क्रमम्।
संख्या तानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च॥
(३-११-१९)

अर्थ—४-३-२-१ को क्रम से सत्ययुगादि जानो। उनकी संख्या हज़ारों और सैकड़ों के साथ दुगना करने से होती है। यहाँ भी वही बात है कि—

४ पाद अथवा चरण धर्म वाला सत्ययुग १२०० वर्षों का, ३ पाद धर्म वाला त्रेता २४०० का, २ पाद धर्म वाला द्वापर ३६०० का, और १ पाद व चरण धर्म वाला कलियुग ४८०० वर्षों का है।

संध्या संध्यांशयोरन्तरेणयः कालः शत संख्ययोः।
तमे वाहुर्युगं तत्वायत्र धर्मो विधीयते॥२०॥

अर्थ—१०० की संख्या वाले काल संध्या और संध्यांश के बीच को युग कहते हैं उसमें विशेष धर्म होता है।

धर्मश्चतुष्पान्मनुजान्कृते समनुवर्तते।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येतिपादेन वर्धता॥२१॥

अर्थ—धर्म के चार पाद अथवा चरण सत्ययुग में मनुष्यों के होते हैं फिर अन्ययुगों में एक एक पाद का धर्म घटता जाता है।

इस श्लोक ने "मनुजान" शब्द ने स्पष्टरूपेण बता दिया है कि चारों युग मनुष्यों के होते हैं देवताओं के नहीं होते और यह भी बता दिया है कि [illegible] यह धर्म के पाद (चरण) युगानुसार है [illegible] नहीं हैं। देवताओं का केवल दिन और युग [illegible] चार युग नहीं होते यदि ऐसा मान लिया [illegible] देव लोक में कलियुग भी होता होगा उसमें बड़े पाप भी होते होंगे और इसी प्रकार दे[illegible] हर युग में एक एक पाद धर्म घटता भी हो[illegible] ऐसा नहीं है। देव लोक में लेशमात्र भी पाप [illegible] और इसके अतिरिक्त सूर्य की गति ही [illegible] उससे मनुष्य लोक में तो ४ युग बनते हैं [illegible] लोक में बन ही नहीं सकते।

(धर्म के ४ पाद या चरण)

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात[illegible]
सत्यं दया तपो दानमिति पादा [illegible]

अर्थ—सत्ययुग में मनुष्यों का [illegible] होता है सत्य, दया, तप, दान यह धर्म के [illegible] या चरण हैं।

इस श्लोक में भी मनुष्यों का वर्णन [illegible] कि देवताओं का, मतलब यह है कि सत्य [illegible] दान पूर्ण चार पाद धर्म सत्ययुग में होत[illegible] युग में एक पाद धर्म अर्थात सत्य घट के [illegible] दान रह जाता है। द्वापर में दो पाद धर्म [illegible] दान रहते हैं और कलियुग में केवल दान

सांख्य और योग

(ले०—श्री आर० एम० नारायण स्वामी)

सांख्य शब्द के अर्थ श्री शंकराचार्य ने तो परमार्थ वस्तु का विवेक अर्थात् परोक्ष ज्ञान किया है और श्री रामानुज ने सांख्य के अर्थ बुद्धि करके उससे जानने योग्य जो आत्मतत्त्व है उसको सांख्य शब्द का अर्थ लिया है। पर संस्कृत कोष के अनुसार "संख्यया निर्वृत्तं अण्" जो संख्या से सम्बन्ध रखने, अर्थात् जो गिनती में आवे, वह सांख्य है। और अभिप्राय रूप से "सांख्यायन्ते ज्ञातव्य विषया येन तत् सांख्य" जिस द्वारा जानने योग्य विषयों का संख्यावार वर्णन किया जाय उसका नाम सांख्य है। इस प्रकार श्री शंकराचार्य के अनुसार सांख्य नाम आत्मविवेक (परोक्षज्ञान, Speculative abstract thought or theoretical knowledge of the self) का है, और उस विवेकानुसार कर्म में युक्त होना अर्थात् उस विवेक को आचरण में लाना (The practical process of the application of such abstract thought to actual life, or of turning the theory into practice, अर्थात् परोक्षज्ञान को प्रत्यक्ष करने की विधि वा उपाय) योग है। इस रीति से ये दोनों शब्द (सांख्य और योग) एक ही सिक्के (ज्ञान) के दो (पूर्वापर) भाग अर्थात् रुख या पहलू हैं। इसीलिए गीता के पाँचवे अध्याय के श्लोक ४ में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि "सांख्य और योग को पृथक् पृथक् बालक कहते हैं, न कि पण्डित [illegible] इन दोनों में से एक में भी पूर्ण स्थित हुआ पुरुष दोनों के फल को पा लेता है। [illegible] इनमें से एक में पूर्ण स्थित होना [illegible] [illegible] स्थित होना है क्योंकि यह एक [illegible] [illegible] [illegible] उसके साथ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुए, एक भी इनमें से पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सका। और यह स्पष्ट है कि जब एक वस्तु के दो अङ्ग हैं और उन दोनों अंगों से वस्तु की पूर्णता हो, तो एक अंग को पूर्णरूप से पकड़ने का आशय दोनों अंगों को बारी बारी पकड़ने का होता है, या एक अंग के पूर्ण रूप से पकड़ने से दूसरा अङ्ग स्वतः पकड़ा जाता है, क्योंकि दूसरा अङ्ग वास्तव में प्रथम अङ्ग से अलग नहीं है, बल्कि दोनों की स्थिति से वह वस्तु पूर्ण रूप से स्थित है। इसीलिए [illegible] एक में भी पूर्ण स्थित होने से दोनों के फल को पा लेता है। और यह सांख्य और योग एक [illegible] (ज्ञान अर्थात् आत्मसाक्षात्कार रूप फल) के दो अङ्ग अर्थात् उपाय (Theoretical [illegible] practical process of the self-realisation) हैं। इनमें से एक में भी पूर्ण स्थिति दूसरे में [illegible] स्थिति करा देती है क्योंकि बिना दोनों में स्थिति पूर्ण स्थिति एक अङ्ग (उपाय) की भी हो [illegible] सकती। इसीलिए एक अङ्ग में पूर्ण स्थिति [illegible] सम्पूर्ण वस्तु (आत्म साक्षात्कार) की प्राप्ति [illegible] वाली कही गई है।

योग—योग शब्द 'युज्' धातु से बना [illegible] जिसका अर्थ 'जोड़, मेल, मिलाप, युक्त होना, [illegible] इत्यादि होता है, और ऐसी स्थिति की प्राप्ति [illegible] 'उपाय, साधन, या कर्म' को भी योग कहते [illegible] पातञ्जल सूत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के अनुसार [illegible] शब्द का अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध अथवा [illegible] है जिससे रूढार्थ इस शब्द का आशय [illegible] प्राणायाम आदिक साधनों से चित्तवृत्तियों का [illegible] का निरोध करना' है। और 'योग क्षेम' [illegible] योग शब्द का अर्थ 'अप्राप्त वस्तु को प्राप्त [illegible]

भूल स्वीकार

(लेखक—श्री सन्तराम बी॰ ए॰)

अमेरिका में डेलकारनेगी नाम के एक सज्जन लोगों को मित्र बनाने और जनता को प्रभावित करने की कला के विशेषज्ञ हैं। उन्होंने इस विषय पर कई उत्तम ग्रन्थ भी लिखे हैं। दूसरे लोगों को अपने विचार का बनाना एक गुर वे यह बताते हैं कि, यदि हम गलती पर हों, तो हमें अपनी गलती को मान लेना चाहिये। इससे दूसरा व्यक्ति शस्त्र डाल देता है। वे अपने जीवन की एक घटना इस प्रकार लिखते हैं,—

"यद्यपि मैं न्यूयार्क के औद्योगिक केन्द्र में रहता हूँ, तो भी मेरे घर से मिनट की दूरी पर जंगली लकड़ी का एक छोटा सा नैसर्गिक वन है, जहाँ वसन्त ऋतु में ब्लैकबेरी के सफेद फूलों का वितान तन जाता है, जहाँ गिलहरियाँ घोंसले बनाकर बच्चे पालती हैं और जहाँ घोड़ा-घास घोड़े के सिर के बराबर लम्बी उगती है। यह प्राकृतिक वनभूमि फॉरिस्टपार्क कहलाती है। मैं बहुधा अपने कुत्ते रेक्स के साथ इस पार्क में घूमने जाया करता हूँ। रेक्स एक स्नेही और निर्दोष कुत्ता है पार्क में हमें क्वचित् ही कोई मनुष्य मिलता है। इसलिये मैं रेक्स के गले में न तसमा बाँधता हूँ और न मुँह पर

एक दिन हमें पा

मिला। उसे अपना

हु ने मुझे

। को

नून

नहीं समझते थे! आप नहीं समझते थे! आप क्या समझते हैं, क़ानून को इसकी रत्ती भर भी परवा नहीं हो सकती है कि यह कुत्ता किसी गिलहरी को मार डाले अथवा किसी बच्चे को काट खावे। अब इस बार तो मैं आपको छोड़ देता हूँ परन्तु यदि मैंने फिर कभी इस कुत्ते को यहाँ बिना तसमे और मुसके के देख लिया तो आपको जज के सामने पेश होना पड़ेगा।"

मैंने विनीत भाव से उनकी आज्ञा का पालन करने का वचन दिया और मैंने आज्ञा-पालन किया—थोड़ी बार। परन्तु रेक्स मुसके को पसन्द नहीं करता था। और न मैं करता था। इसलिये हमने अवसर देखने का निश्चय किया। कुछ समय तक प्रत्येक बात मनोहर थी; परन्तु हम फिर पकड़े गये। एक दिन तीसरे पहर रेक्स और मैं एक पर्वत के माथे पर दौड़ रहे थे। वहाँ सहसा क़ानून की विभूति कुम्मैत घोड़े पर सवार देख पड़ा। रेक्स मेरे आगे आगे सीधा पुलिस अफसर के पीछे दौड़ा जा रहा था, इससे मुझे बड़ी व्याकुलता हुई।

मैं इसमें फँसता था, यह बात मुझे मालूम थी। इसलिए मैंने पुलिसमैन के बात आरम्भ करने की की। मैंने आप ही पहल कर दी। मैंने

सर महोदय, आपने मुझे अपराध करते

मैं अपराधी हूँ। मेरे पास अपराध

होने का कोई उज्र

नहीं सप्ताह मुझे चेतावनी दी

बिना मुसका लगाये

तो जुर्माना हो जायगा।"

धर्म का मूल दुःख में छिपा है।

[ले०—श्री जयभगवान जैन बी० ए०, एल एल० बी०, वकील]

जीवनकी दो मूल अनुभूति—

शैशव कालमे जीवन उज्ज्वल, अद्भुत, विस्मयकारी लीलामय दिखाई देता है और जगत आनंद की रङ्गभूमि। यहाँ की हरएक चीज सुन्दर, सौम्य और आकर्षक प्रतीत होती है। जी चाहता है कि यहां हिलमिल कर बैठें, हँस-हँस कर खेलें, रोक-टोक से लड़ें और छलक-छलक कर उड़ जायें।

परन्तु ज्यों-ज्यों जीवन की गति प्रौढ़ताकी ओर बढ़ती है, यह रङ्गभूमि और इसकी ललाम लीला डरावनी और घिनावनी मूर्ति धारण करती चली जाती है। पद-पद पर भान होने लगता है—जीवन दुःखमय है*, जगत निष्ठुर और क्रूर है, यहाँ मनका चाहा कुछ भी नहीं, सर्व ओर पराधीनता है, बहुत परिश्रम करने पर भी इष्टकी प्राप्ति नहीं और बहुत रोक थाम करने पर भी अनिष्टकी उपस्थिति अनिवार्य है।

यह जगत निस्सार है, केवल तृष्णाका हुंकार है। उसीसे उन्मत्त हुआ जीवन अगणित बाधा, अमित वेदना, असंख्यात आघात-प्रघात सहता हुआ संसार-वनमें घूम रहा है, परन्तु यहां सन्तुष्टि का, सुख शान्ति का कहीं पता नहीं। यही अपूर्णता, यही तृष्णा, यही वेदना हरदम बनी है। यह लोक-तृष्णा पूर्तिका स्थान नहीं, यह निर्दयी मरीचिका है। यह दूर दूर रहने वाला है। यह नितान्त अमाप्य है। यह झूठी आशाके पाशों से बांध बांध कर जीवन को मृत्यु के घाट उतारता रहता है।

यह जगत मन्यु ... नाम ... मय और क्रन्दन और चीत्कार है। लोक निरन्तर कालमुख में ... चला जा रहा है। भूमण्डल अस्थिपञ्जर से ढका ... पर, रुण्डमुण्ड पहिने हुए कालका अट्टहास ... बना है। यहां जीवन नितान्त अशरण है†।

यहाँ कोई चीज स्थायी नहीं, जो आज ... वह कल नहीं, अंकुर उदय होता है, बढ़ता है, पुष्पसे सजता है, हँसता है, ऊपरको ... परन्तु अन्त में धराशायी हो जाता है। यहां ... रोग बसा है, यौवनमें जरा रहती है, शरीरमें ... वास है। यहां की सभी वस्तुएँ भयमे दबी हैं ...

प्रौढ़ अनुभूति और धर्म मार्ग—

यह है प्रौढ़ अनुभूति जो मानव ... धर्म-मार्ग की आविष्कारक हुई है*। कोई ... नहीं, कोई देश ऐसा नहीं जहाँ इस प्रौढ़ अ... का उदय न हुआ हो और इसके साथ साथ ... के अलौकिक आदर्श और तत्प्राप्ति के ... मार्गका जन्म न हुआ हो। वैदिक ऋषि... अनुभूति वैदिक साहित्योक्त यम, मृत्यु व ... विवरण में छिपी है†। असुर लोगोंकी यह ... प्रचण्ड, भीषण, रुद्र, और नाग सभ्यताके ... तक पहुँची है। लिंगायत लोगोंमें यह ... और शिवके ताण्डव नृत्यमें अङ्कित है ... बंगाल देशके तान्त्रिक लोगोंमें काली ...

---

* मज्झिमनिकाय—... सुत्त

† "यदिदं सर्वं मृत्युना ... सर्वं मृत्युना ...'

—वृह० ३० ... १ ३

* द्वादशानुप्रेक्षा ॥८॥ धम्मपद २०. १९

भर्तृहरि—वैराग्यशतक ॥३५॥

... —Rigvedic Culture 19..

* अथर्ववेद १९.५३, १९.५४; ऋग्वेद १०...

R... ...larker Vaisnavas ... &

... pages 145 151.

है, अब मैं भेद की बात कहता हूँ। जब तक तुम अपने को स्वतः नहीं लेते, मुझे नहीं पहचानते, अपने ... निश्चय नहीं करते तब तक एक काल की कौन ... त्रिकाल में भी वह सुख नहीं प्राप्त हो सकता जिसके लिए संसार तड़फड़ा रहा है। भला, रात्रि के दीपकों से दिन का प्रकाश कैसे हो सकता है। ... दो नहीं, सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों दीपकों ... का प्रकाश का वह आभास मिल सकता है जो सूर्य की एक किरण द्वारा प्राप्त होता है।

फिर जान बूझ कर क्यों मूर्ख बनते हो? संसार के ... धुन में पड़ने के पहले यह तो जान लो कि तुम स्वयं क्या हो? यदि तुम्हें स्वयं अपने आपके ... में वह शान्ति, वह आनन्द न मिले जिसकी तुम्हें हार्दिक चाह है तो तुम सहर्ष मुझे सत्युग नहीं, कलियुग कहना। देखो, बहको मत, स्वयं आँखें खोलो। लोग कहते हैं—आत्मज्ञान के लिए बड़ी साधना की आवश्यकता होती है। मैं कहता हूँ—इसके लिए ... क्षण का साधन भी अभिप्रेत नहीं। भला, आत्म-ज्ञान, अपने आपका ज्ञान भी कोई दुस्साध्य वस्तु है। ... दुस्साध्य है तो केवल यही कि तुम अपने आप ..., अपने अन्तर आत्मा की, हृदय स्थित सत्युग की ... सुनकर भी नहीं सुनते, देखकर भी नहीं देखते और जानकर भी नहीं जानते! खबरदार, अब भूल कर भी ऐसे भ्रम में न पड़ना। मैं दावे के साथ कहता हूँ—जिस लगन के साथ तुम सांसारिक वस्तुओं से चिपटे हुए हो, यदि उस लगन को आधी, ठीक आधी, ... आधी नहीं आधी से भी कम यथार्थ लगन के साथ तुम बहिर्मुख से अन्तर्मुख होगे तो तुम्हारे कल्याण में—सबके कल्याण में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं लग सकता। देखो, हँसो नहीं, यह ...ने की बात नहीं, आजमाने की बात है। हाथ कंगन को आरसी क्या!

तुम दुःखी हो, मैं भी कहता हूँ कि तुम दुःखी हो। पर हो क्यों? मैं स्पष्ट कहता हूँ। बुरा मानने की आवश्यकता नहीं। तुमने अपने को शरीर मान रखा है जो वास्तव में तुम नहीं हो, कभी नहीं हो सकते हो। नहीं, इसे समझने के लिए कोई पाण्डित्य और विद्वता अभिप्रेत नहीं। क्या तुम शरीर के नाश पर अपने नाश की कल्पना करते हो! फिर तुम शरीर कैसे हुए? और क्या तुम्हारे सारे दुःखों का मूल कारण तुम्हारी शरीर भावना नहीं है?

आदमी झूठ क्यों बोलता है? शरीर के लिए। डाका क्यों डालता है? शरीर के लिए। दूसरों को क्यों सताता है? शरीर के लिए। अच्छा, यह भी जाने दो। क्या यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि शरीर के सुखी होने से तुम्हारी तृप्ति हो जायगी।

इसीलिए मेरा संदेश है कि तुम शरीर नहीं हो, तुम मन नहीं हो, तुम बुद्धि नहीं हो। यदि अपने को शरीर मानकर, मन मान कर, बुद्धि मान कर काम करोगे तो याद रखो—मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकता। सत्य का साथ न देने से तुम कभी शान्त नहीं हो सकते। मान लो, तुम शरीर हो, मन हो, बुद्धि हो तो क्या शरीर के एक एक कण में, पृथ्वी के एक एक कण में, जल के एक एक कण में, ब्रह्माण्ड के अणुअणु में तुम्हारा वास नहीं है। यदि सब तुम्हारे रूप हैं तो फिर इस आत्म-भावना को साढ़े तीन हाथ के शरीर में बद्ध करने की क्या आवश्यकता! एक शरीर की मनोकामनाओं का दूसरे शरीर की मनोकामनाओं से संघर्ष का क्या अर्थ! याद रखो जब तक संसार के सारे शरीर, सारे मन और सारी बुद्धियाँ तुम्हारी न हो जायगी तब तक तुम्हें मेरे दर्शन नहीं हो सकते। तुम्हें त्रिकाल में भी शान्ति नहीं मिल सकती।

मोटी बात, तुमने जो इस विशाल जगत में अपने लिए केवल थोड़ी सी जगह नियत कर ली है। जो एक छोटे से शरीर को अपना रखा है, वह क्या दिशा भ्रम नहीं है! भिखारी होकर राजपुत्र बनना यदि

अपराध है तो क्या राजपुत्र होकर भिखारी बनना अपराध नहीं है ? देखो, भिखारी को केवल भीख मिले और राजपुत्र को राज्य—तो यह तो सत्युग का, सत्य का ही नियम है। इसमें कलियुग का क्या ! यदि तुम राजपुत्र होकर भिखारी बनो और धक्के खाओ तो मुझे दोष देना व्यर्थ ! देखो तो, तुमने अपनी शहन्शाही विरासत को छोड़कर अपने को कितना तुच्छ बना डाला है। पहले अपने शरीर के नामकरण के द्वारा रमेश, महेश, उमेश आदि का घेरा डाला। रमेश, महेश से पृथक् हो गया। फिर उस परिच्छिन्नता को दृढ़ करने के लिए विभिन्न परिवारों का बन्धन तैयार किया। उसके बाद जाति, धर्म, देश आदि अनेकों घेरे भी बनाये। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं सनातनी हूँ, मैं आर्यसमाजी हूँ। मैं हिन्दू हूँ मैं ईसाई हूँ, मैं पंजाबी हूँ, मैं बंगाली हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं जापानी हूँ, मैं ब्रिटिश हूँ। मैं कहता हूँ कि अपने हृदय में इस प्रकार की परिच्छिन्न भावनायें जमाना, अपनी सहानुभूति को संकीर्ण करना, अपने विचार को ससीम करना, अपने और दूसरे में किसी मौलिक अन्तर का भान करना ही तो भिखारी बनने का सीधा मार्ग है। यदि संसार में कलियुग है तो इस भावना के सिवा कलियुग और क्या हो सकता है। तुम्हें अपनी स्त्री की इज्जत प्यारी है, दूसरों की स्त्रियों की इज्जत की कोई परवाह नहीं, तुम अपने पुत्र की मंगल कामना करते हो, दूसरे के पुत्र चाहे चूल्हे भाड़ में जाँय, तुम्हें अपनी जाति और अपना देश प्यारा है, दूसरी जाति और दूसरा देश तुम्हारी सहानुभूति से बाहर है—यह कलियुग नहीं तो क्या है ! याद रखो, यदि तुम इस प्रकार सत्य का, सत्युग का गला घोंटोगे तो वह भी तुमसे बदला लिए बिना न रहेगा, तुम्हें सुख की नींद न सोने देगा। फिर गिला या शिकायत कैसी !

अतएव मेरा पहला आदेश यही है कि तुम अपने हृदय को देश भर में, संसार भर में, ब्रह्माण्ड भर में फैला दो। मनुष्य मात्र के साथ, प्राणिमात्र के तद्दात्म हो जाओ। क्यों, क्योंकि वास्तव में जो में है वही सब में है, जो तुम हो, वही सब है। अपनी सहानुभूति, अपने विचार में किसी प्रकार संकीर्णता मत आने दो। यही तुम्हारे हृदय मस्तिष्क का संयम है।

मेरा दूसरा आदेश तुम्हारे आचरण के में है। माना कि हृदय और मस्तिष्क की भाँति तु शरीर सर्व व्यापक नहीं हो सकता। उसे एक पर रह कर ही एक विशेष परिस्थिति में कार्य होगा, वह विश्व भर के कल्याण के लिए एक कार्य नहीं कर सकता। अतएव उस विषय कहना है—जिस परिस्थिति में तुम हो, उसमें तुम्हारे सम्पर्क में आवे उसके साथ सदैव अ व्यवहार करो। आत्मवत् सर्वभूतेषु के व्यव तुम सत्य का अनुसरण करोगे और तुम्हारे परिच्छिन्नतायें दूर होकर तुम परमानन्द के भागी

बस, मेरा संक्षेप संदेश हो चुका। अपनी सहानुभूति को संकीर्ण न बनाओगे और सहज स्थान पर रह कर सबके साथ व्यवहार करोगे तो मैं सदा तुम्हारे पास रहूँगा विरुद्ध यदि तुम किसी के साथ कम और अधिक प्यार करोगे अथवा तुम्हारे व्यवहार का मंगल और किसी का अमंगल होगा तो सदा तुम्हारे पास रहता हुआ भी तुमसे दूर

हाँ, अन्तमें मुझे तुम्हें एक चेतावनी तुम्हारा कर्म-क्षेत्र सदैव एक सीमा के भीतर शरीर एक घेरे में ही काम कर सकता है अपने हृदय में विश्वप्रेम को प्रतिष्ठित करके अप आत्मवत् व्यवहार करने के लिए ही मैंने तुम दिया है किन्तु तुम्हारा हार्दिक विश्वप्रेम तभी और सार्थक होगा जब कि तुम्हारे घेरे का अन्य बड़े घेरों के कल्याण में बाधक न हो शब्दों में स्वयं तुम्हारी और तुम्हारे परिवार

इसके सर्वथा प्रतिकूल बुद्ध कहते हैं—

को नु खो भन्ते फुसतीति । नो कल्लो पण्होति भगवा अवोच । फुसतीति अहं न वदामि । एवं मम वदन्तं यो एवं पुच्छेय्य किम्पचया नु खो भन्ते फस्सोति । एस कल्लो पण्हो । इत्यादि । (संयुत्त निकाय २।१३)

अर्थात् कौन स्पर्श करता है ? भगवान् कहते हैं कि यह प्रश्न ठीक नहीं है । मैं यह नहीं बतलाता कि कौन स्पर्श करता है । यदि कोई यह पूछे कि किस प्रत्यय-हेतुवश स्पर्श (इन्द्रिय, विषय और तद्विज्ञान के सन्निपात की अवस्था स्पर्श कहलाती है) होता है तो यह प्रश्न ठीक होगा ।

संयुत्तनिकाय (२।१७) में बुद्ध कच्चायन से से कहते हैं कि लोक में दो प्रकार के विश्वास हैं— अस्तित्व और नास्तित्व । पर जो प्रज्ञादृष्टि से यथाभूत लोकसमुदय (संसार-हेतु) देखता है उसके लिये 'नास्तिता' नहीं है और जो प्रज्ञादृष्टिसे लोक-निरोध देखता है उसके लिये 'अस्तिता' नहीं है । कच्चायन ! एक अन्त है—'सब है' और दूसरा अंत है—'सब नहीं है' । तथागत इन दोनो अन्तों को छोड़ कर मध्यम मार्ग से धर्म का उपदेश करते हैं । इस मध्यम मार्ग का सार यह है कि सबका अन्यथा भाव है और एक प्रयत्यवश दूसरे का समुत्पाद होता है ।

'पटिच्च समुप्पाद' की परिभाषा इस प्रकार है— इमस्मिं सति इदं होति । इमस्सुप्पादा इदमुप्पज्जति । इमस्मिंअसति इदं न होति । इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति । (संयुत्त निकाय २।२८, मज्झिम निकाय, २।३२)

अर्थात् इसके होने पर यह होता है । इसके उत्पाद से इसका उत्पाद होता है । इसके न होने पर यह नहीं होता । इसके निरोध से इसका निरोध होता है । इन २ प्रत्ययों से इन २ धर्मों का सम्भव

'प्रतीत्य समुत्पाद' के १२ अंग हैं—

१.	अविद्या	७. वेदना
२.	संस्कार	८. तृष्णा
३.	विज्ञान	९. उपादान
४.	नामरूप	१०. भव
५.	षडायतन	११. जाति
६.	स्पर्श	१२. जरामरण

दीघ निकाय के 'महापदान सुत्तन्त' में केवल १० अंगों का उल्लेख है । पहिले दो अंग अर्थात् 'अविद्या' और 'संस्कार' इसमें नहीं पाये जाते । संयुत्त निकाय २।१०४ में भी पहिले दो अंग नहीं गिनाये गये हैं ।

इनमें 'जरामरण का 'जाति' हेतु = निदान = समुदय = प्रत्यय, है । (दीघनिकाय, २।५७) । अविद्यादि हेतु कहे गये हैं, ये विकार नहीं हैं । इस लिये प्रतीत्य समुत्पाद प्रत्यय-धर्म हैं । यह धर्मसमूह संस्कारादि के प्रादुर्भाव के लिए अविद्यादि एक एक हेतुशीर्षेण निर्दिष्ट किया गया है उस हेतुसमूह को 'प्रत्यय' कहते हैं ।

'प्रतीत्य समुत्पाद' के पूर्व पद से प्रत्यय-सामग्री निर्दिष्ट की गयी है और यह सूचित किया गया है कि सब धर्म हेतु वश हैं अर्थात् धर्मों की प्रवृति प्रत्यय-सामग्री के अधीन है । इस प्रकार शाश्वत-अहेतु विषम हेतु आदि वाद का अभाव प्रदर्शित किया गया है क्योंकि शाश्वत आदि वादियों को प्रत्यय-सामग्री का क्या प्रयोजन है । दूसरे पद से यह दिखलाया गया है कि प्रत्यय-सामग्री के कारण धर्मों की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार उच्छेद-नास्तिक अक्रियावाद का विघात दिखलाया गया है । पूर्व-पूर्व प्रत्ययवश बार बार जो धर्म उत्पद्यमान होते हैं उनका उच्छेद कहाँ !

उस उस प्रत्यय-सामग्री की सन्तति अविच्छिन्न रखकर उन उन धर्मों का सम्भव होने से मध्यम प्रति पत्ति (= मार्ग) कहलाती है । (अपूर्ण)

VYAVAHARIKA VEDANTA

"[illegible]"

"GOD IS REAL, WORLD UNREAL.
SELF-REALIZATION THROUGH RENUNCIATION."

"RAMA"

1 | September, 1940 | No. 9

WANTED.

Reformers.
Not of others,
 but of themselves
Who have won
 Not University distinctions,
 but victory over the local self;
Age: the youth of divine joy.
Salary: Godhead
Apply sharp
 with no begging solicitations
but commanding decision to the
 Director of the Universe,
Your own Self

Om! Om! Om! Om!

Vedantic Sadhana.

SWAMI SIVANAND.

A student of Vedant should study again and again the Upanishad, which are but mystical experiences of the soul gushing forth in an unceasing stream of beauty You will find in the Upanishads instances of a sincere quest after Brahman-the supreme soul Nachekatas learnt the Science of the Reality from Lord Yama Kabandhi, Bharghava, Kauslya, Gargya, Satyakama, Sukesa—all these devoted to Brahman, and centred in Brahman, seeking the Highest Brahman, approached the revered Sage Pippalada with fuel in their hands to know Brahma Vidya and realise Brahman

A rich man keeps his valuable jewels in an iron safe that is kept in the innermost chamber of his bungalow One has to pass through five compartments before he reaches the compartment in which the iron safe is placed Five walls screen the iron safe Even so this most valuable jewel of Atma is placed in the innermost recesses of your heart Five veils cover this Atma The five veils are the annamaya, pranamaya, manomaya, vijyanamaya and anandamaya Koshas You must tear these five veils if you want to approach Atma In other words you will have to pass through the five compartments formed by the five koshas if you want to get at the jewel of Atma.

To look for the God without, abandoning the God within, is like going in quest of conch-shells after giving up the precious diamonds in the hand If you cannot find Him in your heart you will not [illegible] else. Search Him wit[illegible] the heart He [illegible] Make the [illegible] possible [illegible]

extinguish the fire of Sankalpas Reali[illegible] the Truth now through your higher mind [illegible] Enjoy the perennial joy or Divine Bliss.

You cannot separate the particles of sug[illegible] that are mixed with sand or dust; but an [illegible] can separate them very easily So also if you [illegible] want to taste the nectar of Immortality [illegible] enjoy the Atmic Bliss, if you want to separate the [illegible] Atma from the five sheaths you must become [illegible] ant i e you must kill your egoism, pride and [illegible] vanity and develop humility.

If you are equipped with the four-[illegible] discipline Viveka, Vairagya Shad-sampat and [illegible] Mumukshatwa you will be able to [illegible] enquiry after Brahman. If you have pre[illegible] ethical training only you will be able to [illegible] practise deep meditation If you possess moral [illegible] qualification, you will be able to comprehend [illegible] the deep truths of Vedanta If you have moral [illegible] stamina only you will be eligible to approach [illegible] Brahman or the Absolute Ethical discipline [illegible] is an indispensable prerequisite to the seek[illegible] of Vedanta You can be a wonderful scientist [illegible] or philosopher of great repute without any [illegible] moral qualification but you cannot be a [illegible] student of Vedanta without ethical discipline [illegible] An immoral man can never realise Brahman.

If you can maintain, when you are [illegible] performing intense activity serenity of mind [illegible] which cannot be ruffled, balance of mind [illegible] which can never be disturbed, whatever [illegible] happens, you have made considerable progress [illegible] in the spiritual path This indicates that you [illegible] [illegible] immense inner spiritual strength.

If you have a serene and composed mind [illegible] [illegible] will be able to practise introspection [illegible] [illegible] The four-fold discipline [illegible] [illegible] the mind steady, serene and one-pointed.

There is neither birth nor death for you. Thou art the immortal undecaying Self. Maya deludes you and you identify yourself with the perishable body. You foolishly imagine that you are subject to birth and death. Free yourself from the clutches of Maya. Soar high in the realms of Supreme Peace and reach the abode of Immortality through purification and meditation.

The mind should be scientifically trained to ascend into higher states of awareness and joy. You should march slowly and steadily in the spiritual path. You can ultimately reach the goal if you have patience, perseverance and constant vigilance and if you are very regular in your meditation. You should have [illegible] over-zealous nature and spasmodic effort. Constant meditation on the Self will eventually lead to the ecstasy of beatific [illegible] or Nirvikalpa Samadhi, wherein the individual soul has become one with the Supreme Soul.

Mind is compared to a wild wandering bull. Take up a rod and beat it severely. It will go back to its shed. You can tie it easily now to the post. So also thrash the mind-bull severely with the rod of Vairagya. It will go back to its original home or shed Brahman. Now it will rest in supreme peace.

Mind is nothing but a bundle of Sankalpas. [illegible] objects, even if you [illegible] enjoyment, it will be thinking of objects [illegible] for meditation [illegible] eyes. This is very dangerous. You [illegible]

[illegible]

If you lead a simple life you have [illegible] very few wants, and you will have to think [illegible] little only.

Do not think of the past. Give up memories. You will have no desires if you give up memories. Do not plan for the future. Do not allow the mind to build up images. Live in the present. Think of the immortal Self. Now you will have a very quiescent state. [illegible] will be pulled up. You will become one with the Being. You cannot describe this [illegible] Self-realisation is beyond the range of speech. You will have to experience it yourself.

Believe in the glory of your own Self. "THOU ART THAT". Search, Hear, Understand, Reflect, meditate and Realise the Immortal Atma. This Atma was never born and will never die. Abandon all superstitions [illegible] doubts. Scorch out all wrong samskaras [illegible] wrong suggestions. Man or woman can reach the goal of Vedanta. Burn all false differences. There is no low, no high, no great [illegible] small, no superior, no inferior, no [illegible] inanimate. Behold your own Self everywhere. There is nothing but Self.

O, Ye of little faith, wake up from [illegible] long sleep of ignorance. Get knowledge [illegible] the Self. O wanderer in this [illegible] samsara, go back to your original abode [illegible] eternal peace, the fountain of [illegible] power, the spring of boundless [illegible] source of life, the origin of light and [illegible] the immortal blissful Brahman [illegible] immutable splendour and peace [illegible] the mind with thought of Self. Saturate [illegible] feelings with purity and [illegible]

[illegible]

Spiritual Conquest

SWAMI SIVANAND

Subdue your little Self
Keep the heart pure.
Build the bridge of love
Enter the Kingdom of peace

Be moderate in food
Control the senses
Conquer your lower mind
March in the path of Immortality

Learn to discriminate
Learn to despise sensual objects
Learn to give what you have
Learn to look within.

Transmute sex-impulse into pure love,
Rise above sex and body.
Live in the immortal Soul.
Attain everlasting life.

Get release from birth and death.
Abide in peace for ever and ever.
Now the mind cannot trouble you
You can rest in Thy Swaroopa.

Thou art free now
Thou art perfect now
Thou art illumined now
Thou art a Jivanmukta now.

LORD JESUS CHRIST

ON

LOVE

"Love the Lord, thy God, with all thy [illegible]t, with all thy mind, with all thy soul, and [illegible] thy neighbour as thyself."

"He who loveth God, loveth his brother [illegible]"

"Every kingdom divided against itself is [illegible]ght to desolation [illegible] divided against itself [illegible]

"Be perfect [illegible]

[illegible]

"Love [illegible]

"If thou bring the gift to the altar and there rememberest that thy brother hath aught against thee, leave there thy gift before the altar and go thy way; first be reconciled to thy brother and then come and offer thy gift."

"Think not that I am come to destroy the law or the prophets. I am not come to destroy, but to fulfil."

[illegible] enemies, bless them that curse [illegible] them that hate you and pray [illegible] and persecute [illegible] your [illegible]

sensitiveness keep him always on the rack, giving him no rest and peace He should fling himself into the infinite Life His individual sense must merge in the cosmic Spirit. The notion of the body must give place to a permanent experience of his deathless and all-blissful existence He must triumph over darkness and ignorance and awake to the light [illegible] of his real Self and Being. The del[illegible] the enternal should fill his manifest life activities. He ought to embody divine be[illegible] and sublimity The life of the senses [illegible] die. He must be reborn in the Spirit know he is God

---

Questions and Answers

SWAMI RAM

Q Do you mean to advocate a new faith ?

Ans Rama is no *advocate* of any idea The Truth advocates itself Rama simply offers no resistance to the Master, just keeps himself transparent, lets the light shine free Let it shine in any form. Let it shine in any form Let the body, mind and all be consumed by the flame ! There can be nothing more fortunate, Message delivered, kill the Messenger

Q Do you play the *role* of an apostle or Prophet ?

Ans No That is below my dignity I am God Itself and so are you The body is My vehicle.

Q. It (your message) won't succeed People are not *prepared* to receive it

Ans. What is that to me ? I (Truth) never march on these *catchpenny considerations* Ages are mine, Eternity is mine If Christ was rejected by his own people, the whole world took him up If rejected by his own time the succeeding ages were his

Q History [illegible] thought

[illegible]

before will, even if it be the will of one History loses itself on the study of sym[illegible] missing the intrinsic cause

Q. According to Emerson true bo[illegible] love is *feeling alike*, and you a typical Conformist don't seem to agree with any[illegible] what a love-less life you must be dragg[illegible]

Ans. I exult in looking at my pan[illegible] (world) from different stand points [illegible] view them as a conservative from be[illegible] there I watch them as a progressive Li[illegible] from the front, as Rama (or Puran) I exa[illegible] from the right; as a critic (of the Thunder Dawn) I inspect from the left. All these [illegible] and sideviews are entirely mine When a [illegible] woman is churning out butter, the str[illegible] the right hand is being pulled by fierce well as that in the left hand. All views [illegible] *mine own* how could I differ from any [illegible] Thus am I the ocean of Love surg[illegible] *different* waves. I agree to differ from and all Come, enjoy with me this *Agree[illegible] in difference.*

Q Is it not *mysticism* ? How can individual be identified with another who lives in complete separation from h[illegible]

[illegible] Well, let it be so *I also wa[illegible]* [illegible] all *appearance* we cannot be one, [illegible] are [illegible]

ॐ

विषय-सूची ।

विषय

त्याग या संन्यास—

बिना कामना के कर्म सर्वोत्तम त्याग अथवा ईश्वराधना का पर्यायवाचक है।

× × ×

जिस प्रकार मधु में फंस जाने पर मक्खी अपनी टांगों को मधु से धीरे-धीरे परन्तु दृढ़तापूर्वक साफ कर लेती है, इसी प्रकार व्यक्तियों और रूपों से आसक्ति प्रत्येक क्षण हमें दूर करना आवश्यक है।

× × ×

सम्बन्धों को एक एक करके काटना पड़ेगा, बन्धनों को यहाँ तक तोड़ना पड़ेगा कि मृत्यु के रूप में अन्तिम अनुग्रह सम्पूर्ण अनिच्छित त्याग में सफलीभूत हो।

× × ×

दैवी-विधान का चक्र निर्दयतापूर्वक घूमता रहता है। जो इस विधान के अनुकूल चलता है वह इस पर सवारी करता है परन्तु जो अपनी इच्छा को ईश्वर-(दैवी-) इच्छा (दैवी-विधान) के प्रतिकूल खड़ा करता है, वह अवश्य ही कुचला जायगा। और उसको प्रोमीथियस के समान भोग पड़ा भोगनी पड़ती है।

× × ×

इस त्याग को हिन्दू ज्ञान कहते हैं, अर्थात् त्
और ज्ञान एक ही और वही वस्तु हैं।

× × ×

जो ज्ञान त्याग का पर्यायवाची है वह तत्
ज्ञान है, वास्तविक आत्मा का ज्ञान है, जो
वास्तव में हो उसका ज्ञान है। यह ज्ञान त्याग
इस ज्ञान को प्राप्त कर लो तो आप त्यागी मनुष्य।

× × ×

आप के स्थान, पदवी और शारीरिक परिस्
त्याग का कोई सम्बन्ध नहीं; इनसे इसका
सम्बन्ध नहीं।

× × ×

त्याग केवल आप को सर्वोत्तम स्थिति में र
है, आप को उत्कर्ष दशा या श्रेष्ठ पद में
रखता है।

× × ×

त्याग केवल आप के बल को बढ़ा देता
आप की शक्तियों का गुणा कर देता है; अ
पराक्रम को दृढ़ (मजबूत) कर देता है, और आ
ईश्वर बना देता है। यह आप की चिन्ता और
को हर लेता है। और आप निर्भय तथा प्रसन्न
हो जाते हैं।

× × ×

अहिंसा

(लेखक—श्री सम्पूर्णानन्द जी)

महात्मा गांधी ने अहिंसा को राजनीति के शस्त्रागार में स्थान देकर लोगों का ध्यान पिछले २० वर्षों से इसकी ओर जिस प्रकार आकृष्ट किया है वह तो नयी चीज़ है पर अहिंसा तत्व नया नहीं है। महात्मा जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अहिंसा को स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधन माना। अवश्य ही अधिकांश कांग्रेस जनों के लिये अहिंसा एक अनिवार्य्य नीति मात्र था। वह इसको इसलिये अंगीकार करते थे कि देश की वर्तमान परिस्थिति में कोई दूसरा साधन देख नहीं पड़ता था। परन्तु स्वयं महात्माजी और उनके कुछ अनुयायियों के लिये वह एक सिद्धान्त था, उनके मत में यदि हिंसा द्वारा स्वतन्त्र होने के साधन होते तो भी हमको अहिंसा का ही अवलम्बन करना चाहिये। अब महात्माजी इसे और आगे ले जाना चाहते हैं। वह कहते हैं कि अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध भी अहिंसा के ही आधार पर होना चाहिये। उन्होंने जीवन मरण की बाज़ी लगाकर युद्धव्यस्त ब्रिटेन को परामर्श दिया कि वह जर्मनी के विरुद्ध शस्त्र का प्रयोग न करे और अहिंसात्मक ढंग से शत्रु का सामना करे। ब्रिटेन ने यह परामर्श नहीं माना, स्यात् ही कोई बलवान राष्ट्र आज ऐसी सम्मति मानने पर उद्यत होगा पर महात्मा जी चाहते हैं कि और कोई माने या न माने भारत तो इस पथ पर अवश्य ही आरूढ़ हो और यह संकल्प कर ले कि स्वतन्त्र होने पर वह हिंसात्मक साधनों से अपने पड़ोसियों के साथ बर्ताव न करेगा, चाहे कैसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय।

यदि भारतवासी इस बात को मान लें तो यह नये ढंग का प्रयोग होगा। स्वराज्य की प्राप्ति के लिये अहिंसा को नीति मानना दूसरी बात है पर धन जन होते हुए, सैन्य सामग्री के संग्रह की सामर्थ्य होते हुए, शत्रु के आक्रमण का उत्तर सैनिक ढंग से इससे सर्वथा भिन्न बात है। महात्माजी को छ ऐसे दूसरे लोग भी हुए हैं और हैं जो समझते बल प्रयोग पाशव है, न केवल मनुष्य-मनुष्य राष्ट्र-राष्ट्र और देश-देश के बीच में अहिंसात्म आदमियों जैसा ही व्यवहार होना चाहिये, इस पूरा प्रचार करना चाहिये, यथा शक्य निःशस्त्र पर ज़ोर देना चाहिये परन्तु शस्त्र-प्रयोग आज वर्जित कर दिया जाय, ऐसी राय और किसी दी। जिन अवतारी पुरुषों ने समय-समय पर को धर्ममार्ग पर चलने का उपदेश दिया है कभी उन नरेशों को, जिन पर उनका प्रभाव था, ऐसी सीख नहीं दी। ईसा, बुद्ध और महावीर किसी के लेखों या कृत्यों में ऐसी बा मिलती। अशोक ने नये देशों के जीतने का छोड़ दिया पर अपनी सेना भी तोड़ दी, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

ऐसा क्यों है? क्या पहिले किसी को के महत्त्व का पता नहीं था? ऐसा तो प्रतीत होता। पतञ्जलि ने—और यह उनकी नयी नहीं थी—अहिंसा को देशकालसमयानव सार्वभौम महाव्रतों में परिगणित किया है अर्थ ऐसा व्रत है जिसका पालन हर जगह, हर सम अवस्था में करना चाहिये। यह भी कहा अहिंसा प्रतिष्ठायाम् तत्सन्निधौ वैरत्यागः— की पूर्णावस्था में उसके पास वैर का अभाव हो है, न तो कोई उसके साथ वैर करता है न पासवर्ती जीव आपस में वैर करते हैं। अ सर्वोच्च आदर्श है। ऐसा कौन न मानेगा। उ क्योंकि की पूर्ण अहिंसा से ऐसा फल होता

क्षति करता है। अतः समाज के कल्याण के लिये तथा स्वयं उसके कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि वह बुराई से रोका जाय। रोकना कई प्रकार का होता है और यह प्रकार प्रस्थान भेद से—देश-काल-पात्र भेद से—बदलते रहते हैं। किसी को समझाना पर्य्याप्त होता है, किसी की निन्दा भर्त्सना से काम चल जाता है, किसी को लोकापवाद रोक देता है, किसी को पागल खाने या जेलखाने में बन्द करना पड़ता है पर जो सेना लेकर चढ़ दौड़ता है उसके आघात का उत्तर प्रत्याघात से भी देना पड़ता है। परन्तु प्रत्याघात करते समय भी उद्देश्य यही रहे कि लोक का, और इस विरोधी का, हित हो। वैर उससे नहीं उसके कर्म्म से किया जाय। ऐसी भावना से प्रेरित हिंसात्मक कर्म्म भी आध्यात्मिक उन्नति का साधक होता है और पूर्ण अहिंसाव्रत की ओर बढ़ने में सहायता देता है। एक और बात है। शरीर के रोगी अंग को महीनों तक इसलिये पाले रहना कि स्यात् वह कभी अच्छा हो जाय कभी कभी सारे शरीर को दूषित कर डालना है। इससे उसको काट डालना श्रेयस्कर होता है। काटने वाले की बुद्धि शुद्ध होनी चाहिये। यही वह लोक-संग्रह बुद्धि है जिसका उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता में दिया है। वह ब्रह्मज्ञान समझाते हुए भी जानते थे कि अर्जुन क्षात्र प्रकृति का व्यक्ति है और सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि (गीता ३-३३)—ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुकूल चेष्टा करता है। वह इस बात को खूब समझते थे कि न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानाम् कर्म्मसङ्गिनाम्—साधारण, कर्म्म के अधिकारी मनुष्य को ऐसे ही धर्म्म का उपदेश देना चाहिये जिसे वह बरत सके अन्यथा वह स्वानुकूल धर्म्म से हटा दिया जायगा और उच्च धर्म्म का अधिकारी नहीं बन सकेगा, भ्रष्ट होगा। जो अहिंसा करोड़ों में किसी एक को सिद्ध होती है उसका उपदेश सबको देना स्वयं अनर्थ करना है। जो अभी रजोगुण की भूमिका पार नहीं कर चुका उसे

सत्व के मार्ग पर नहीं चलाया जा सकता। इसी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को, जिनकी प्रकृति को पहिचानते थे—उनसे कहा भी था कि मैं . कि तुम यदि शुद्ध निष्काम बुद्धि से न लड़ोगे तो अन्तमें लड़ोगे, यह तुम्हारा युद्ध से उपरम नहीं है, प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति—यह बताया कि लड़ो पर श्रेष्ठ पुरुष की भांति दूसरों के लिये बनाओ; इसलिये मत लड़ो कि तुमको ... वैर है वरन् इसलिये कि समाज का कल्याण है कि उसका इन लोगों के पंजे से छुड़ाना हो इनको भी अधिक पाप बटोरने से रोकने का साधन है। तुम अपनी अहं बुद्धि से काम न अपने को सनातन धर्म्म मर्य्यादा, वैदिक क्र... साधनमात्र बना लो, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचि जब तक मैं मारता हूँ, पर मरते हैं ऐसा भाव है तक बुद्धि दूषित है, य एनं वेत्ति हंतारं, यश्चैनं म... हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते (२-१९) ऐसी बुद्धि भी एक दम नहीं आ जाती परन्तु अहिंसा बुद्धि की अपेक्षा सुकर है, क्योंकि इसमें म... की सहज प्रवृत्तियों के मार्ग को थोड़ा बदल... है, उनके पूर्ण लोप का प्रयास नहीं किया जा... पुराणों में हिंसात्मक कामों के साथ अहिंसात्मक ... के संयोग के कई उदाहरण मिलते हैं। दुर्गा स... की कथा है कि जब महालक्ष्मी महिषासुर का ... कर चुकीं तो देवगण ने उनकी स्तुति करते हुए ... कि भगवति, आप चाहतीं तो इनको दृष्टि मात्र ... भस्म कर देतीं, इससे जगत् का तो उद्धार हो ज... पर यह सब पातकी तो नरक जाते। आपने इन... शस्त्र इसीलिये चलाया कि युद्ध में सम्मुख मर... इनको भी सद्गति प्राप्त हो। देवि, 'चित्ते कृपा स... निष्ठुरता च दृष्टा त्वयि'—तुममें समर निष्ठुरता... साथ चित्तमें कृपा देख पड़ती है।

इस भावना से कर्म्म करना थोड़ा बहुत ह... लिये सुलभ है। सभी इस मार्ग पर चलकर अ...

[illegible] उद्धार कर सकते हैं यहाँ तक कि एक [illegible] में आ सकता है कि हिंसा का नाम ही [illegible]। और कोई दूसरा उपाय श्रुतिमधुर होने पर [illegible] मानव प्रकृति के विरुद्ध, हानिकर और अन्त [illegible] होगा। महात्माजी कभी कभी एक विलक्षण [illegible] प्रभावित होते हैं। उनके लेखों से यह ध्वनि [illegible] है कि उनका यह विश्वास है कि एक भी पूर्ण [illegible]मनुष्य हो तो वह दुनिया का नक़्शा पलट दे। [illegible] समझ में नहीं आती। इसका एक निष्कर्ष तो [illegible] कि आज तक कोई अहिंसक हुआ नहीं [illegible] भी किसी ने जगन्मात्र का नक़्शा पलटा [illegible], यह बात कर्म्म, सिद्धान्त के सर्वथा [illegible]। अवश्यमेव भोक्तव्यम्, कृतम् कर्म्म शुभा- [illegible] प्राणी को अपने कर्म्मों का फल भोगना [illegible] मूलों में से निकल कर अपना उद्धार करना [illegible] कुछ मार्ग दिखला सकता है, बस। यदि [illegible] महापुरुष के अस्तित्व से जगत् का, समाज का, स्वरूप बदल जाय तो कर्म्म सिद्धान्त कट जाय, जगत् का सूत्र विच्छिन्न हो जाय, जीवों के कर्म्म और कर्म्मफल की परम्परा का लोप हो जाय। जो बात महाप्रलय में भी नहीं होती, वह घटित हो जाय। शंकर, बुद्ध, राम, कृष्ण किसी ने ऐसा नहीं कहा। समाज में किसी ऐसे महापुरुष का होना यह तो बतलाता है कि लोगों के प्रारब्ध कुछ अच्छे हैं पर इसका न तो यह तात्पर्य है कि वह सारे समाज को कर्म्म बन्धन से मुक्त कर सकता है न यह कि वह सबको अपने जैसा महात्मा बना सकता है। लोगों को तो अपनी अपनी सीढ़ी से ही गिरते पड़ते ऊपर चढ़ना होगा। ऐसे लोगों का सच्चा हित साधन इस उपदेश में ही है कि ऐसे जगत् में जिसमें हिंसात्मक प्रकृति है और अभी बहुत दिनों तक रहेगी वह भी इस कड़ुए प्याले को पीने के लिये तैयार रहें कि कभी कभी हिंसात्मक काम लोकसंग्रह के लिये आवश्यक हो जाते हैं परन्तु अपनी बुद्धि को यथाशक्य निष्काम बनायें।

मेरी परीक्षा हो रही

(रचयिता—श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन')

मनुहार देख नए नए
तुम रूठ जाते ही गए
आभास पाया जब सदय तुम थे खड़े उस मोड़ पर।
मेरी परीक्षा हो रही॥

वरदान मेरे एक तुम
अभिमान मेरे एक तुम
फिर क्यों जब चल दिए थे नेह-नाता तोड़ कर
मेरी परीक्षा हो रही

दुख दाह सब सहता रहा
पर मान कर चलता रहा
मेरे हृदय [illegible] तुम पर छोड़ कर।
मेरी परीक्षा हो रही॥

[illegible]

अवतारों का रहस्य

(ले०—भगवानदास गुप्त बी० ए०)

'अवतार' शब्द का अर्थ है 'उतरना' जब परमेश्वर मनुष्य रूप लेकर इस संसार में उतरता है तो उसे अवतार कहते हैं। इसलाम धर्म में भी 'उतरना' शब्द प्रचलित है पर उनके यहाँ ईश्वर स्वयं नहीं उतरता उसके हुक्म की पुस्तकें उतरती हैं।

अब हमें यह विचारना चाहिये कि अवतार क्यों होते हैं। ईश्वर इतना कष्ट क्यों करता है। उसका वो स्वभाव ही है, शान्ति, फिर यह उतरना चढ़ना क्यों यह तो माया के लक्षण हैं।

१. एक मुख्य कारण इसका यह कहा जाता है कि—

> यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत्।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
> जब जब होहिं धर्म की हानी।
> बाढ़ैं असुर महा अभिमानी॥
> करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।
> सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
> तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा।
> हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
> असुर मारि थापहिं सुरन, राखहिं निज-श्रुति-सेतु।
> जग विस्तारहिं विसद जस, राम जनम कर हेतु॥

यह तो ठीक ही है। सृष्टि ईश्वर की है (खलक खुदा का) उसको ठीक चलाना उसका कर्तव्य ही है। पर मेरी समझ में अवतार का होना विशेष कर इस लिए है कि वह निर्बुद्धि मनुष्यों को अपने जीवन के उदाहरण से शिक्षा दे उपदेश करे और ज्ञान सिखलाए यह बात उनके हृदय पर अंकित कर दे कि कर्म के बन्धन से कोई नहीं, अवतारी तक भी नहीं बचा है, शुभ अशुभ किए कर्म का फल सबको भो[गना] पड़ता है।

> अवश्यमेव भोक्तव्यं कृताकृत्य शुभाशुभं।
> कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
> जो जस करहि सो तस फल चाखा॥
> यही नहीं
> तुलसी रेखा कर्म की, मेट सकहिं नहिं राम
> मेटैं तो अचरज नहीं (पर) समुझ किया है काम

अब इस शिक्षा के पक्ष के सिद्धान्त से अवता[रों] के जीवनी पर विचार कीजिए।

सतयुग में चार औतार हुए। (१) म[त्स्य] (२) कच्छप (३) वाराह (४) नृसिंह।

नाम ही से स्पष्ट है कि ये सब पशु रूप में [थे] और इन्होंने जहाँ तक मेरी जानकारी है कोई अ[शुभ] कर्म नहीं किए। कारण इसका यह है कि पशुओं [को] पाप पुण्य का ज्ञान है ही नहीं। काम क्रो[ध] लोभ मोह के वशीभूत वे अवश्य हैं पर उतने [ही] जितना उनके शरीर यात्रा के लिए आवश्यक है। मनुष्य तो अपनी भ्रमात्मक बुद्धि पर गौरव क[रता] हुआ आकाश पाताल को एक कर डालता है और कोई अशुभ कर्म छोड़ता नहीं। यही बात अब दे[खिए] (५) अवतार वामन का यही मनुष्य रूप है मनुष्य पृथ्वी पर आए और कुकर्म का आरम्भ हुआ वामन भगवान ने बलि से छल किया। बलि के ऐ[से] निर्दोष, दानी धर्मात्मा कौन होगा। पर उनको [मीठे] शब्दों के आडम्बर से वामन भगवान ने छल[से] बाँध लिया।

तो क्या अवतार होने से छल का दण्ड क[भी न] मिला? बेचारा बलि एक क्षण बँधा रहने के [बाद] मुक्त हो गया और अपने शुभ कर्मों के फल स्व[रूप]

देन को चुकाया। व्याधा के हाथ से मारे गए, दूसरों की स्त्रियों के संग नाचे, गाए, क्रीड़ा किया, फल यह पाया कि उनके पश्चात् उनकी स्त्रियों को कोल भिल्ल जंगली हर ले गए, अर्जुन सरीखे योद्धा रक्षा के लिए थे सो भी बुद्धू हो गए, गाण्डीव धनुष केवल बांस और रस्सी रह गया, बौद्धावतार तक यह दण्ड चलता रहा। दुराचारियों जैसा शरीर मिला पैर तो थे ही नहीं हाथ भी आधे थे। यही दशा तो लौकिक दुराचारी, नारिलोलुप, विषयी स्वामियों की होती है। फिर देखिए कौरव वंश का नाश कराया फल स्वरूप उनके यादव वंश का नाश हुआ, कहाँ तक लिखा जाए यदि कोई सज्जन इसका अध्ययन करें तो कोई कर्म ऐसा न मिलेगा जिसका फल न हुआ हो।

(९) नवाँ अवतार बौद्धदेव का हुआ जैसा ऊपर लिख आए हैं जो अहिंसा और दया वृत्ति की स्थापना के लिए हुआ था। ध्यान रखना चाहिए कि इस सिद्धान्त का अंकुर भगवान कृष्ण ने ही अपने जीवन में लगा दिया था और इन्द्र की पूजा, यज्ञादि, पशु-बलि इत्यादि उठा कर उसके स्थान पर गोवर्धन की पूजा चलाकर उपासना को रक्तपात की क्रूरता से रहित कर दिया था। बुद्ध भगवान ने इसकी पुष्टि भी की। पुराण में लिखा है कि उन्होंने दैत्यों को धोखा देकर अहिंसा का उपदेश सुनाकर उनका यज्ञ करना और उनमें पशु बलि देना बन्द कराया जिनसे दैत्यों का बल हीन हो गया। जो हो पर बुद्ध भगवान को कोई ऐसा दण्ड नहीं मिला जिससे धोखा या छल की बात जँचे। उनके उद्देश्य का फल तो प्रत्यक्ष है, आज हमारी उपासनाओं में, कुछ देवी या शक्ति-उपासकों को छोड़कर औरों में पशुबलि तो एक दम से उठ गया, हमारे सामाजिक कृत्यों, ब्याह शादियों, जेवनारों में मांस की प्रथा हट गई और जो मनुष्य भगत होता है, मांस, मदिरा नहीं खाता पाता वह सम्मान पाता है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि बौद्धावतार के समय से संसार की गति कुछ [illegible] गई, इनके जीवन में हमको दोष भी नहीं मिलते

(१०) दसवाँ अवतार कल्की अभी भविष्य [illegible] बात है इसलिए उसके विषय में अभी कुछ लि[illegible] की आवश्यकता नहीं।

जो बातें ऊपर लिखी गईं उनका अर्थ क्या [illegible] क्या मनुष्य देह धारण करने से परमात्मा में दोष [illegible] सकता है? क्या सूर्य्य की किरण मल पर पड़ [illegible] मैली हो सकती है, कदापि नहीं। यह सब से[illegible] उपदेश देने और हमारी बुद्धि को स्वच्छ कर[illegible] लिए हैं, हमें कभी न भूलना चाहिए कि मनुष्य [illegible] दोषों से भरा है, यहाँ तक कि अवतार भी देह [illegible] करने से उन दोषों के वशीभूत हो जाते हैं। [illegible] ही साथ दूषित कर्मों, पाप कर्मों का दण्ड आव[illegible] है, अनिवार्य है अवतारों तक के लिए।

गोस्वामी तुलसीदास तो बड़े श्रद्धालु और [illegible] पूजक थे और एक स्थान पर लिख गए हैं कि:

समरथ के नहि दोष गोसाईं।
रवि पावक सुरसरि की नाईं॥

ठीक ही है, पर पाठक विचार करें कि [illegible] सत्य की मात्रा कितनी है? तीनों उदाहरणों [illegible] पहिले रवि या सूर्य को लीजिए जो कि सारे वि[illegible] तपा डालता है, रस रहित कर डालता है, फल[illegible] इन्हीं रसों अथवा जल कणों से बादल बन बन [illegible] सूरज को घेर लेते हैं, उसके मुख को छिपा [illegible] और तेज का नाश कर देते हैं। और ग्रहण की [illegible] तो उनको लगी ही रहती है।

अब पावक या अग्नि को लीजिए, श्मशान [illegible] अग्नि कोई रसोई में नहीं ले जाता, उसे छूना [illegible] वहाँ की बची हुई लकड़ी-कोयले दूर फेंके ज[illegible] वेदों में तो इसके नाम बड़ी कल्पध्वनि की [illegible] इसको क्रव्यादग्नि कहते हैं, "यह हमारे सम्मु[illegible] आवे, इसका हम मुख न देखें" ऐसा वेद में आ[illegible] आया है और सुनिए, एक समय अग्निदेव ([illegible]

व्यावहारिक वेदान्त

(लेखक—श्री रामगोपाल मोहता)

(४) सांसारिक विषयों से होने वाले दुःख अथवा सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। सुख की अपेक्षा से दुःख और दुःख की अपेक्षा से सुख प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये सुख और दुःख दोनों ही झूठे हैं। यदि ये सच्चे होते तो प्रत्येक अपने ही आधार पर, यानी स्वतन्त्र रूप से सदा बने रहते। इसके अतिरिक्त सुख और दुःख की अवस्था कभी स्थिर नहीं रहती, और न किसी पदार्थ में सुख अथवा दुःख सदा एकसार बना रहता है। किसी अवस्था में कोई पदार्थ सुखदायक प्रतीत होता है, दूसरी अवस्था में वही पदार्थ महान दुःखदायक हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था में सुख-दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं होता, और सुषुप्ति अवस्था प्राणि-मात्र के लिए जाग्रत और स्वप्न दोनों से बहुत बड़ी होती है। आत्मज्ञान की तुरीय अवस्था और योग की समाधि अवस्था में भी सुख-दुःख का भान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सुख-दुःख दोनों ही मिथ्या हैं। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु में हमारी जैसी भावना होती है वह वैसी सुखदायक अथवा दुःख-दायक बन जाती है। हम अपनी ही मर्जी से और अपने ही मन के संकल्प से सुख और दुःख की कल्पना करके सुखी-दुःखी होते हैं। यदि हम चाहें तो सुख-दुःख की कल्पना से रहित हो सकते हैं। फिर सुख-दुःख कहां भी न रहेंगे। हमारा वास्तविक "अपना आप" तो स्वभाव से ही इन सुख-दुःखों से रहित स्वतः आनन्दस्वरूप है

[illegible]

क्योंकि हमारा वास्तविक "अपना आप (आत्मा) तो स्वभाव से ही मुक्त है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि सुख तो [illegible] चाहते हैं, परन्तु दुःख की इच्छा कोई नहीं [illegible] फिर दुःख हमने स्वतः कैसे उत्पन्न कर लिये? [illegible] तरह बन्धन में कोई नहीं रहना चाहता, फिर [illegible] हमने स्वयं कैसे उत्पन्न कर लिये? इन प्रश्नों [illegible] उत्तर यह है, कि यद्यपि हम अपने लिए दुःख [illegible] बन्धन नहीं चाहते, परन्तु बात भी बिल्कुल [illegible] कि दुःख और बन्धन हमने स्वयं ही उत्पन्न किये [illegible] और कर रहे हैं और उनसे अलग होना नहीं चाहते [illegible] पहिले कह आये हैं कि सांसारिक पदार्थों का [illegible] और दुःख—दोनों सापेक्ष हैं, एक का होना दूसरे [illegible] पर निर्भर है, एक के होने के लिए दूसरे का [illegible] ही मात्रा में होना अनिवार्य है। जितनी मात्रा में [illegible] उत्पन्न होता है उतनी ही मात्रा में दूसरा [illegible] उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में यदि यों कहें [illegible] अनुचित नहीं होगा कि ये एक ही वस्तु के [illegible] हैं—एक क्रिया (action) और दूसरा [illegible] प्रतिक्रिया (re-action) है, अतः ये दोनों [illegible] ही रहते हैं। इसलिए जब हम [illegible] आपको भूल कर सांसारिक विषयों के सुख [illegible] कामना करके उनमें आसक्ति करते हैं, तो [illegible] प्रतिक्रिया—दुःख—स्वयं उत्पन्न करते हैं। [illegible] सम्पत्तिक पदार्थ का संयोग होता है, उसका [illegible] [illegible]

...को भोगते रहने की ही इच्छा रखते हैं—
...इनका वियोग सहन नहीं कर सकते; और जब
...सुख और दुःख साथ ही रहते हैं, तो इससे स्वतः
...है कि दुःखों को भी हम छोड़ना नहीं चाहते।
...नशे आदि की आदत पड़ जाती है,
...उससे बहुत दुःखी होता है, परन्तु जब तक
...व्यसन को नहीं छोड़ देता तब तक वह उस
...से छुटकारा नहीं पा सकता—यद्यपि आदत
...और छोड़ना उसके अधिकार में होता है।
...अपने आप के साथ व्यक्तित्व के भाव की
...और उस व्यक्तित्व के साथ जातिविशेष,
...कुलविशेष, धर्मविशेष, सम्प्रदायविशेष,
...निवासविशेष, पदविशेष और प्रतिष्ठा-
...आदि अनेक प्रकार की उपाधियों के अहंकार
...और अनन्त प्रकार की कामनाएँ हम स्वयं
...लगाते हैं, और इन विविध प्रकार की
...उपाधियों एवं कामनाओं के कारण अपनी आवश्यक-
...ताएँ भी बहुत बढ़ा लेते हैं, क्योंकि प्रत्येक उपाधि के
...उसकी विशेष आवश्यकताएँ लगी हुई रहती हैं;
...जितनी अधिक उपाधियाँ होती हैं उतना ही
...व्यक्तित्व का अहंकार और उतनी ही अधिक
...आवश्यकताएँ होती हैं, और व्यक्तित्व के अहंकार,
...आवश्यकताओं एवं कामनाओं की आसक्ति
...सुखों को परवश करती है। फिर हमको इन
...उपाधियों के बन्धन और कामनाओं की परवशताएँ
...प्यारी लगती हैं कि उनसे ऊपर उठ कर उनसे
...अपने आपके यथार्थ-स्वरूप में स्थित होना नहीं
...चाहते, और उनसे ऊँचे उठे बिना अर्थात् उनकी
...आसक्ति से रहित हुए बिना बन्धनों से मुक्त नहीं
हो सकते। इसमें [illegible]
...मुक्त होना नहीं चाहते [illegible]
...कामनाओं से जितना [illegible]
...उतना कम आनन्द [illegible]
...दुःख होता है [illegible]

तो आनन्द और मुक्त स्वरूप ही है। "अपने आप" के असली स्वरूप, यानी सर्वात्म-भाव को भूल कर व्यक्तित्व की उपाधियों और व्यक्तिगत विषय-सुखों की कामना ही में आसक्त होने से दुःख और बन्धन प्रतीत होते हैं।

(५) हमने अपनी ही इच्छा से व्यक्तित्व के भाव में आसक्ति करके अपने सर्व-व्यापक-भाव के बदले छोटे से शरीर ही को "अपना आप" मान कर, शरीर से सम्बन्ध रखने वाले विशेष देश, विशेष काल, विशेष व्यक्तित्व और विशेष वस्तुओं के साथ राग की आसक्ति कर ली, तब शेष सब देश, काल, व्यक्ति और वस्तुओं से द्वेष स्वतः ही हो गया, क्योंकि राग की प्रतिक्रिया द्वेष होना स्वाभाविक है। अतः जितनी थोड़ी सी हद तक हमने अपना सम्बन्ध जोड़ा, उतनी थोड़ी सी हद तक ही अपना अस्तित्व परिमित कर लिया; बाकी सबसे हमने अपने अस्तित्व का सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जेल की चारदीवारी के अन्दर कैद होने वाले का अस्तित्व जेल की चार-दीवारी तक ही सीमाबद्ध रह जाता है। यदि वह जेल से अपनी मुक्ति कर ले तो उसके बाहर, उसके अस्तित्व का सम्बन्ध विस्तृत हो जाता है। इसी तरह व्यक्तित्व के भाव-रूपी जेलखाने से यदि हम बाहर निकल सर्वात्म-भाव में अपनी स्थिति कर लें तो हम अपनी सर्वव्यापकता का अनुभव कर सकते हैं। पर न तो हम व्यक्तित्व का भाव छोड़ना चाहते हैं और न सर्वव्यापक होना ही।

(६) सब विषमताएँ हमने अपनी इच्छा से उत्पन्न की हैं और कर रहे हैं। संसार के सभी पदार्थों में हम लोग एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर रहने की होड़ में लगे हुए हैं। हममें जितने मनुष्य होते हैं, वे सब दूसरों से अधिक सुखी, अधिक सम्पत्तिशाली, अधिक बलवान और अधिक बड़ा होने के लिए होते हैं, [illegible] सब दूसरों से आगे निकलने के लिए निरन्तर घुड़दौड़ होती रहती है। इससे सर्वसाधारण के

लिए एक दूसरे को दबाने, एक दूसरे को गिराने एवं एक दूसरे को कष्ट देने के लिए, एक दूसरे से छीन-झपट सदा चलती रहती है। जब हम दूसरों को अपने से पृथक समझ कर उनको दबाने और दुःख देने की चेष्टाएँ करते हैं, तो उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे भी हमें दबाने और दुःख देने की चेष्टाएँ करते हैं, अतः इन्हीं चेष्टाओं द्वारा अनन्त प्रकार की विषमताएँ हम ही उत्पन्न करते हैं। यदि हम इस तरह की खींचातानी छोड़ दें तो कोई विषमता न रहे, क्योंकि वास्तविक "अपना आप" तो स्वभाव से ही सम है। परन्तु हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए खींचा-तानी की खींचातानियों को छोड़ना नहीं चाहते, फलतः विषमताएँ मिटाना नहीं चाहते। वर्तमान समय में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जगत् में विषमताएँ इतने भयानक-रूप में बढ़ गई हैं कि लोग अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, और दुःखों से छुटकारा पाने के लिए संसार के सभी राष्ट्र छटपटा रहे हैं, और बहुत से विचारशील पुरुष यह अनुभव करते हैं कि जब तक अलग-अलग व्यक्तिगत और भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय स्वार्थों की खींचातानियाँ छोड़ कर, सबकी एकता स्वीकार करके, सबके सम्मिलित स्वार्थों के लिए प्रयत्न नहीं किया जायगा, तब तक सुख-शान्ति नहीं हो सकती (क्योंकि जगत्, वास्तव में एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के कारण एक दूसरे सुख-दुःख की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव अन्य पड़े बिना कदापि नहीं रहता); परन्तु अपने व्यक्ति-गत और राष्ट्रीय स्वार्थों को दूसरों के स्वार्थों अन्तर्गत मानना कोई भी राष्ट्र वास्तव में नहीं चाह इसलिए विषमताएँ और उनसे होने वाले दुःख नहीं मिट सकते। परन्तु इतनी विषमताएँ होने भी सबका "अपना वास्तविक आप = आत्मा" सम ही रहता है, क्योंकि यह सर्वव्यापक है— सब विषमताओं का एकीकरण हो जाने से सब एकत्व-भाव सम हो जाता है। सुखी-दुःखी, ऊँच-नीचा धनी-गरीब आदि द्वन्द्वों (जोड़ों) की सब विषमताएँ सापेक्ष हैं, जितनी मात्रा में एक होती है उतनी ही मात्रा में दूसरी होती है। सबका एकीकरण हो जाने से आपस में एक दूसरे से कट कर विषमता शेष नहीं रहती—सर्वत्र समता हो जाती है। अतः जिन आत्मज्ञानी महापुरुषों ने सब एकता का सत्य अनुभव कर लिया है, उनके लिए कोई विषमता नहीं है; परन्तु जो लोग एकता स्वीकार न करके, अपने पृथक व्यक्तित्व के अहंकार में उलझ रहे हैं, उनके विषमताजन्य दुःख दूर नहीं रहते।

[जुलाई-अंक से आगे (क्रमशः)]

विदाई

([illegible])

[illegible] !
[illegible] विदाई ॥
[illegible] !
[illegible] ॥

सवेरे का समय

(महात्मा शान्ति प्रकाश)

[illegible] का कैसा सुहाना समय ।
[illegible] जो करो इस समय होवे जय ॥

[illegible] काल का समय कैसा सुन्दर है । मन्द [illegible] मृदु बह रही है । कलियाँ छिटक छिटक कर [illegible] चहक चहक कर कुछ कह रही हैं । सुनो ! [illegible] इस समय जो भी सोया वही चूका, जो [illegible] नहीं जागा वह बड़ा अभागा है । [illegible] जो कुछ किया जाता है उसमें सफलता [illegible] होती है । जितना हम इस थोड़े से समय [illegible] हैं वो शेष सारे दिन और रातमें नहीं कर [illegible] । इस समय जो विद्यार्थी विद्याध्ययन [illegible] अपने कारोबार को देखता, नेता अपने [illegible] पर विचार करता और महात्मा भगवद्भजन [illegible] है सफलता को प्राप्त होता है । अतः सफलता [illegible] करने की कुञ्जी प्रातः काल का उठना है मनुष्य [illegible] जीवन का प्रातः काल उसका बचपन है । जो भाव [illegible] के सरल हृदय में भर दिये जाते हैं वे पत्थर [illegible] लकीर हो जाते हैं । इसलिए आवश्यक है कि [illegible] के पवित्र हृदय अशुद्ध विचारों से अपवित्र न [illegible] होने पावे । यदि आपको अपनी जाति और देश में [illegible] मनुष्य मात्र और सारे संसार में सुख-शान्ति [illegible] है तो अपने बच्चों को अच्छे और सच्चे बनाओ । [illegible] माता पिता का यह कर्तव्य है कि अपने बच्चों [illegible] सर्वोत्तम बनावे । स्कूलों में बच्चों को भेज देने [illegible] घर पर दो एक मास्टर रख देने से काम नहीं [illegible] । इन [illegible]

कहाँ आ सकता है, जो एक माता के हृदय में छिपा है । प्रथम उपदेश बच्चों को माता ही से मिलता है । इतना ही नहीं बच्चों के जन्म से पहले उसका उपदेश आरम्भ हो जाता है । वह कैसे ! गर्भवती माता के जैसे विचार होते हैं वैसे ही बच्चों के विचार हो जाते हैं । नैपोलियन बोनापार्ट की माता जब गर्भवती थी उस चादर को ओढ़कर बहुधा सोया करती थी जिसमें ट्रोजन की युद्ध के वीरों के चित्र बने हुए थे । उन चित्रों को देखकर उन वीरों की वीरता का विचार उसके मनमें आता था और इसी सांचे में गर्भ का बालक ढलता था । क्या आपको मालूम नहीं कि जब प्रहलाद गर्भ में था तो उसकी माता को नारदजी ने जो उपदेश किया था वह किस प्रकार इस बच्चे में छिपा हुआ था जो समय पाकर प्रकट होगया ।

विदित हो कि जैसे भाव माता और पिता के गर्भाधान संस्कार के समय होंगे वैसी ही आत्मा गर्भ में आवेगी । इसलिये प्रत्येक माता-पिता को अपने आचार और विचार शुद्ध रखने चाहिये, ताकि बच्चों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़े । जो माता और पिता अपने बच्चों की आप देख भाल नहीं करते और नौकरों पर छोड़ देते हैं वो पीछे से पछताते हैं ।

अब पछताये होत क्या, चिड़िया चुग गई खेत ।
अतः "Strike the iron when it is hot"
गया वक्त फिर हाथ आता नहीं ।

[illegible] regard. health

धर्म-अधर्म-विवेक

(लेखक—श्री आर० एस० नारायण स्वामी)

धर्म शब्द 'धृ' धातु से निकला माना जाता है जिसके अर्थ 'धारण करना' व 'धारण होना' है; इसलिए जिन नियमों के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि धृत अर्थात् धारण की हुई या निर्भर है, अथवा जिन नियमों के आधार पर प्राण की स्थिति या उन्नति निर्भर है, अथवा जिन नियमों या मार्ग को प्राणी ने अपनी वास्तविक उन्नति या सुख के लिए धारण किया हुआ है, उन्हें धर्म कहा जाता है। परन्तु नित्य-व्यवहार में 'धर्म' शब्द का प्रयोग प्रायः पारलौकिक सुख के मार्ग के अर्थ में ही किया जाता है। जब किसी से पूछा जाता है कि "तुम्हारा धर्म क्या है", तब हमारे पूछने का उससे यही हेतु होता है कि तुम अपने पारलौकिक सुख अथवा कल्याण के लिये किस मार्ग (वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मूसाई, मुहम्मदी, या पारसी इत्यादि) से चलते हो। और वह उत्तर भी फिर हमारे प्रश्न के अनुसार ही देता है। और स्वर्ग-प्राप्ति के साधन भूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय "अथातो धर्म जिज्ञासा" आदि सूत्रों में जो धर्म शब्द आया है, उससे तात्पर्य भी यही है कि जिस विधि या मार्ग पर चलने से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है जिसकी अब जिज्ञासा करनी चाहिए। ऐसे ही कैवल्य मुक्ति की प्राप्ति का साधन भूत जो ब्रह्म साक्षात्कार रूप मार्ग है उसकी मीमांसा करते समय "अथातो धर्म जिज्ञासा" आदि वेदान्त सूत्रों में जो 'ब्रह्म शब्द आया है, उससे तात्पर्य धर्म शब्द ही है, अर्थात् वह (ब्रह्म साक्षात्कार रूप) मार्ग जिस पर कि कैवल्य मुक्ति नितान्त निर्भर है उसकी अब जिज्ञासा करनी चाहिए। परन्तु धर्म शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त राज-धर्म प्रजा-धर्म देश-धर्म जाति-धर्म कुल-धर्म, मित्र-धर्म, इत्यादि सांसारिक नीति- को भी 'धर्म' कहते हैं। धर्म शब्द के उक्त दो या अभिप्रायों को जब पृथक् पृथक् करके दि होता है तो पारलौकिक अर्थात् मोक्ष मार्ग के ध 'मोक्ष धर्म' अथवा केवल 'मोक्ष' और व्याव अर्थात् लौकिक मार्ग के धर्म या नीति को केवल कहा करते हैं। उदाहरणार्थ चतुर्विध पुरुषार्थ गणना करते समय 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' के जाता है। इसके पहले शब्द 'धर्म' में ही यदि का समावेश हो जाता तो अन्त में मोक्ष को पुरुषार्थ बतलाने की आवश्यकता न रहती। इ कहना पड़ता है कि धर्म शब्द से प्रायः स्वर्गी लौकिक सुख का मार्ग, अथवा व्यावहारिक सांसारिक नीति-धर्म ही शास्त्रकारों को अ है। इन्हीं को आज कल प्रायः कर्तव्य, कर्म, नीति-धर्म अथवा सदाचार आदि नाम दिया जा परन्तु प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में 'नीति' अथवा शास्त्र' शब्दों का उपयोग केवल राजनीति ही के किया गया है, इसलिए उस समय में लोग कर्म अथवा सदाचार के सामान्य विवेचन को प्रवचन' न कह कर 'धर्म प्रवचन' कहा करते थे 'नीति' और 'धर्म' दो शब्दों का यह पारिभाषि सभी संस्कृत ग्रन्थों में नहीं माना गया है, इ गीता में 'नीति', 'कर्तव्य' और 'धर्म' शब्द उपयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया गया है। जिस स्थान पर तत्त्व विवेक अर्थात् मोक्ष का किया गया है, वहाँ गीता में भगवान ने उस का नाम सांख्य या अध्यात्म-शास्त्र या अध्यात्म रक्खा है। महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थ आया है और जिस स्थान में कहा गया

[illegible] है, तथापि जो हमारा परम [illegible] स्थान वा मोक्ष है उस पर भी हमारी [illegible] रही है। समाज धारण को लीजिए, [illegible] (धर्म के बाह्योपयोगी) तत्त्व हमारे आत्म- [illegible] में बाधा डालें, तो हमें इनकी [illegible] नहीं। इसलिये जो कर्म (चाहे उनसे समाज [illegible], पोषण और हित ही होता हो पर) [illegible] हानि वा अधोगति कर रहा हो, वह [illegible] वास्तव में अधर्म रूप वा पाप रूप [illegible] नहीं। और जो कर्म हमारी आध्यात्मिक [illegible] अनुकूल हो (चाहे उससे समाज का पालन, [illegible] हित न हो तो भी) वह कर्म हमारे वास्ते [illegible] धर्म रूप वा पुण्य रूप ही है, अधर्म रूप [illegible] नहीं। मूल तत्त्व इस उक्त विचार से यह [illegible] कि जो कर्म अपने कर्ता की आध्यात्मिकोन्नति [illegible] वा सर्व भूत हित कर रहा हो, [illegible] धर्म रूप वा शुभ कर्म है। जो कर्म अपने [illegible] ही आध्यात्मिकोन्नति कर रहा हो, और [illegible] वा सर्व भूत हित चाहे न कर रहा हो, [illegible] धर्म रूप वा शुभ कर्म है, अधर्म रूप वा [illegible] नहीं। और जो कर्म अपने कर्ता की न आध्यात्मिक उन्नति कर रहा हो और न अवनति, केवल समाज का पालन पोषण वा हित ही कर रहा हो वह भी धर्म रूप वा शुभ कर्म कहलाने के योग्य है। पर जिस कर्म से कर्ता की अपनी आध्यात्मिक उन्नति तो नहीं अवनति हो, और जिससे केवल समाज का ही पालन, पोषण वा हित होता हो वह कर्म धर्म रूप वा शुभ कर्म नहीं किन्तु पाप रूप वा अशुभ कर्म है। क्योंकि व्यक्तिगत उन्नति से ही समाज की उन्नति वा स्थिति हो सकती है। जिस समाज के मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति ही नहीं अर्थात् जो स्वयं गिरे हुए हैं उनकी समाज उन्नति परायण हो ही कैसे सकती है अर्थात् वह समाज स्वयं गिर जाता है। और जिस कर्म से न कर्ता का अपना कल्याण और न समाज का पालन पोषण वा हित हो बल्कि दोनों की हानि होती हो तो वह कर्म घोर पाप रूप वा महा अधर्म रूप ही है। संक्षेप से तात्पर्य यह कि जो कर्म अपने कर्ता के मोक्ष वा आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो, वही पुण्य, वही धर्म और वही शुभ कर्म है; और जो उसके प्रतिकूल हो वही पाप, वही अधर्म और वही अशुभ कर्म है। (क्रमशः)

हमारा हिन्दुस्तान

देश हमारा हिन्दुस्तान।
हमको प्यारा प्राण समान॥

मस्तक उच्च हिमांचल,
[illegible] है विन्ध्याचल।
[illegible] समान। देश०॥

[illegible]

मधुर [illegible], [illegible] इसके,
मन को हर न सके हैं किसके?
[illegible]। देश०॥

हिन्दू, मुस्लिम और इसाई,
[illegible] भाई।
सब इसको प्यारा समान। देश०॥

[illegible]

प्रतीत्य समुत्पाद

(ले०—आचार्य नरेन्द्र देव)

(गतांक से आगे)

द्वादशांग का विस्तार

अविद्या—अविद्या क्या है ? दुःख के विषय में अज्ञान, दुःख-समुदय के विषय में अज्ञान, दुःख-निरोध के विषय में अज्ञान और दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपत्ति (निरोध-मार्ग) के विषय में अज्ञान (मज्झिम निकाय, १।५४) जितने अकुशल (=अशुभ) धर्म हैं वह सब अविद्यामूलक हैं। (संयुत्त निकाय, २।२६३) इस लोक या परलोक में जितनी दुर्गतियाँ हैं वह सब अविद्यामूलक हैं। अभिधर्म कोश के अनुसार पूर्वजन्मों के क्लेश की जो दशा है वही अविद्या है (पूर्वक्लेशदशाऽविद्या—तृतीय कोशस्थान, २१)। रागादि क्लेश हैं। विद्या का अभाव अविद्या नहीं है किन्तु विद्याविरोधी अन्य धर्म अविद्या है। प्रज्ञा का उपक्लेश ही अविद्या है। अविद्या को संयोजन, अनुशय, आस्रव, ओघ, निवरण आदि में परिगणित किया है। यह अविद्या यथाभूत अर्थ का प्रच्छादक है। इसी अविद्या से आच्छादित पुद्गल (=जीव) पुनर्भव (पुनर्जन्म) के लिये कर्म करता है।

संस्कार—'संस्कृत' (पालि रूप 'संखत') का अभिसंस्कार करने के कारण 'संस्कार' कहलाता है। इन्द्रिय का प्रत्येक विषय 'संस्कृत' है (संयुत निकाय, ३।८७)। संस्कृत के तीन लक्षण हैं—उत्पाद, नाश और स्थित के अन्यथात्व का देखा जाना। संस्कार तीन हैं—काय-संस्कार, वाक्-संस्कार, चित्त-संस्कार। आश्वास-प्रश्वास काय-संस्कार हैं वितर्क और विचार वाक्-संस्कार हैं और संज्ञा, वेदना चित्त-संस्कार हैं। आश्वास-प्रश्वास कायिक धर्म हैं वितर्क और विचार [illegible] का कार्य होता है और संज्ञा-वेदना चैतसिक धर्म हैं। (मज्झिम निकाय ३०१) संस्कार अनित्य हैं। संस्कार पूर्व जन्म कर्म को कहते हैं।

संस्काराः पूर्वकर्मणः—अभिधर्मकोश ३।[illegible]

मध्यमक कारिका की टीका के अनुसार—

कुशलाकुशलानेञ्ज्यादिचेतनाविशेषास्ते संस्काराः। वा कायिका वाचिका मानसाश्चेति।

अविद्या से आवृत जीव कर्मों को करता है इन कर्मों के द्वारा अमुक अमुक गति को होना है।

विज्ञान—विज्ञानकाय ६ हैं—चक्षु विज्ञान, [illegible] घ्राण, जिह्वा, काय, मनो विज्ञान। ([illegible] निकाय २१४).

सत्वों की स्थिति के लिये ४ प्रकार के [illegible] बनाये गये हैं। उनमें एक 'विज्ञान आहार' भी [illegible] यह पुनर्जन्म में हेतु-प्रत्यय बनाया गया है। संसार का बीज है। माता की कुक्षि में (संयुत [illegible] १३), बिम्ब प्रतिबिम्बादि न्याय से विज्ञान सं[illegible] होता है अर्थात् विज्ञान की अवक्रान्ति होती [illegible] विज्ञानहेतु-वश नाम-रूप का प्रादुर्भाव होता है।

अभिधर्म कोश के अनुसार 'सन्धिस्कन्ध विज्ञान' अर्थात् प्रतिसन्धि-क्षण में योनिगत पञ्च[illegible] 'विज्ञान' कहलाते हैं।

नाम-रूप—चार अरूपी स्कन्धों को 'नाम' है (मध्यमक वृत्ति)- वेदना, संज्ञा, संस्कार, वि[illegible] संयुत्त निकाय के अनुसार वेदना, संज्ञा, चे[illegible] स्पर्श मनसिकार नाम' ([illegible]) हैं पञ्च [illegible] षडायतनों की उत्पत्ति के पूर्व नाम-रूप कहलाते

अविद्यादि निर्दिष्ट प्रत्ययों से जो प्रत्यय जिस संस्कारादिक धर्म का उत्पाद करता है वह अन्योन्य विकल्ता होने पर उत्पाद नहीं कर सकता। इसलिये प्रत्यय सामर्ग्रीवश एक साथ समुत्पाद होता है, अलग अलग नहीं।

पटिमुच्चमितो ति युत्तो हेतुसमूहो अयं पटिच्चोति। सहिते उप्पादेति च इति वुत्तो सो समुप्पादो। (विसुद्धिमग्ग, २।५२१)

वसुबन्धु-रचित अभिधर्म कोश के अनुसार अनादि भव-चक्र प्रतीत्य समुत्पाद है। उसके १२ अंग हैं और तीन काण्ड हैं। १२ अंग ऊपर गिनाये जा चुके हैं।

तीन काण्ड इस प्रकार हैं—(१) पूर्वान्त अविद्या-संस्कार; (२) अपरान्त—जाति-जरामरण, (३) मध्य भाग—शेष आठ अंग।

स प्रतीत्य समुत्पादो द्वादशांग त्रिकाण्डक.।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणात॥
तृतीय कोश स्थान, कारिका २०।

इनमें पूर्वान्त द्वय अतीत विषय, अपरान्त द्वय अनागत विषय और मध्य का अष्टक वर्तमान विषय है। मध्य के दो विभाग भी किये जाते हैं—(३-७) अतीत स्थिति के कार्य और (८-१०) अनागत स्थिति कारण।

१२ अंगों में से अविद्या-तृष्णा-उपादान यह तीन क्लेश, संस्कार-भव 'कर्म' और शेष ७ अर्थात विज्ञान-नामरूप-षडायतन-स्पर्श-वेदना-जाति-जरामरण 'वस्तु' (आश्रय-क्लेश कर्मणा) कहलाते हैं। द्वादशाग ॥ मे जो अंग वस्तु हैं वही फल भी हैं। मध्य का जो अष्टक है उसकी दृष्टि से अविद्या और संस्कार की हेतु संज्ञा है और जाति-जरामरण की फल संज्ञा है। क्लेश से क्लेश की उत्पत्ति होती है, जैसे तृष्णा से उपादान क्लेश से क्रिया की उत्पत्ति होती है, जैसे ... भव, क्रिया से वस्तु की उत्पत्ति है, जैसे ... विज्ञान, वस्तु से वस्तु की उत्पत्ति ... विज्ञान से नाम रूप और वस्तु से क्लेशों की उत्पत्ति होती है, जैसे वेदना से तृष्णा। भव-चक्र के अंगों का यही नियम है। इस प्रतीत्य समुत्पाद में हेतु अङ्ग (१२) 'समुत्पाद'; फलभूत अङ्ग (११-१२) 'समुत्पन्न प्रतीत्य और कार्य' कारणभवतुन संज्ञक अङ्ग ३-१० प्रतीत्य समुत्पाद प्रतीत्य समुत्पन्न कहलाते हैं।

क्लेश. त्रिणि द्वयं कर्म सप्त वस्तु फलं तथा।
फलहेत्वभिसंक्षेपो द्वयोर्मध्यानुमानत॥
क्लेशात् क्लेशः क्रिया चैव यतो वस्तु तत पुन।
वस्तुक्लेशाश्च जायन्ते भवांगानां अयं नय॥
तृतीय कोशस्थान।

त्रिपिटक के ग्रन्थों के टीकाकार बुद्धघोष भी प्रतीत्य समुत्पाद को 'भव-चक्र' कहते हैं।

बुद्ध कहते हैं कि जो धर्म को देखता है वह मुझको देखता है और जो मुझको देखता है वह धर्म को देखता है; जो प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है। 'धर्म' का अर्थ 'हेतु' भी है (बुद्ध घोष)। प्रतीत्य समुत्पाद दुःख का हेतु है इसलिये उसे धर्म कहते हैं। धर्मता ही परम सत्य है। चार आर्य सत्यों में इसकी प्रधानता है। यही बुद्ध की शिक्षा का सार है। इसीलिये शून्यवादी प्रतीत्य समुत्पाद को शून्यता मानते हैं।

नागार्जुनकृत मध्यमककारिका के २४ वें प्रकरण में आर्यसत्यों की परीक्षा की गयी है। इस लिये प्रतीत्य समुत्पाद पर भी विचार किया गया है। नागार्जुन कहते हैं—

य प्रतीत्य समुत्पाद शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥१८॥

नागार्जुन के अनुसार सब धर्म शून्य हैं अर्थात ... यदि भाव स्वभाव से विद्यमान हैं ... हों और उस अवस्था में ... और न निरोध। जो ... यह अज्ञान है क्योंकि

शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यान्मार्गलाभत. ।
बुद्धाः शुद्धात्मलाभित्वात् गता आत्ममहात्मताम् ॥९।२३

कारिका की टीका इस प्रकार है—

अनेनाभिसंधिना बुद्धानामनात्मवे धातौ परमात्मा व्यवस्थाप्यते । 'अनात्मन' और 'महात्मन' एक ही हैं । एक negative है दूसरा positive यही बुद्धत्व या तथागत-धर्म है ।

यही बुद्ध महायान सूत्रालंकार के शब्दों में—

यथाम्बरं सर्वगतं सदा मतं तथैव तत्सर्वगतं सदामतम् ।
यथाम्बरं रूपगणेषु सर्वगं तथैव तत्सत्त्वगणेषु सर्वगम् ॥
यथोदभाजने भिन्ने चन्द्रबिम्बं न दृश्यते । तथा दुष्टेषु सत्त्वेषु बुद्धबिम्बं न दृश्यते ॥९।१५-१६.

ऊपर के विवेचन में हमने यह दिखलाया है कि हेतु प्रत्ययवश दुःख-समूह का ही उत्पाद होता है । इस प्रकार भवाङ्गों की प्रवृत्ति होती है । इस प्रतीत्य समुत्पाद की यथावत अविपरीत भावना से अविद्या का नाश होता है । शून्यतावादियों के शब्दों में जो प्रतीत्य समुत्पाद को सम्यक् रूप से देखता है वह सब भावों को प्रतिबिम्बवत् स्वभावशून्य समझता है, वह किसी विषय में मोह को नहीं प्राप्त होता और कर्म नहीं करता । इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद की भावना से तत्व की प्राप्ति होती है । तत्वदर्शन से अविद्या का निश्चय ही नाश होता है और उस से संस्कारों का निरोध होता है । इस प्रकार दुःख-स्कन्ध का निरोध होता है । जिस प्रकार अग्नि जब तक उपादान है तभी तक जलती है और उपादान के विकलता से नहीं जलती, उसी प्रकार कर्म-क्लेशादि विज्ञान-बीज प्रतिसन्धि (=जन्म) के क्षण में माता की कुक्षि में नाम-रूप के अंकुर में परिणत होता है पर निर्मला प्रज्ञा द्वारा दुःखों का निरोध होता है और जीव भव चक्र से छुटकारा पाता है ।

व्यावहारिक वेदान्त

वेदान्त को आचरण, अमल व व्यवहार में लाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम उसके सिद्धान्तों को पहले भली प्रकार समझ लें । यदि हम सिद्धान्त ही नहीं समझते तो उनको व्यवहार में क्या लायेंगे ।

वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त "अहं ब्रह्मास्मि" है । जो मनुष्य "ब्रह्म" का अनर्थ करते हैं वही वेदान्त के सिद्धान्तों पर आक्षेप करते हैं । जो ब्रह्म को ईश्वर मानते हैं वे कहते हैं कि ईश्वर तो सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है और जीव प्राछिन्न और अल्पज्ञ है । तो यह कैसे ब्रह्म हो सकता है ।" जो मनुष्य "ब्रह्म" को एक व्यक्ति या पुरुष मानते हैं वो कहते हैं कि "सत्य पुरुष के अपेक्षा ब्रह्म पुरुष की पदवी नीची है । क्योंकि जिस दर्जे की चैतन्यता सत्य पुरुष में है ब्रह्म पुरुष मे नहीं ।" यदि उपरोक्त अर्थ या अनर्थ करने वाले 'ब्रह्म' का यथार्थ या ठीक अर्थ समझते तो यह अनर्थ न करते । अब समय ने पल्टा खाया है और सत्य के खोजियों ने पक्षपात को त्या बताया है । इससे आशा है कि हर एक सत्य अभिलाषी इसके वास्तविक अर्थ जानकर अन करेगा और वेदान्त को अपने आचरण में ला आपको, अपने परिवार को, अपनी जाति को, देश का समस्त संसार को सच्चे सुख और शान्ति भरपूर कर देगा । निम्नलिखित उपदेश से जो नारायण से मिलता है उसकी समझ में आ जावेगा कि कोई पृथक व्यक्ति नहीं यदि उसे हम कोई पृथक माने तो यह एक देशी और परिछिन्न हो जाये वह सर्वदेशी अपरछिन्न है । इसलिये वो चैतन्य किन्तु चैतन्यता है जो सर्वत्र फैली हुई है । यह अत्यन्त है वहाँ ईश्वर या सत्य पुरुष है जहाँ अति न्यून है वहाँ प्रकृति समाया है और इन दोनों के बीच में है वह जीव है ।

ईश है सूरज जीव हैं किरने ।
जगती को हम धूप ही कहलें ।
औ' जो है प्रकाश तीनों मे ।
हम उसे ब्रह्म या राम कहें ।

—महात्मा प्रका

के बगैर मेहनत भी नहीं हो सकती। परमात्मा मेरा मन मेहनत पर ज्यादा लगे। मैं निहायत दर्जे की मेहनत करूँ। क्योंकि मेरे इरादों को पूरा करने वाले आप हैं। सातवीं आठवीं छुट्टी के बाद मैं गुजरानवाला आऊँगा। थोड़े ही अर्से के बाद फिर लाहौर में अगर आ जाऊँ तो बड़ी अच्छी बात हो। आप इस काम से नाराज न हो जाना। इससे तो असल गर्ज सिर्फ यही थी कि किसी तरह आप नाराज न हो जाएँ। रघुनाथ मल को यह कह देना कि अगर अच्छा होना चाहता है तो यों करे कि ईश्वर को उनकी याद करे। इस बात से इतने वाकिफ़ हैं कि मैं किसी तरह बयान नहीं कर सकता। मुझे मेरा यों तजुर्बे के बाद यह बात मालूम हुई है कि यह बात निहायत ही अच्छी है। मैं इसकी तारीफ़ फिर बयान करूँगा जब गुजरानवाला आऊँगा। यह बात ऐसी है कि इसमें बिल्कुल उस्तादों की जरूरत नहीं रहती सिवाय स्कूल मास्टरों के। —तीर्थराम

नोट:—स्वामी रामतीर्थ १९ वीं सदी के महान पु में से एक थे। आप अपने पिता गोस्वामी हीरानन्दजी घर १८७३ ई० में दीपावली की रात को पैदा हु गुजरानवाला में आप अपने पिता के सत्संगी और भ वेदान्त भक्त धन्नारामजी के आश्रम में रहते थे। स्वा जी की शिक्षा इन्हीं भक्त धन्नाराम के आज्ञानुसार हु थी। स्वामी जी की सफलता और वेदान्त का साक्षा भक्त धन्नारामजी का सत्संग तथा परिश्रम का फल जिस समय स्वामीजी लाहौर में एम० ए० में पढ़ रहे थे उनके गुरु श्री भक्त धन्नारामजी ने छुट्टियों में आने के लिये एक पत्र लिखा। यह पत्र स्व तीर्थराम जी ने अपने गुरु भक्त धन्नाराम को १९ वर्ष की अवस्था में लिखा था इस पत्र से आप गुरु श्रद्धा, आज्ञा, प्रेम इत्यादि का अपूर्व परिचय मिलता यह पत्र उर्दू भाषा में है और ज्यों का त्यों दे दि गया है। (संपा

शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ

शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, अजर-अमर अज अविनाशी।
ब्रह्म ज्ञान से मोक्ष हो जावे, कट जावे यम की फाँसी ॥टेक॥

अनादि ब्रह्म अद्वैत-द्वैत का जहाँ नामो निशान नहीं।
अखंड सदा [illegible] कोई अति-सत्य अवसान नहीं॥
निर्गुण निर्विकल्प निष्काम [illegible] कोई ज्ञान नहीं।
निर्विकार निर्वैर [illegible] भान नहीं॥
ऐसा ब्रह्म हूँ [illegible] संन्यासी।
शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ अजर-अमर अज अविनाशी

सर्वदेशी हूँ, ब्रह्म हमारा एक जगह स्थान नहीं
रमा हूँ सब में, मुझसे कोई भिन्न वस्तु स्थान नहीं
[illegible] बिना ब्रह्म के हुआ कभी कुछ अन्न नहीं
कभी न छूटे [illegible] दुःख से जिसे ब्रह्म का ज्ञान नहीं
ब्रह्म-ज्ञान हो जिसे उसे नहीं [illegible]
शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ अजर-अमर अज अविनाशी

[illegible]

भारती

(कुमारी [illegible])

[illegible]! यह संसार क्या है ? आज मैंने अपनी [illegible] के मुख से सुना था, कि यह केवल एक [illegible] ही है, किन्तु अभी भी मैं न समझ सकी। [illegible] जननी ! तू ही बतला दे।"

"भारती ! तू अभी से दर्शनवाद में क्यों संल- [illegible] हो रही है। अभी तेरी आयु इन योग्य नहीं [illegible] तू केवल सात ही वर्ष की तो है। यह तेरे खेलने [illegible] के दिन हैं।"

सहसा किसी ने पुकारा—"भक्त-भारती ! [illegible] भक्त सुखदायिनी !!" किन्तु सब व्यर्थ था, [illegible] दर्शनवाद का रहस्य देख रही थी।

[illegible] ! मेरी हृदय-शक्ति !! सावधान हो, देख [illegible] सखी-सरसी द्वार पर हैं। माता ने कर पल्लवों से [illegible] कमल को छुआ, भारती की तन्द्रा टूटी, वह [illegible] कर द्वार पर आई। सम्मुख देखा सरसी तथा [illegible] कुमुदिनी, दोनों हँस पड़े, "पगली ! तू कहाँ थी, [illegible] कब से खड़े हैं।" मैं—"माता के पास थी मुझे [illegible] ना करना, अच्छा चलो उद्यान में कन्दुक क्रीड़ा का [illegible] आनन्द लें।"

तीनों चल पड़े, सरोवर के समीप आकर भारती [illegible] के तले बैठ गई, सरसी, कुमुदिनी भी आसीन [illegible], वार्तालाप आरम्भ हुआ। कुमुद तुझे याद है, [illegible] अध्यापिका ने संसार को धोखे की टट्टी कहा [illegible], इससे क्या [illegible] निकलता है [illegible]

[illegible]

[illegible]

सकेगा, हम तो सरलता के उपासक हैं, सरल बात शीघ्र जान लेते हैं, गूढ़ तत्त्व हम मूढ़ क्या जाने।"

"भाई प्यारे ! जग उजियारे !! तू तो बड़ा वाक्-पटु है। तूने कुमुद को भी हरा दिया। तेरा भविष्य बड़ा चमत्कारी होगा। हे दीन बन्धु ! बालक का कल्याण करो।"

पुनः भारती विचार तरङ्गिणी में डूबने उतराने लगी। उसका मुखचन्द्र मलिन सा प्रतीत होता था, उसके नेत्र कमलों में उदासीनता की झलक दिखायी देती थी, वह मौन थी।

भक्त शिरोमणि भारती को इस प्रकार मौन देख कर शमित तमारि का रथ रुक गया, मूक सृष्टि में हल-चल मच गई, इन्द्रका सिंहासन डोलने लगा। बड़े वेग से वायु का प्रवेश हुआ, जिसके दर्पको सहस्रांशु सहन न कर सका, और दोनों में मल्लयुद्ध हुआ, वृद्ध दिनेश को उसका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा, और अन्धकार ने विजय-स्वरूप अपनी ध्वजा फहराई।

भारती इन सबसे परे दूर देश में विचरण कर रही थी, कभी उसके मुखपर स्मिति की रेखा खिंच जाती, और कभी वह उदासीनता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती। इस समय उसे किसी की चिन्ता न थी, प्राणप्यारी माता, सुखदमोह, परम प्रिय सखी, सरसा, कुमुदिनी उसके लिए सब निरर्थक थे। आज उसके सामने एक समस्या थी। जिसे सरल करना मात्र ही उसके जीवन का लक्ष्य था।

[illegible] मलिन कुमुदिनी टकी सी सब दृश्य देख [illegible] उसके हाथों के तोते उड़ गये थे। अब वह [illegible] को क्या उत्तर देगी यही सोच सोच [illegible] उसके हृदय में प्रचण्ड ज्वाला उठी, अश्रु-बिन्दु [illegible] उसके नयन [illegible] थे, किन्तु ही वह [illegible]

करने का प्रयत्न करती, उतने ही वेग से धुँआ बाहर आता। असह्य वेदना ने आ घेरा, अब तो अन्धकार के अतिरिक्त कुछ न सूझता था।

सहसा अन्तर ध्वनि सुन पड़ी कृपानिधि की पुकार; फिर क्या था नई शक्ति ! नया जीवन !! विचार—"क्या प्रेमनिधि तक मेरी कराही कसक ध्वनि पहुँच जायगी ?" उत्तर मिला "अवश्य।" फिर क्या प्रेम की निराली नापक बनकर, प्रेम-माला के सहारे, प्रेमके अज्ञात मन्दिर तक पहुँची। सब इच्छाएँ पूर्ण हुई। भारती को भी चेत फिरा, चिर निद्रा से उठे हुए प्राणी की भाँति अवरुद्ध कण्ठ से पुकारा—"कुमुद ! शशी कहाँ है ? हाय ! मुझे निर्बल जानकर सबने त्याग दिया। अच्छा इसमें भी कल्याण ही है।"

कुमुदिनी ने कहा—"भारति ! उन्माद को त्यागो, चित्त को सावधान करो, तुम सरीखी को कौन त्याग सकता है, माता का भी कुछ भय है कि सबकी अवहेलना ही तुम्हारा ध्येय है। इतना विलम्ब हो चुका है, घरकी राह लो।"

उत्तर मिला—"कुमुद ! मैं अनजान राही राह से उस ओर ही जा रही थी, आज मैंने प्रिय-मिलन की साध का दो व्रत लिया था, पर हाय ! सुसमय में ठगी गई। अब कोई दूसरा मार्ग नहीं सूझता, निरावलम्ब हो गई।"

कुमुदिनी निर्निमेष नयनों से भारती की ओर ताक रही थी, बीच-बीच में प्रकृति-दूतों का समाचार सुनती, बड़े समारोह से रजनीमाता का आगमन हो रहा था, सर्वत्र सन्नाटा छा रहा था, विहंगम वृन्दों ने बसेरा ले लिया था, मूक दृष्टि सकेतों द्वारा घर की राह दिखा रही थी किन्तु इतनी शक्ति न थी कि भारती को घर लाती। जब राकेश ने भी उनका उपहास करना आरम्भ किया, तब तो उससे न रहा गया, उसने भारती को आग्रहपूर्वक उद्यान से चलने पर उद्यत किया।

तीनों चल पड़े। भारती अनमनी सी हो रही थी, उसमे कुमुदिनी ने पूँछाः—"वीरे ! खिन्न क्यों हो ?" उत्तर मिलाः—"अभागिनी हूँ ! पापचारिणी हूँ !! तू ही बतला क्या है, घोंघे की टट्टी।"

कुमुदिनी तथा शशी खिलखिला कर हँस पड़े। शशी ने कहा—"दीदी कल तत्त्ववेत्ता के पास चल कर घोंघे की टट्टी को जान लेंगे। ठीक है न।"

यह बात भारती के मन भाई, और उसने मुक्तकण्ठ से शशी की प्रशंसा की। कुमुदिनी से न रहा गया उसने कहा—"भारती ! प्रेमकी प्यासी !! तू यह तो प्रथम जान ले कि बिना आज्ञा पत्ता तक नहीं खटकता, तब बिना अवसर आए तेरी व्यथा कैसे दूर हो सकती है। अरी उन्मादिनी ! सावधान हो !! सावधान !!! बाह्याडम्बर को त्यागो। बड़ी देर हो गई है, माता शोकातुर हो रही होंगी। सत्वरगति से घर की ओर पदार्पण करो।"

द्वार पर पहुँची, माता को सम्मुख देखा, वह व्याकुल थी और द्वार पर खड़ी नेत्र-ज्योति भारती की राह देख रही थी, उसे आती देख कर धेनु के समान लपक कर भारती को अङ्क में भर लिया, तथा उसके मुखपङ्कज को भ्रमर के समान चूमने लगी।

रात्रि का पहला पहर व्यतीत हो चुका था। आग्रहपूर्वक भारती, कुमुदिनी, तथा शशी ने भोजन किया, और निद्रादेवी की शरण ली। परन्तु भारती को चैन कहाँ, उसने कठिनता से यामिनी का अन्त किया। अभी पूर्ण रूप से सूर्योदय नहीं हुआ है, किन्तु भारती शय्या त्याग चुकी है। उसकी व्यथा वेदना बढ़ती ही जाती है, वह विरहिणी की भाँति प्रिय के विरह में मग्न है। आवेग में आकर पिता को शोक दे दे कर उठा दिया, पुनः प्रश्न किया "पिताजी ! घोंघे की टट्टी किसे कहते हैं ?"

उसके ऐसे व्यवहार को देखकर पिता चकित हो गए। नेत्र फाड़ फाड़ कर उसकी ओर निहारने

उन्होंने, जनक की आज्ञा से तीनों दार्शनिकजी के दर्शनों को गए, वही प्रश्न पूछा गया। उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से भारती का समाधान किया। आगन्तुकों को आश्चर्य ने आ घेरा। वे मुक्तकण्ठ से भारती की प्रशंसा करने लगे। धीरे धीरे [illegible] भी एक बड़ी दार्शनिक बनी। सब से [illegible] व्यवहार करती, दीन-हीन की सेवा करती। [illegible] प्रकार वह अपनी जीवन-तरणी खेने लगी।

गीत

(रचयिता—श्री श्याम नारायण पाण्डेय)

मेरे शहीद तुम चिरंजीव।
केसरिया तन पर पट तान, चल पड़े युद्ध में नौजवान।
होली जल उठी, जली सतियाँ, अब भी कण-कण में विद्यमान॥
जौहर व्रत वाले चिरंजीव।
हे रण-मतवाले चिरंजीव।
वह करामात थी धीरों में, मेवाड़—देश—रणधीरों में।
अड़ गए हिमालय के समान, बंध सकी न माँ जंजीरों में॥
मेरे प्रताप तुम चिरंजीव।
मेरे शहीद तुम चिरंजीव।
बढ़ चले निडर हथियारों में, बढ़ चले निठुर तलवारों में।
पीछे न एक डग फिरे कभी, गुन गाए वीर दीवारों में॥
हे वीर हकीकत चिरंजीव।
मेरे शहीद तुम चिरंजीव।
सह भूख प्यास की ज्वालाएँ, पहनी कड़ियों की मालाएँ।
कारा के बंधन से निकाल, ले गई तुम्हें सुर-बालाएँ॥
युग युग यतीन्द्र तुम चिरंजीव।
मेरे शहीद तुम चिरंजीव।
हँस लिये शीश तलवारों पर वे कूद पड़े अंगारों पर।
[illegible]

Their voices rang like marriage-bells once more upon my ear,
Their eyes were gazing there with mine on that red Sun

फिर आर्यों अतीत की स्मृतियों हृदय पटल पर घेर।
जीवित खड़ा पड़ा था मेरे निकट अपार शवों का ढेर॥
दौड़ पड़ी उनके कपोल पर जीवन-लाली मधु से सिक्त।
एक ओर उनके विदीर्ण हो कफ़न प्रशान्त पड़े थे रिक्त॥
तुलना किया विवाहोत्सव के बाजों की ध्वनि से अम्लान।
सुना मधुर उनके स्वर को फिर एकबार कानों ने मान॥
देख रहा टकटकी लगाये मैं था रक्तिम रवि की ओर।
वे भी मेरे साथ साथ थे देख रहे छवि प्रेम-विभोर॥

Many days have passed since then, many chequered years,
I have wandered far and wide, still I fear I am not well,
For often as the Sun goes down, my eyes fill up with tears,
And then that vision comes, and I see my Florimel

तब से दुख के और हर्ष के हुए सहस्रों वर्ष व्यतीत।
रहा घूमता इधर उधर मैं सुनने वही स्वर्ग-संगीत॥
फिर भी शांति नहीं मिलती मैं प्रतिपल विपुल विकल हूँ घोर।
'क्या मैं अब सकुशल हूँ ?' अब भी बना रहा सन्देह कठोर॥
जब जब रवि है चलने लगता अधः पतन के पथ पर दीन।
उसे देख हुत जाते जलभर हैं मेरे ये लोचन मीन॥
उसी दृश्य का होता जब जब नयनों में नर्तन-उत्कर्ष।
मुझे दिखाई पड़ने लगता, 'मेरा प्यारा भारतवर्ष'॥

अनुवादक—श्री कृष्ण सहाय सिनहा

ऐ डूबते हुए सूर्य ! तू भारत-भूमि पर निकलने जा रहा है। क्या न कृपा करके राम का यह संदेश उस तेजोमयी प्रतापी माता की सेवा में ले जायगा ? क्या ही अच्छा हो यदि [illegible] आम भारत के खेतों में पहुँचकर [illegible] जैसे एक शैव शिव की पूजा करता है, [illegible] विष्णु की, बौद्ध बुद्ध की, ईसाई ईसा की और मुसलमान मोहम्मद की, वैसे ही मैं प्रेमाग्नि में निमग्न चित्त से भारत को शैव, वैष्णव, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, संन्यासी, अछूत, इत्यादि भारत-सन्तान के प्रत्येक बच्चे के रूप में देखता और पूजता हूँ। ऐ भारत-माता ! मैं तेरे प्रत्येक रूप में तेरी उपासना करता हूँ। तू ही मेरी गंगी है, तू ही मेरी कालीदेवी है, तू ही मेरी इष्टदेवी है और तू ही शालग्राम है। भगवान् कृष्णचन्द्र, जिनको भारत की मिट्टी खाने की रुचि थी, उपासना की चर्चा करते हुए कहते हैं कि जिनका मन अव्यक्त की ओर लगा हुआ है, उनके लिये बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं, क्योंकि अव्यक्त का रास्ता प्रत्येक के लिये अत्यन्त कठिन है।

ऐ मेरे प्यारे कृष्ण ! मुझे तो अब उस देवता की उपासना करने दे जिसकी समस्त पूँजी एक बूढ़ा बैल, एक टूटी हुई पलँगड़ी, एक पुराना चिमटा, थोड़ी-सी राख, नाग और एक खाली खोपड़ी है। क्या यह महिम्न-स्तोत्र के महादेव हैं ? नहीं, नहीं। ये तो साक्षात् नारायण-स्वरूप भूखे भारतवासी हैं। यही मेरा धर्म है, और भारत के प्रत्येक मनुष्य का यही धर्म, यही साधारण मार्ग, यही व्यावहारिक वेदान्त और यही भगवान् की भक्ति होना चाहिए। केवल कोरी शाबाशी देने या थोड़ी-सी सहिष्णुता दिखाने से काम नहीं चलेगा। भारत-माता के प्रत्येक पुत्र से मैं ऐसा क्रियात्मक सहयोग चाहता हूँ जिससे वह दिन-प्रतिदिन बढ़नेवाले राष्ट्रीय जीवन का चारों ओर संचार कर सके। संसार में कोई भी बच्चा शिशुपन के बिना युवावस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। इसी तरह कोई भी मनुष्य उस समय तक विराट् भगवान से अभेद होने के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता, जब तक कि समस्त राष्ट्र के साथ अभेद-भाव उसकी नस नस में पूरा जोश न मार ले। भारत-माता के प्रत्येक पुत्र को समस्त देश की सेवा के लिये इस दृष्टि से तैयार रहना चाहिए कि 'समस्त भारत मेरा ही शरीर है। भारतवर्ष का प्रत्येक नगर, नदी,

[illegible] और भ्रमी देवता माना और पूजा जाता है। क्या अभी वह समय नहीं आया जब हम अपनी मातृभूमि को देवी मानें और उसका प्रत्येक परमाणु [illegible] में सम्पूर्ण देश के प्रति देश-भक्ति उत्पन्न करे? जब प्राण-प्रतिष्ठा करके हिन्दू लोग दुर्गा की प्रतिमा को साक्षात् शक्ति मान लेते हैं, तो क्या ठीक नहीं कि हम अपनी मातृभूमि की महिमा प्रतिष्ठित करें और भारत-रूपी लक्ष्मी दुर्गा में जीवन और प्राण की प्रतिष्ठा करें? आओ, पहले हम अपने दिलों को एक करें, फिर हमारे दिल और हाथ अपने आप मिल जायेंगे।

संसार के महापुरुष योगिराज श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं कि मनुष्य अपने श्रद्धा और विश्वास का बना हुआ पुतला है। जैसा जिसका विश्वास होता है, वैसा ही वह हो जाता है।

ऐ प्यारे धर्मनिष्ठ भारतवासियो! श्लोकों को ठीक ठीक बर्ताव में लाओ। देश का आदर्श तुमसे यह कह रहा है कि जाति-पाँति की कड़ी जंजीरों को तोड़ फोड़ करके इन सब भेदभावों को राष्ट्रीय भावना के अधीन कर दो। क्या तुम नहीं देखते कि जिस भारत ने सारे संसार के भगोड़ों को अपने यहाँ शरण दी, और संसार की विभिन्न जातियों का पेट पाला, वही भारत आज अपने प्यारे पुत्रों को सूखी रोटी देने में असमर्थ हो रहा है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी उचित स्थिति प्राप्त करने के लिये पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए हमारे दिल चाहे जितने बड़े हों, किन्तु [illegible]

की भौतिक अवनति, भारत का धर्म एवं परमार्थ-निष्ठा का दोष नहीं है; वरन् भारत की विकसित और हरी-भरी फुलवारियाँ इसलिये लुट गईं कि उनके आस-पास काँटों और झाड़ियों की बाड़ नहीं थी। काँटों और झाड़ियों की बाड़ अपने खेतों के चारों ओर लगा दो, किन्तु उन्नति और सुधार के बहाने सुन्दर गुलाब के पौधों और फलवाले वृक्षों को न काट डालो। प्यारे काँटो और झाड़ियो! तुम मुबारक हो, तुम्हीं इन हरे-भरे लहलहाते हुए खेतों के रक्षक हो, तुम्हारी इस समय भारतवर्ष में बहुत ज़रूरत है।

जब राम शूद्रों के परिश्रम का गुण-गान करता है, तो इससे यह प्रयोजन नहीं कि राम तमोगुण को रजोगुण और सतोगुण से अच्छा समझता है, वरन् असली तात्पर्य यह है कि भारत में चिरकाल से हम तमोगुण से घृणा करते आये हैं और घृणा की क्रिया से ही तमोगुण हम में बेहद बढ़ गया है। अब हमको चाहिए कि तमोगुण का उपयोग करना सीखें और उसको लाभदायक बनावें।

भला बाग-बगीचे क्योंकर लग सकते हैं, यदि हम कूड़ा-करकट और घास बाहर फेंक दें और उसका सदुपयोग न करें।

तमोगुण-रूपी कोयले के बिना रजोगुण-रूपी अग्नि एवं सतोगुण-रूपी प्रकाश नहीं हो सकता। जिस देश में कोई आन्दोलन उत्पन्न करना हो, तो उसमें तमोगुण-रूपी कोयला जितना अधिक होगा, उतनी ही गरमी अग्नि और सात्विकी प्रकाश [illegible] यह स्थान वर्तमान आत्मिक-विद्या [illegible] के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल [illegible] के लिये [illegible] का विकास [illegible] सतोगुण का [illegible] यही

कारण है कि हिन्दू देवाधिदेव महादेवजी को तमोगुण का मालिक या शासक मानते हैं।

यदि हम भारतवर्ष के इस विपत्ति-ग्रस्त समय में उत्पन्न हुए हैं, तो हमें ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए, क्योंकि हमको अपने स्वदेश-भाइयों की सेवा करने का खूब अवसर मिला है। हमें जो काम मिला है, वह बहुत ही निराला, सुरीला और प्रगतिशील (Dynamic) है। यह कहावत प्रसिद्ध है जो खूब सोता है, वह खूब जागता है। भारतवर्ष खूब सोया, इसलिये इसकी जागृति भी खूब होगी। अब हमको भारत के पुत्रों में गुण-ग्रहण करने का स्वभाव, भ्रातृ-भाव, सहयोग की प्रवृत्ति, यथायोग्य कार्य-विभाग और परिश्रम की श्रेष्ठता उत्पन्न करनी चाहिए; केवल छिद्रान्वेषण से काम चलाना दुस्तर होगा।

ओह ! इस देश की कितनी शक्ति भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के परस्पर गाली-गलौज देने में नष्ट हो रही है। हमें उन सिद्धान्तों का पता लगाना चाहिए जिनमें हम सब सहमत हैं, और उन्हीं पर जोर देना चाहिए। कुछ मनुष्यों पर आर्य-समाज का ही प्रभाव हो सकता है, सनातन-धर्म का नहीं, कई ऐसे हैं जिन्हें ब्रह्म-समाज ही अच्छा मालूम होता है; किसी को वैष्णव-धर्म ही प्यारा है। हमें क्या अधिकार है कि हम उन मनुष्यों को बुरा-भला कहें, जो उस आनन्द और शक्ति की परवाह नहीं करते जो हमारा धर्म हमें दे रहा है। जो हमारे साथ आना चाहते हैं, वे आवें, जो ठहरना चाहें, वे ठहरें और जो न ठहरना चाहें, वे न ठहरें। संसार कुछ कहे, हमें काम से काम। हमें या तुम्हें क्या अधिकार है कि हरएक को अपने सम्प्रदाय में ही सम्मिलित कर लें। मेरा अधिकार तो प्रत्येक की सेवा करना है अर्थात् उनकी भी सेवा जो मुझसे प्रेम करते हैं और उनकी भी जो मुझसे द्वेष करते हैं [illegible] [illegible] बच्चों को अधिक प्यार करती है जो आरक्त दुर्बल और रुग्ण होते हैं। क्या वे सब लोग जो तुमसे सहमत नहीं हैं, भ्रांति में पड़े हुए हैं ? ऐसा हो भी, तो उनकी भी देश के लिये अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसे चले वाले मनुष्य की क्या दशा होगी, जो केवल एक टाँग के बल से फुदकता फिरता है। सच्ची शिक्षा यह है कि प्रत्येक वस्तु को ईश्वरीय दृष्टि से देखा जाय।

हमारे प्रभु अवगुण चित न धरो।
समदर्शी प्रभु नाम तिहारो सोई पार करो;
हमारे प्रभु अवगुण चित न धरो।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरो;
जब दोनों मिलि एक बरन भई, गंगा नाम परो।
हमारे प्रभु अवगुण चित न धरो।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो;
सो दुविधा पारस नहिं राखत, कंचन करत खरो।
हमारे प्रभु अवगुण चित न धरो।
समदर्शी प्रभु नाम तिहारो, सोई पार करो;
हमारे प्रभु अवगुण चित न धरो।

O Lord, look not upon my evil qualities!
Thy name, O Lord, is Same-Sightedness;
By thy touch, if Thou wilt,
Thou cans't make me pure,
One drop of water is in the sacred Jamuna
Another is foul in the ditch by the road'side;
But when they fall into the Ganges,
Both alike become holy
One piece of iron is the Image in the temple
Another is the knife in the hand of the butcher
But when they touch the philosopher's stone,
Both alike turn to gold.
So, Lord, look not upon my evil qualities!
Thy name, O Lord, is Same-Sightedness,
By thy touch, if Thou wilt,
Thou cans't make me pure'

हमें अपने व्यक्तिगत और घरेलू धर्म को राष्ट्रीय धर्म से उच्च पद न देना चाहिए। इनको उपयुक्त स्थान पर रखने से परम सुख प्राप्त होता है।

देश और राष्ट्र की उन्नति के लिये काम करना ही आधिदैविक शक्तियों या देवताओं की पूजा करना है। आज भारतमाता के निमित्त इस प्रकार के यज्ञ

...आत्मा को मरने के बाद दूसरा जन्म धारण करना होता है। किन्तु ऐसे उज्ज्वल सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे मृत्यु से बेतरह घबराते हैं। यह श्रद्धा ...क अज्ञानजनित और मौखिक है। यदि हम ...न्त से लाभ उठाना चाहते हैं तो हमें उसके सिद्धान्तों को अपने व्यवहार में लाना होगा।

आजकल देश में अहिंसा की बड़ी चर्चा है। इसकी अमोघ और अलौकिक शक्तियों का बड़े जोरों से प्रचार किया जा रहा है। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि यदि कोई अत्याचारी बलपूर्वक हमारी ...त्ति का अपहरण करता है तो हमें बल–पशुबल के द्वारा उसके प्रतिकार की आवश्यकता नहीं। हम केवल अहिंसा को धारण कर उसका हृदय-परिवर्तन कर सकते हैं। प्रश्न यह है कि वेदान्त को कहां तक इस प्रकार की अहिंसा मान्य है। इसमें सन्देह नहीं कि आज कल संसार में पशुबल अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक मनुष्य ...धन-बल, पशु–बल और शक्ति का उपासक है। यदि इसकी कोई रोक थाम न हुई, यदि बल की ...लसा इसी प्रकार बेतरह बढ़ती गयी तो उसका अवश्यम्भावी परिणाम होगा संसार का सर्वनाश। यह माना हुआ सिद्धान्त है कि पशुबल के प्रयोग से पशुबल और उसकी बढ़ती हुई लिप्सा का उच्छेदन नहीं कर सकते। उसके लिए हमें पशुबल से ...र उच्चतर बल की आवश्यकता है और वह ...

उसी में आसकता है जिसने वेदान्त का सा... किया है, जिसने संसार के सारे क्रिया-कला... भीतर अपने प्रभु के दर्शन किये हैं। जो सर्व... ही आत्मा, अपनी आत्मा देखता है वही तो, ... वही तो पापी से प्रेम और पाप से घृणा कर स... है। जिसके हृदय में अभी इस ज्ञान का उदय नहीं हु... है वह पाप से घृणा करता हुआ उसके कर्त्ता पापी ... कैसे प्रेम कर सकता है! इसके विपरीत जिसने सब... प्रभु के दर्शन किये हैं उसके लिए बल, पशुबल-प्रयो... का प्रश्न ही कहाँ उठता है। वह तो पशुबल का प्रयोग कर ही नहीं सकता। संसार का सारा पशुबल ऐसे व्यक्ति के सामने सिर झुकाता है और सदा झुकायेगा। अतएव वेदान्त हिंसा और अहिंसा के विषय में सभी मनुष्यों को एक समान उपदेश नहीं दे सकता। वेदान्त साधना का पथ है। प्रत्येक साधक को वेदान्त उसके अधिकार अनुसार ही उपदेश देता है और यह भी बताता है कि उसका आगामी और अन्तिम लक्ष्य क्या है। अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्ध में ही मोह उत्पन्न हुआ। उसके पहले उसने अनेकों बार युद्ध किया था किन्तु पहले कभी उसके हृदय में ऐसी मोह-ममता उत्पन्न नहीं हुई थी। क्यों? क्योंकि यहां उसे युद्ध करने वाले अपने भाई–बन्धु ही दिखाई देते थे। वह कुरुक्षेत्र में युद्ध के ही लिए आया था, युद्ध से, पशुबल प्रयोग से उसे कोई घृणा न थी। उसके हृदय में उस समय जो दया और करुणा का उद्रेक हुआ था वह केवल उसने आत्मीय या कुटुम्बी जनों को देखकर। ...

। जिससे हम एक ब्रह्म, एक आत्मा की ओर बढ़े, वह हमारी धर्म, पुण्य और उन्नति है, इसके विपरीत अधर्म, पाप और अवनति। बस, यदि हम अन्यायारी के विरुद्ध बल-प्रयोग का केवल इसलिए निषेध करते हैं कि हिंसा-विशुद्ध रूपेण कोई बुरी वस्तु है तब हम भूल करते हैं। बल-प्रयोग या प्रेम-प्रयोग तो अधिकारानुसार ही उपयुक्त या अनुपयुक्त हो सकता है। इसके साथ ही यदि यह जानकर कि बल-प्रयोग हमारे लिए शक्य नहीं है, हम केवल अहिंसा की नकल या अहिंसा का स्वांग करते हैं तब तो वह शुद्ध कायरता है और हमें नीचे गिराने वाली है–इसमें संदेह नहीं। हम अपने प्रबल प्रतिपक्षी के विरुद्ध बल-प्रयोग की सामर्थ्य न होने पर अपने संगठन अथवा असहयोग के आग्रह से कुछ लाभ भले ही उठालें किन्तु हृदय में अहिंसा न होने पर, केवल बाह्य अहिंसा के अनुशीलन से, दूसरे शब्दों में उसे नीतिरूप में मानने से उसका मूल्य जाता रहता है। संक्षेप में वेदान्त के अनुसार हिंसा पशु धर्म है और अहिंसा मानव-धर्म।

अपने लिये

ऐ मेरे अपने मन, आज तुझसे कुछ बातें करना चाहता हूं। ये केवल तेरे और मेरे लिए हैं, तू ध्यान दे कर इन्हें सुनना। सच पूछो तो मैंने जितना तेरा कहना माना है, यदि उसका एक अंश, अंशमात्र भी बात भी तू मेरी बात मान ले तो हम दोनों का कल्याण हो। किन्तु अब मुझे अपने कल्याण के लिए उतनी उत्सुकता नहीं। मैं उस ओर से निश्चिन्त सा हो चुका हूँ। समझा-मेरा मतलब जितना ही जितना मैं तेरे चंगुल से निकला जाता हूं, उतना ही उतना मेरा कल्याण मेरा उद्धार स्वयं सिद्ध होता जाता है। सोचो तो मैंने तेरे साथ कितने ... शील हो उठता हूं। ओहो, तेरी तृप्ति के लिए मैंने कितने कष्ट सहे, क्या उनकी नाप-तौल हो सकती है। नहीं और कभी नहीं। किन्तु सदा की भाँति तू फिर कह उठेगा–इसमें मेरे ऊपर क्या अहसान, तुम मेरे उपकार के लिए नहीं, वरन स्वयं अपने स्वार्थ के लिए मेरी गुलामी करते रहे हो। तुम्हें सुख की इच्छा है, आनन्द की भूख है, इसलिए तुम मीठी वस्तुओं के लिए तड़पते हो, सुन्दर वस्तुओं के लिए तरसते हो।

बस, अब तेरे इस तर्क का जादू मेरे ऊपर नहीं चल सकता। मैंने अपने स्वरूप को पहचाना है। जानता है—मैं कौन हूं? मैं वह हूँ जिसे कोई छू नहीं सकता। मैं सुख से परे हूं, दुःख से परे हूं, परे का अर्थ—जिसे तू सुख कहता है, जिसे तू दुःख कहता है, वे मेरा कुछ बना बिगाड़ नहीं सकते। आकाश चाहे बादलों से भरा हो, चाहे निर्मल उसमें सूर्य को क्या? वह तो सदा एकरस, प्रकाशवान रहता है। मैं सूर्य हूं, सूर्य का सूर्य हूं। इसी लिए, ऐ मेरे प्यारे मन, अपनी छाया होने के नाते मैं तुझे समझाता हूं कि यह व्यर्थ की दौड़-धूप बन्द कर। तू जितना ही अधिक दौड़ेगा, तेरी प्यारी वस्तु तुझसे उतनी ही अधिक दूर हो जायगी। अच्छा, जरा शान्ति से सोच तो सही, आनंद है कहाँ? तेरी समझ में सुख उन वस्तुओं में रहता है जो इन्द्रियों को प्यारी लगती हैं। किन्तु तेरा यह विचार कई प्रकार से भ्रममूलक है। पहली तरह से, मिठाई तभी तक मीठी लगती है, जब तक थोड़ी-बहुत भूख हो, पेट के छक जाने पर मिठाइयों का स्वाद कहां चला जाता है? स्वाद की तृप्ति तेरे में न हो कर मिठाई में होती तो मिठाई कभी बेस्वाद

हो सकती है। तीसरी तरह से अग्नि में घृत की आहुति देने से ज्वाला अधिकाधिक भड़कती है, विषयभोग से विषय-प्रवृत्ति भी तीव्र से तीव्रतर होती है। यह मेरे-तेरे तर्क की बात नहीं, मैंने स्वयं इसे देखा है और आज भी देख सकता हूँ। चौथी तरह से—विषय-भोग के साधन हैं इन्द्रियां। किन्तु विषय भोग से ज्यों-ज्यों भोगेच्छा बढ़ती है त्यों-त्यों इन्द्रियां शिथिल होती हैं। परिणाम होता है भयंकर परिताप। इन्हीं और ऐसी बातों को सोच कर, ऐ मेरे अपने मन, मैं तुझे नेक सलाह देना चाहता हूं। किन्तु यह क्या, देखता हूं तू उल्टा मुझसे क्रुद्ध हुआ जा रहा है। यदि तुझे कुछ शंकायें हैं तो मैं सहर्ष सुनने के लिए तैयार हूं।

मन—सच तो यह है कि मैं तुम जैसों से बात भी नहीं करना चाहता। तुम अपने को मनुष्य समझते हो, तुम्हें पुरुषत्व का दावा है किन्तु मुझसे पूछो तो तुम हो निरे नपुंसक। मैं तुम्हारा चिर-साथी हूं, इसी लिए निर्भय होकर तुम्हारी पोलें खोल सकता हूं। वास्तव में तुम शक्ति-हीन हो, इसी लिए वैराग्य की बातें बघारते हो। मैं तो बात की एक बात कहता हूं—वीर-भोग्या वसुन्धरा। तुमने आज तक जितने भोगों को प्राप्त किया है अथवा तुमने जैसे भोगों की कल्पना की है, उससे सौ गुने, नहीं, नहीं, हजारों गुने श्रेष्ठ भोगों को लोग इसी पृथ्वी पर स्वच्छंदतापूर्वक भोग रहे हैं। मैं सच कहता हूं—उन्हें कभी स्वप्न में भी भोगों से विरत होने का अवसर प्राप्त नहीं होता। और यदि मैं यह भी मान लूं कि जीवन के अन्तिम भाग में वे भी शक्ति-हीन हो जाते हैं तो इससे क्या, जब तक मनुष्य के हृदय में आनन्द की इच्छा है तब तक वे विषयों की ओर दौड़ेंगे, और फिर दौड़ेंगे। इससे इतर तुम जिस आनंद की बात कहते हो वह केवल शून्यवाद है। अतः यदि सचमुच तुम पुरुष हो तो चुपचाप मेरा कहना मान कर स्वर्ग-सुख का आस्वादन करो।

बेशक, बेशक, मुझमें पुंसत्व नहीं, मैं पुरुष नहीं हूं। ऐ प्यारे मन, अब तेरा यह मन्त्र मुझपर नहीं चल सकता। जब मुझे यथार्थ ज्ञान नहीं था, तब मैं तेरे बिना कहे ही तेरा कहना मानता था। निस्संदेह मैं आनन्द का भूखा था और हूं। परन्तु जहां तू आनन्द बतलाता है, वहां आनन्द है कहां। वहां तो केवल मृग-तृष्णा है। विषय की प्राप्ति होने पर जो सुख मिलता है वह वास्तव में विषय में नहीं होता, वरन् तेरी स्थिरता में तेरे स्थिर होने के कारण होता है। जब तक तू अस्थिर रहता है तब तक निरानन्द की अवस्था रहती है। ज्यों ही तू स्थिर होता है, त्यों ही आनन्द आ प्रकट होता है। इस लिए हे मन, तू अस्थिर होना छोड़ दे। जिस आनन्द की खोज में तू इधर से उधर मारा-मारा फिरता है- वह स्वयं तेरी स्थिरता में है। जब तक तुझे अपने अर्थात् मेरे सहज स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता, तब तक तू अचंचल नहीं हो सकता। तू यह निश्चय जान कि बाहर के सुख को जो मैं अब अन्दर देखने लगा हूं—यह मेरी कायरता नहीं, वरन् यथार्थ ज्ञान का सुपरिणाम है। मैं जानता हूं कि मैं हूं और सदा रहूंगा। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मेरे शाश्वत स्वरूप में बाधा पहुंचा सके। जिसके द्वारा मुझमें अपने इसी शाश्वत स्वरूप का बोध जाग्रत रहता है, वही मेरा ज्ञान है और मेरा आनन्द है। और यही तेरी शान्ति तथा मुक्ति है। हरि ॐ !

भूल सुधार

[illegible] के व्यावहारिक वेदान्त के पृ॰ [illegible] के [illegible] में जो लेखक ने स्वामीराम के "कैसर हिन्द" को जर्मनी [illegible] कैसर का अर्थ समझा है वह ठीक नहीं है [illegible] वह 'जर्मनी' का कैसर था न कि "हिन्द" का। वह राजराजेश्वरी [illegible] का समय था [illegible] कैसरेहिन्द [illegible] यह पदवी उनको सन १८[illegible] ई॰ के दर्बार में जो दिल्ली में हुआ था दी [illegible]। लेखक ने कोहनूर का [illegible] सम्भवतः उर्दू की अनभिज्ञता के कारण उन्होंने ऐसे अर्थ [illegible]। हम इस भूल के लिये [illegible]

—प्रकाश (प्रकाशक)

है। जिसमें हम एक ब्रह्म, एक आत्मा की ओर बढ़ें, वह हमारा धर्म, पुण्य और उन्नति है, इसके विपरीत अधर्म, पाप और अवनति। बस, यदि हम अत्याचारी के विरुद्ध बल-प्रयोग का केवल इसलिए विरोध करते हैं कि हिंसा-विशुद्ध प्रयोग कोई बुरी वस्तु है तब हम भूल करते हैं। बल-प्रयोग या प्रेम-प्रयोग तो अधिकारानुसार ही उपयुक्त या अनुपयुक्त हो सकता है। इसके साथ ही यदि यह जानकर कि बल-प्रयोग हमारे लिए शक्य नहीं है, हम केवल अहिंसा की नकल या अहिंसा का स्वांग करते हैं तब तो वह शुद्ध कायरता है और हमें नीचे गिराने वाली है—इसमें संदेह नहीं। हम अपने प्रबल प्रतिवादी के विरुद्ध बल-प्रयोग की सामर्थ्य न होने पर अपने संगठन अथवा असहयोग के आधार से कुछ लाभ भले ही उठावें किन्तु हृदय में अहिंसा न होने पर, केवल बाह्य अहिंसा के अनुशीलन से हमारे हृदयों में उसे प्रतिष्ठित में करने से उसका मूल्य जाता रहता है। संक्षेप में वेदान्त के अनुसार हिंसा पशु धर्म है और अहिंसा मानव-धर्म।

अपने लिये

हे मेरे अपने मन, आज तुझसे कुछ बातें करना चाहता हूं। ये केवल तेरे और मेरे लिए हैं, न [illegible] है कि इन्हें सुनना। सच पूछो तो मैंने जितना तेरा कहना माना है, यदि उसका एक अंश, [illegible] भी बात भी तू मेरी बात मान ले तो हम दोनों का कल्याण हो। किन्तु अब मुझे अपने कल्याण के लिए इसकी उत्सुकता नहीं। मैं इस ओर से निश्चिन्त हो चुका हूं। सत्य-मेरा मन तब [illegible] हूं जिसमें मैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

शील हो उठता हूं। ओहो, तेरी तृप्ति के लिए मैंने कितने कष्ट सहे, क्या उनकी नाप-तौल हो सकती है। नहीं और कभी नहीं। किन्तु सदा की भांति तू फिर कह उठेगा—इसमें मेरे ऊपर क्या अहसान, तुम मेरे उपकार के लिए नहीं, वरन् स्वयं अपने स्वार्थ के लिए मेरी गुलामी करते रहे हो। तुम्हें सुख की इच्छा है, आनन्द की भूख है, इसीलिए तुम मीठी वस्तुओं के लिए तड़पते हो, सुन्दर वस्तुओं के लिए तरसते हो।

बस, अब तेरे इस तर्क का जादू मेरे ऊपर नहीं चल सकता। मैंने अपने स्वरूप को पहचाना है। जानता है—मैं कौन हूं? मैं वह हूं जिसे कोई छू नहीं सकता। मैं सुख से परे हूं, दुःख से परे। परे का अर्थ—जिसे तू सुख कहता है, जिसे तू दुःख कहता है, वे मेरा कुछ बना बिगाड़ नहीं सकते। आकाश चाहे बादलों से भरा हो, चाहे निर्मल, उससे सूर्य को क्या वह तो सदा एकरस, प्रकाशमान रहता है। मैं सूर्य हूं, सूर्य का सूर्य हूं। इसीलिए, हे मेरे प्यारे मन, अपनी छाया होने के नाते मैं तुझे समझाता हूं कि यह व्यर्थ की दौड़ बन्द कर। तू जितना ही अधिक दौड़ेगा, तेरी प्यारी वस्तु तुझसे उतनी ही अधिक दूर हो जायगी। अरे, जरा शान्ति से सोच तो सही, आनंद है कहां? तेरी समझ में सुख इन वस्तुओं में रहता है जो इन्द्रियों को प्यारी लगती हैं। किन्तु तेरा यह विश्वास बड़े प्रकार से भ्रममूलक है। पहली बात है—मिठाई तभी तक मीठी लगती है, जब तक पेट खाली है। बहुत भूख हो पर पेट के भर जाने पर मिठाइयों [illegible] [illegible] [illegible] की तृप्ति में [illegible] [illegible] मिठाई [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] किन्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

व्यावहारिक वेदान्त के नियम

१—व्यावहारिक वेदान्त अँगरेज़ी महीने के हर पहले हफ्ते में प्रकाशित होकर ग्राहकों की सेवा में भेज दिया जायगा।

२—डाक-व्यय-सहित इसका वार्षिक मूल्य ३) रक्खा गया है। एक संख्या का मूल्य ।=) है। हिन्दुस्तान के बाहर वार्षिक मूल्य ५।) है वर्मा के लिए ४॥)

३—जिनको किसी महीने में "व्यावहारिक वेदान्त" न मिले उन्हें पहले डाकघर से पूछना चाहिए। पता न लगने पर डाकघर के उत्तर के साथ हमारे पास अगले महीने की १५ तारीख तक लिखना चाहिए।

४—पत्र लिखते समय ग्राहक नम्बर जरूर लिखना चाहिए नहीं तो जवाब मिलना मुश्किल होगा।

५—लेख, चित्र समालोचना के लिए पुस्तकें और बदले के पत्र वगैरह सम्पादक "व्यावहारिक वेदान्त" ६४, १०० हीरापुरा, काशी के पते पर आना चाहिए। सालाना चन्दा और दूसरे किस्म के खत मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर "व्यावहारिक वेदान्त" ६४ १०० हीरापुरा, काशी के पते पर भेजना चाहिए।

६—'व्यावहारिक वेदान्त' में, धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय विषयों पर लेख, कविता, कहानियाँ वगैरह छपती हैं। उनकी भाषा सरल होनी चाहिए।

७—किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने का तथा उसे लौटाने या न लौटाने का भी अधिकार सम्पादक को है लेखों को घटाने-बढ़ाने का भी अधिकार सम्पादक को है। जिन लेखों को सम्पादक लौटाना मन्जूर करें उनका डाक और रजिस्ट्री खर्च लेखक के जिम्मे होगा। बिना उसे भेजे लेख न लौटाया जायगा।

८—अधूरे लेख नहीं छापे जाते। स्थान के अनुसार लेख एक या अधिक संख्याओं में प्रकाशित किये जायँगे।

९—जिन लेखों में चित्र रहेंगे, उन चित्रों के मिलने का जब तक लेखक प्रबन्ध न कर देंगे, तब तक वे लेख न छापे जायँगे। यदि चित्रों के प्रबन्ध करने में व्यय आवश्यक होगा तो दिया जायगा।

The Law of Life Eternal.

SWAMI RAM.

The Law is all pervasive, is the higher Self of each and all, and is Rama in this sense. Yet it must kick out and kill out the personal self. It is cruel, but its cruelty is the quintessence of love, because in this very death of the apparent self consists resurrection of real Self and life eternal. He who keeps the false self and claims for it the prerogatives of the King-Self, must, as it were, be devoured by vultures on the height of vanity. The freedom of Vedanta is no impunity from Law for the limited local self, i e personality and body. This is turning G O D into the very reverse. Millions of beings perish every hour through this mistake. Thousands of heads are sinking into pessimism, and hundreds of thousands of hearts are breaking every minute, by the foolish reversal of the order of the Law. The Freedom from Law is secured by becoming the Law, that is the realization of Shivoham. That dupe of the senses, who counts on w[illegible] are called facts, figures, and rests on [illegible] foundation of forms, builds on the foam a[nd] sinks. He builds on the rock, in whose he[art] of heart,

God is Real, the world unreal,
and the Law a living force.

Let this body be freely called policy pla[yer], selfish, vain, proud, or anything else, let it what they call insultsd, kicked, killed, w[hat] is that to me, the Self of all ?

I am truth the inevitable.
I am Law the inexorables:
To know Me is to obey Me,
To obey Me is to prosper
Oppose Me, it will not annoy Me,
Ignore Me, I cannot be anxious
But will calmly destroy him who slights
This is no empty threat. It is too terr[ible] a truth.

Self Reliance

BY SWAMI RAM

The religion that Rama brings to Japan is virtually the same as was brought centuries ago by Buddha's followers, but the same religion requires to be dealt with from an entirely different standpoint [illegible] needs [illegible] blaz[illegible] and [illegible]

"I tell you what's man's supreme Vocatio[n] Before me was no world, 'tis my creatio[n] It was I who raised the Sun from out the se[a] The moon began his changeful course with me [illegible]

ॐ

ब्रह्मलीन श्रीमान् आर० एस० नारायण स्वामी जी महाराज की पुण्य-स्मृति में,

श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग द्वारा प्रकाशित—

व्यावहारिक वेदान्त

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर वेदान्त की

व्यावहारिक दृष्टि से प्रकाश डालने वाला मासिक पत्र

वर्ष १	नवम्बर १९४०	अङ्क ११

प्रकाशक

महात्मा शान्तिप्रकाश

सभापति, श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ

मुद्रक

[illegible] विष्णु पराड़कर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।

[illegible] एक प्रति का मूल्य [illegible]

विषय-सूची ।

रा!" जब सच्चे दिल से यह भावना और यह [illegible] हो, तो क्या दुनिया और दुनिया के क़ानूनों [illegible] आई हैं कि चाकरों की तरह तत्काल [illegible] न करने जावें। भला, राम के काम में भी [illegible] हो सकता है? भगवद्गीता के मध्य में [illegible] श्लोक गीता को आधा इधर और आधा [illegible] गुरुत्व-केन्द्र (centre of gravity) की [illegible] तोल देता है वह है:—

अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

भगवान् का यह तमस्सुक [इक़रारनामा] तब [illegible] नहीं होगा, जब अग्नि की ज्वाला नीचे को [illegible] लगे, और सूर्य पश्चिम से उदय होना आरम्भ कर दे और पूर्व में अस्त।

यार! मनुष्य जन्म पाकर भी हैरान और शोकातुर रहना बड़े शर्म (लज्जा) की बात है। [illegible] चिन्ता में वह डूबे जिनके मा-बाप मर जाते हैं, तुम्हारा राम तो सदा जीता है क्या राम! [illegible] तमाशा तो देखो, छोड़ दो शरीर की चिन्ता को, मत रक्खो किसी की आस, परे फेंको वासना-कामना, एक आत्म-दृष्टि को दृढ़ रक्खो, तुम्हारी ख़ातिर [illegible] सब देवता लोहे के चने भी चबा लेंगे।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे॥

सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति॥ बृह०
सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति॥ तैत०

न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं, नोत दुःखतां।
सर्वं [illegible] पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः इति॥

[illegible]

धर्म की कसौटी।

१

किसी धर्म को इस लिए अंगीकार मत करो कि वह सब से प्राचीन है। इसका सब से प्राचीन होना, इसके सच्चे होने का कोई प्रमाण नहीं है। कभी कभी पुराने से पुराने घरों को गिराना उचित होता है और पुराने वस्त्र अवश्य बदलने पड़ते हैं। यदि कोई नये से नया मत और पथ विवेक की कसौटी पर खरा उतरे, तो वह उस ताज़े गुलाब के फूल के सदृश उत्तम है, जिस पर कि चमकती हुई ओस के कण शोभायमान हो रहे हों।

२

किसी धर्म को इस लिए स्वीकार मत करो कि वह सब से नया है। सब से नयी चीज़ें समय की कसौटी में न परखी जाने के कारण सर्वदा सर्वश्रेष्ठ नहीं होतीं।

३

किसी धर्म को इसलिए मत स्वीकार करो कि उस पर विपुल जन-संख्या का विश्वास है; क्योंकि विपुल जन-संख्या का विश्वास तो वास्तव में शैतान अर्थात् अज्ञान के धर्म पर होता है। एक समय था जब कि विपुल जनसंख्या गुलामी की प्रथा को स्वीकार करती थी, परन्तु यह बात गुलामी की प्रथा के उचित होने का कोई प्रमाण नहीं हो सकती है।

४

किसी धर्म पर इस लिए श्रद्धा मत करो कि उसे थोड़े से चुने हुए लोगों ने माना है। कभी कभी अल्प जन-संख्या किसी धर्म को अंगीकार कर लेती है क्योंकि अज्ञान से उनकी भ्रान्त-बुद्धि होती है।

[illegible]

जीवनमुक्त स्वामी राम

[लेखक—श्रीकालीप्रसाद एम० ए०, एल-एल० बी०]

स्वामी राम अनादि हैं, वे आज भी हमारे बीच में हैं। वे एक आदर्श हैं, ऐसे आदर्श हैं जो उस पार्थिव शरीर से कहीं अधिक सुन्दर है जिसमें वे विराजमान थे। यह सच है, उनका जन्म हुआ था और उनकी मृत्यु हुई है किन्तु उनका प्रभाव अनन्त और शाश्वत है। जो अपने जीवन के सच्चे लक्ष्य को समझना चाहते हैं, जो अपने स्वरूप का साक्षात् करना चाहते हैं, उन लोगों को स्वामी राम के आदर्श से निरन्तर स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती रहेगी। स्वामी राम दार्शनिक नहीं थे और न वे काल्पनिक आदर्शवाद में ही विचरने वाले थे। भगवान बुद्ध के शब्दों के अनुसार उनका विश्वास था कि दर्शन किसी को शुद्ध नहीं कर सकता, शुद्धता, पवित्रता और केवल शान्ति में ही प्रकट हो सकते हैं। सच पूछो तो दार्शनिक कल्पनावाद ऐसा मार्ग है जिसका कोई सुपरिणाम नहीं होता और न जिसके द्वारा वास्तविक जीवन की कठोर समस्यायें ही हल हो सकती हैं—तर्क और बुद्धिवाद के अभ्यास से मनुष्य को अधिक से अधिक जो आत्म-संतोष होता है वह अन्त में भ्रमात्मक ही सिद्ध होता है। दर्शन शास्त्र के अध्ययन के साथ जब तक अनुभवजन्य ज्ञान का संयोग नहीं होता, तब तक उससे कोई अच्छा परिणाम नहीं हो सकता। इसीलिए भारतीय दर्शन शास्त्र इतना अधिक क्रियात्मक और साधनामय है। इसीलिए भारतीय ऋषि-मुनियों ने अनेक प्रकार की साधनाओं का विधान करके सत्य का साक्षात्कार किया है।

श्रीकालीप्रसाद एम० ए०, एल-एल० बी०

२—स्वामी राम स्वाभाविक साधक थे। उनका सारा जीवन आत्मसाक्षात्कार के प्रत्यक्ष अनुभव में समर्पित हुआ है। अधिकांशतः उनके हृदय में इस ओर एक ऐसी अज्ञात प्रेरणा थी जिसकी वे न व्याख्या ही कर सकते थे और न जिसे वे रोक ही सकते थे। बचपन ही से स्वामी जी में बुद्धि और

[illegible] मस्तकी जो असाधारण प्रतिभा थी [illegible] बड़ी तेज़ी से अलौकिक आनन्द की पिपासा में [illegible] गयी और अन्त में उसने उनके सारे हृदय पर अधिकार कर लिया। उनकी यही लगन हमें अलौकिक—पारलौकिक, जीवन में स्पष्ट दिखायी देती है। उनके नेत्र एक अलौकिक ज्योतिर्मय प्रकाश से चमकते रहते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि सदैव [illegible] और अनन्त ब्रह्म पर लगी रहती थी। उनका [illegible] और अधीर था किन्तु यह व्यग्रता और [illegible] अधीरता अपने ही स्वरूप और अपने ही सत्ता के लिए थी। सच तो यह है कि अपने आपको पाने और अपने आपको जानने से बढ़कर और कोई दूसरी खोज हो ही नहीं सकती। क्योंकि जिसने अपने को पा लिया, फिर उसे पाने के लिए बाकी ही क्या रहता है! अपने से इतर, आत्मा से इतर और है ही क्या, जिसे ढूंढ़ा जाय। उपनिषदों को स्वामी राम ने अपना गुरु बनाया और उन्हीं की शिक्षा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के दर्शन की चेष्टा में जिस प्रकार उन्होंने अपने आपको डुबो दिया, वह सचमुच आश्चर्यजनक है! धन्य भाग्य! स्वामी राम अपनी चेष्टा में पूर्ण सफल हुए। उनकी जीवन-कथा उनके हृदय की गतिविधियों की वह वीर गाथा है जिसकी अपनी एक दिव्य विशेषता है। उन्हें अपने ही जीवन में जो आनन्द मिला, वह वर्णनातीत है, जो विश्व-व्यापक प्रेम मिला, उसकी कोई सीमा नहीं, जो आत्मज्ञान हुआ, उसे आत्मज्ञानी ही जान सकता है। वे जीवन-मुक्त थे।

३—स्वामी राम ने वेदान्त की साधना की और इसी की शिक्षा दी। जीवन और जीवन के क्रियाकलापों में अद्वैत का प्रतिपादन और प्रतिष्ठा करना ही उनका तत्वज्ञान है [illegible] वेदान्त और अन्य शास्त्रों की अनुकूलता से उन्होंने [illegible] मन के संयम तथा वासनाओं के [illegible] पर बहुत ज़ोर दिया है [illegible] है उसे स्वस्थ और स्वच्छ रखना ही चाहिए। साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि शरीर आत्मा की सम्पत्ति नहीं है। वह तो आत्मा के लिए साधनमात्र है, जो हमें अपने पूर्वजों द्वारा उत्तराधिकार में मिलता है। अपने पूर्वजों की दी हुई यह पवित्र सम्पत्ति भाररूप न हो जाय, हमें उसे सत्य की सेवा में समर्पित करना चाहिए। ऐसा उत्सर्ग तभी संभव हो सकता है, जब हम शरीर को आत्मरूप से न मान कर शक्ति और उद्योग का केन्द्रमात्र समझें। स्वामी जी कहते हैं—ज्योंही हमें एक क्षण का अवकाश मिले त्योंही हमें अपने शरीर की पृथकता पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। देखो, तुम पैर नहीं हो, हाथ नहीं हो, मुख नहीं हो। अभिप्राय यह, घड़ी भर के लिए हमें उन्हें सर्वथा भूल जाना चाहिए। संसार से विरक्ति प्राप्त करने के लिए बौद्ध लोग भी शरीर की व्यर्थता, नश्वरता आदि पर विचार करने के लिए ज़ोर देते हैं। आगे चलकर हमें शरीर की भाँति मन और उसकी वासनाओं को भी उतार फेंकना चाहिए। यही वैराग्य की साधना है। हमारा मन बड़ा चंचल है। 'योग-वशिष्ठ' में इसे बन्दर की उपमा दी गई है। इसके अन्तर में नित उठने वाली नयी नयी वासनाओं का दमन करने का एक उपाय यह है कि हम उन्हीं क्षणिक इच्छाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करें और उनके भ्रामक सौंदर्य और मौलिक एवं पारस्परिक विरोध को अपनी कल्पना-दृष्टि से अन्त तक देख डालें। यह साधना की पहली सीढ़ी है और इतने ही से हमें अपूर्व आनन्द मिलता है, क्योंकि जिसे हम अभी तक अत्यन्त बहुमूल्य और ठोस समझते थे, वही अब व्यर्थ और क्षणिक हो जाता है। इस अनुभव के आते ही हमारा पार्थिव शरीर भी काल्पनिक जैसा हो जाता है और जब हमारा यही काल्पनिक शरीर इस अनुभव का केन्द्र होता है जिसे हम संसार कहते हैं तब संसार का मूल्य ही क्या

रहता है! ऐसा निश्चय होते ही हमें विश्व के साथ जो तदात्म प्राप्त होता है—वह स्वामी जी के शब्दों में—

सारे कान मेरे कान हैं और सारे नेत्र मेरे नेत्र
सारे हाथ मेरे हाथ हैं और सारे मन मेरे मन

४—किन्तु इस प्रकार का बौद्धिक निश्चय होने के बाद भी आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में अनेक बड़ी बड़ी बाधायें सामने आती हैं। जैसे कभी कभी ऐसा निश्चय होने पर भी प्राचीन चिन्तन-शीलता (देहाध्यास) के कारण विपरीत भावना का उदय हो उठता है।

वेदान्त इस बुराई को दूर करने के लिए निदिध्यासन का आदेश करता है। निदिध्यासन क्या है? ब्रह्मात्मैक्य चिन्तन। इस प्रकार के निदिध्यासन से साधक को अपने स्वरूप का अपरोक्ष अनुभव होता है और यह अवस्था प्राप्त होने पर ही वह जीवनमुक्त कहलाता है। जीवनमुक्त के जीवन के दो पहलू हैं। एक तो यह कि वह समाधि में पहुँच कर मानो ब्रह्म में लीन हो जाता है और दूसरे यह कि वह फिर मानों नीचे उतर कर हम लोगों की साधारण दुनिया में आ जाता है किन्तु इस दशा में भी वह दुनिया के धोखे में नहीं आता, क्योंकि उसे संसार के मिथ्यात्व का प्रत्यक्ष अनुभव बना रहता है। सुख और दुख का द्वन्द्व जीवनमुक्त के लिए भी रहता है किन्तु वह उससे रंचमात्र भी विचलित नहीं होता। यद्यपि उस के पैर पृथ्वी पर ही रहते हैं किन्तु उसका ध्यान सदैव अनन्त ब्रह्म पर लगा रहता है। सचमुच वह ब्रह्म हो जाता है। 'ईश' उपनिषद् में कहा गया है कि जीवनमुक्त सब को अपने में और अपने को सब में देखता है। और वह जीवन के संघर्ष से ऊपर उठ कर सदैव अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में ही स्थित रहता है। स्वामी राम कहते हैं—

मृत्यु को मैंने खा लिया है,
सारे भेद भावों को मैंने पी लिया है।

यह भोजन कितना मीठा और कितना स्वास्थ्यकर है।
न कोई डर, न कोई दुख और न कोई चिन्ता।'

जीवनमुक्त ऐसा ही जीवन व्यतीत करता और अन्त में जब वह उस पार्थिव शरीर से कि ही पृथक हो जाता है जिसमें अभी तक बँधा प्रतीत होता था, तब उसका पुनर्जन्म नहीं ह क्योंकि वह ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है। बस, विदेहमुक्ति है। यही मुक्ति स्वामी राम को प्राप्त थी। इस मुक्ति का अर्थ नष्ट होना अथवा नास्ति किसी प्रकार नहीं हो सकता, वरन यही मुक्ति व रूप में, सच्चे से सच्चे रूप में जीवन की प और नित्यता है।

५—ऊपर हमने मोक्ष प्राप्त करने अथवा बन जाने की बात कही है किन्तु कभी कभी इस के कथन से बड़ा भ्रम हो जाता है। शांकर वे के अनुसार मोक्ष ऐसी अवस्था नहीं है जिसे नये रूप में प्राप्त करना है किन्तु वह तो आत्मा का स्वरूप ही है। क्योंकि यदि मोक्ष आत्मा के वास्त स्वरूप में सन्निहित न हो तो उसे हम त्रिकाल मे प्राप्त नहीं कर सकते। और यदि वह किसी रू हमें प्राप्त भी हो तो वह हमारे वास्तविक स्वरूप अंग न होगा, वरन् वह एक अध्यास जैसा ह जिसे हम ऊपर से ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु स्पष्ट ही विरोध प्रकट होता है, क्योंकि मोक्ष- का अर्थ ही है अध्यास का निराकरण करना। इस जिसे हम मोक्ष या साक्षात्कार की इच्छा कहते वह अन्य साधारण इच्छाओं के रूप में नहीं हो आत्मा तो उसका प्रत्यक्ष अनुभव करती है जो से उसीका स्वरूप होता है, जो वह स्वयं होती मानो थोड़ी देर के लिए अपने वास्तविक स्वरू भूलने पर वह पुनः उसका अनुभव करती हो। प्रश्न हो सकता है, अच्छा, इस भूलने का इस अ का कारण क्या है? वेदान्त के अनुसार यह सं माया का स्वभाव है। किन्तु यह माया ब्रह्म स्वभाव अथवा ब्रह्म के समान अनादि-अनन्त नहीं है। वास्तव में इसका स्वरूप अंधकार के सम

भारतीय दर्शन में ईश्वर का स्थान तथा स्वरूप

[लेखक—श्री भी, ला. आत्रेय एम. ए., डी. लिट.]

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः'

ईश्वर को जान लेने पर सारे बन्धन कट जाते हैं।

ईश्वर, स्वतंत्रता और अमरता—ये तीनों समस्यायें मनुष्य के हृदय को सब से अधिक प्रिय हैं। यथार्थ में पहली समस्या के हल से शेष दो प्रश्नों का उत्तर भी हमें मिल सकता है। वास्तव में ईश्वर का प्रश्न इतनी बार हमारे सामने आता है कि हम उसे छोड़ ही नहीं सकते। प्रत्येक विचारशील पुरुष को किसी न किसी रूप में उसका उत्तर देना ही होता है। संसार की समस्याओं में ईश्वर की समस्या ही सबसे पुरानी है। संसार का और कोई भी विचार हमारे दैनिक जीवन पर इतना अधिक प्रभाव नहीं डालता जितना कि ईश्वर का। इसीलिए हम किसी ऐसे भविष्य की कल्पना ही नहीं कर सकते, जब मनुष्य ईश्वर के बारे में सोचना एकदम बन्द कर देंगे। 'ईश्वर' शब्द से अभिप्रेत सत्य के अस्तित्व को चाहे कोई स्वीकार करे या अस्वीकार, किन्तु कोई इस महान प्रश्न की अवहेलना नहीं कर सकता। जो अपने आप को ईश्वर के विषय में संशयवादी कहते हैं, वे भी इस महान प्रश्न की गम्भीरता के प्रति आकृष्ट होने के लिए बाध्य होते हैं। ईश्वर के विषय में हम कुछ सोचें अथवा बिल्कुल न सोचें—इन दो बातों में से हम पिछली बात तो कर नहीं सकते, इसलिए ईश्वर के बारे में हमारे विचार स्पष्ट, क्रमबद्ध और युक्तिसंगत हों अथवा अस्पष्ट, स्वयंविरोधी और तर्कहीन हों, इन दो में से ही हमें एक बात पसन्द करनी होगी।

ऐसी स्थिति में ईश्वर के विषय में कोई निश्चित धारणा करने के पहले क्या हमारे लिए यह उचित न होगा कि हम यह जानने की चेष्टा करें कि इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर प्राचीन कालिक विभिन्न देशों के तत्त्वज्ञानियों ने किस प्रकार विचार किया है। निस्संदेह यह बुद्धिमानी का कार्य ही होगा कि इस विषय में अपना कोई निश्चित मत बनाने के पहले, यदि सचमुच हम ऐसा कर सकते हैं, तो हम यह जानने की चेष्टा करें कि इस समस्या के हल करने में प्राचीन और अर्वाचीन विचारकों के सामने कौन कौन सी कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ उपस्थित हुई थीं और अन्त में वे किस निष्कर्ष पर पहुँचे थे। सचमुच यह कार्य हमारे लिए और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि हम लोग इस विचित्र दौड़-धूप और धूम-धाम के युग में रहते हैं जहाँ अवकाश और एकान्त का अभाव होता जाता है। यदि इस विषय में हम उन प्राचीन ऋषियों का अध्ययन करें जिन्होंने अपना सारा समय और सारी शक्ति इन्हीं बातों के सुलझाने में लगा दी थी तो वह हमारे लिए श्रेयस्कर ही होगा।

परन्तु सभी देशों के सभी प्राचीन दार्शनिकों के विचारों का मनन करना आसान काम नहीं है। एक तो उन्होंने विभिन्न भाषाओं में विचार किया है और दूसरे अपनी अपनी विभिन्न पद्धतियों के अनुसार। फिर भी इस प्रश्न की महत्ता को देखते हुए हमें किसी न किसी प्रकार इन बाधा देने वाली कठिनाइयों का सामना करना ही होगा। आइये, पहले हम भारतीय दार्शनिकों से ही प्रारम्भ करें, क्योंकि कहते हैं, कि जहाँ तक विचार की गति हो सकती है, ईश्वर पर विचार करते हुए ये दार्शनिक उसे अन्तिम से अन्तिम सीमा तक ले गये हैं। 'हिबर्ट जनरल' में विलियम दुली सीगर लिखते हैं—'संसार में भारतवर्ष के समान शायद ही कोई ऐसा देश हो जहां हमारी श्रद्धा के योग्य उच्च कोटि के विद्वानों ने

[illegible] बड़ी संख्या में इस बात पर एकमत होकर [illegible] ही नहीं किया है, वरन् इसे अपने जीवन में [illegible] है कि हम अपने जीवन का जो सब से [illegible] और सब से अधिक आनन्ददायक प्रयोग कर सकते हैं वह है निरन्तर दृढ़ता, गम्भीरता और [illegible] ईश्वर का चिन्तन, मनन और [illegible]। इसके अतिरिक्त जीवन की और [illegible] हैं वे गौण एवं निम्न महत्व की हैं।

किन्तु भारतीय दर्शनों के अनुसार ईश्वर के [illegible] पर विचार करने के पहले हमें दो-एक प्रारम्भिक [illegible] ध्यान देनी होंगी। पाश्चात्य देशों की पद्धति से [illegible] भारत में, यदि हम विभिन्न दर्शन शास्त्रों के [illegible] की बात छोड़ दें, तो हमें वहाँ ऐसे स्वतंत्र [illegible] बहुत कम मिलते हैं, जो मधुर होने के [illegible] हमारा ध्यान आकर्षित करते हों। कुछ [illegible] को छोड़कर भारतवर्ष के प्रायः सभी [illegible] किसी एक न एक दर्शन शास्त्र से सम्बन्धित हैं। क्योंकि उन लोगों ने स्वतंत्र दार्शनिक ग्रन्थ न लिखकर केवल अपने से पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर टीकायें [illegible] लिखी हैं, हाँ, उन टीकाओं में चाहे भले ही उन्होंने ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया हो, जो उन मौलिक ग्रन्थों के अभिप्राय से सर्वथा भिन्न हों। यह पद्धति तो यहां तक बढ़ी हुई है कि बड़े बड़े दर्शन शास्त्रों के संस्थापक आचार्य भी किसी नूतन [illegible] के आविष्कार की घोषणा नहीं करते, वरन् जो कुछ पहले से है उसको एक क्रम में लाकर व्याख्या करने का ही दावा करते हैं। इसे चाहे आप [illegible] की कमी कहें अथवा नम्रता की [illegible], कि भारतवर्ष में विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त [illegible] दार्शनिकों [illegible] शास्त्रों के नाम [illegible] [illegible] में हमें [illegible] [illegible] कोई [illegible] केवल [illegible] विचार करना है।

दूसरी बात जिसे हमें कभी नहीं भूलना चाहिए यह है कि भारत में दार्शनिक भावनाओं और सिद्धान्तों का कोई क्रमबद्ध इतिहास हमारे पास नहीं है। कुछ विशेष मोटी बातों को छोड़कर हम निश्चयपूर्वक ऐसी घोषणा नहीं कर सकते कि अमुक दार्शनिक शास्त्र व सिद्धान्त पहले का है और अमुक पीछे का। अतएव भारतीय दर्शन शास्त्रों में ईश्वर विषयक विश्वास के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में हम कुछ कहने का दावा नहीं कर सकते। क्योंकि अधिकांश दर्शन शास्त्र यहाँ साथ ही साथ विकसित हुए मालूम होते हैं, जिससे ऐसा मालूम होता है कि ये एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं।

तीसरी बात जिस पर हमें ध्यान देना है, यह है कि कभी कभी बाह्य प्रभाव के कारण एक ही दर्शन शास्त्र के अनुयायियों के दृष्टिकोणों में अत्यधिक अन्तर दिखाई देता है, यहाँ तक कि वे शास्त्र के संस्थापक के विचारों से भी विपरीत दिशा में चले जाते हैं।

बस, इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमें भारतीय दर्शन शास्त्रों में ईश्वर के स्वरूप और अस्तित्व पर विचार करना चाहिए।

(१)

चार्वाक मत और ईश्वर

न तो निश्चितरूप से यही कहा जा सकता है कि इस शास्त्र के संस्थापक कौन थे और न इस शास्त्र के भौतिकवादी अनुयायियों ने ही इस शास्त्र की कोई क्रमबद्ध व्याख्या ही की है। हमें इस सम्बन्ध में जो कुछ मालूम है वह केवल माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' से। इस शास्त्र के अनुयायी सोलहों आने भौतिकवादी हैं वे भौतिकवाद के सिवा और [illegible] तत्व के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। वे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के साथ

नाश को प्राप्त हो जाती है। भला, इस शास्त्र में ईश्वर के लिए कहीं कोई स्थान हो सकता है! संसार के उत्पादक की दृष्टि से भी उन्हें ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि चार्वाक मत में तो यहाँ सभी कुछ 'स्वभाव' के अनुसार हो रहा है। उन्हें नैतिक न्यायाधीश के रूप में भी ईश्वर की जरूरत नहीं। उनके लिए यदि कोई शासक और न्यायाधीश है तो वह राजा और राजा ही उनके लिए ईश्वर है। इसके सिवा वे और किसी ईश्वर को नहीं मानते। लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः।

(२)

बौद्धमत में ईश्वर

ऐसा मालूम होता है कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि की भाँति बौद्धमत ने संसार के आदि अन्त की खोज के लिए उतनी तत्परता नहीं दिखलाई है। वह संसार के अनित्यत्व को मानता है और मानता है उसमें रहने वाले चैतन्य प्राणियों को। बस, इसी संसार को अन्तिम तत्त्व मानते हुए बौद्धमत ने हमारी मौलिक मानसिक प्रेरणाओं एवं स्वतन्त्र दार्शनिक विचारों के आधार पर जीवन की दार्शनिक विवेचना की है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन यथार्थवादी है, जिस में संसार की व्यावहारिक एवं आवश्यक समस्याओं पर विचार किया गया है। इस मत में प्रत्यक्ष संसार और जीवन के नियन्त्रक नियमों की सूक्ष्म समीक्षा करके जो [illegible]

से बार बार पूछा था। बौद्ध लोग 'कांट' की भाँति किसी नैतिक शासक की भी आवश्यकता नहीं समझते, क्योंकि उनकी दृष्टि में धर्म के सदाचरण के लिए 'कर्म' का सिद्धान्त ही यथेष्ट है।

भगवान बुद्ध ने स्वयं यथार्थ रूप में किसी दर्शन शास्त्र की प्रतिष्ठा नहीं की है। उन्होंने केवल आन्तरिक प्रकाश द्वारा प्राप्त विचार और निष्कर्ष शिष्यों को सुनाये हैं, जिनके आधार पर उनके पश्चात् बौद्ध दर्शन की स्थापना हुई है। कुछ दिन बाद इस दर्शन के चार मुख्य विभाग हो गये। १—सौत्रान्तिक २—वैभाषिक, ३—माध्यमिक ४—योगाचार।

बौद्ध मत के जिन सिद्धान्तों को समान रूप में उक्त चारों सम्प्रदायों ने माना है, उनमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। उनकी मुख्य शिक्षायें हैं, १—सर्वं क्षणिकं अर्थात् सर्वव्यापक अनित्यता, २—विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेतत् अर्थात् के समूह जिनसे मनुष्य का स्वरूप बनता है और जिनके आधार में कोई अपरिवर्तनीय आत्मा जैसा तत्त्व नहीं रहता ३—विश्व-व्यापक कार्य कारण सम्बन्ध, जिससे संसार की सारी वस्तुओं का निर्माण होता है (किन्तु इसमें उपादान कारण के लिए कोई स्थान नहीं है) ४—जीवन में काम करने वाली कार्य-कारण सम्बन्ध की १२ कड़ियाँ (अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भवः, जाति, जरामरण) ५—चार सर्वोत्तम सत्य (दुःख सत्य, समुदय [illegible] सत्य) ६—सर्वोत्तम अष्टांग मार्ग [illegible]

[illegible]

[illegible] प्रकृति, न स्वभाव, न ईश्वर और न कारण-शून्य नियति। इनके लिए इतना ही जानो कि वे [illegible] होते हैं और तृष्णा करते हैं। अंगुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों को इस प्रकार शिक्षा देते हैं—कुछ श्रमण और ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि जो कुछ सुख या दुःख अथवा असुखादुःख मनुष्य को मिलता है वह सब ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही मिलता है। ऐसे लोगों से मैं कहता हूँ कि यदि तुम्हारी बात सच हो तब तो हत्यारे, चोर-डाकू, व्यभिचारी, झूठे, लम्पट, निन्दक, ईर्ष्यालु, नास्तिक आदि सभी दुष्ट मनुष्य ईश्वर की इच्छा से ही बनता है। ऐसा मानने से अपना चरित्र सुधारने की चेष्टा करना अथवा कर्तव्याकर्तव्य का विचार करना ही व्यर्थ हो जायगा। ऐसा होने से पतित का उद्धार बिल्कुल असम्भव हो जायगा।

इस प्रकार बौद्ध मत में धर्म और सदाचार की जो व्यवस्था है, वह स्वयं पूर्ण है। मनुष्य अपने अपने कर्मों के अनुसार ही जीवन में गिरते-उठते हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने कर्म सिद्धान्त की आस्तिक बातों की छानबीन नहीं की है, उन्होंने तो इसे धार्मिक जीवन के लिए अन्तिम नियम के रूप में मान लिया है।

प्रो० सोजेन के अनुसार 'अभिधम्म पिटक' की व्याख्या करते हुए बुद्धघोष ने कभी कभी विषयान्तर करके इस मत का खण्डन करने का उद्योग किया है कि इस ब्रह्माण्ड का बनाने वाला कोई पहले ही से कहीं इसके बाहर बैठा था। उन्होंने भगवान् बुद्ध के मुख से कहलाया है कि किसी एक कारण से कुछ भी प्रकट नहीं हो सकता क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ कारणों के [illegible] से [illegible] हैं। बुद्धघोष के [illegible] सिद्धान्त [illegible] है कि यह [illegible] प्रादुर्भाव [illegible] में

केवल एक ही स्थान पर ईश्वर की चर्चा आयी है, जहां भगवान् बुद्ध ने इस कल्पना की निन्दा की है कि मनुष्य के इहलौकिक सुख-दुःख का कारण यदृच्छा नियति अथवा ईश्वर हो सकता है।

(यंकिं चयम् पुरिस पुग्गलो पति संवेदेति या सुखं दुक्खं वा अदुक्खं सुखं वा सब्बम् तं पुब्बे। कत हेतु इस्सर निर्मानहेतु अहेतु अपच्चयति)।

क्योंकि ऐसी धारणा से मनुष्य आलसी हुए बिना नहीं रह सकता।

यद्यपि बौद्ध लोग सामान्यतः सृष्टि-कर्ता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार ही करते रहे हैं, फिर भी कुछ बौद्ध 'महात्मन्' के सिद्धान्त को मानते हैं और संसार की इन्हीं महान् आत्माओं में लय होने का आदेश करते हैं। (ऐसा मालूम होता है कि बौद्ध मत में यह भाव वेदान्त के सिद्धान्तों के सम्पर्क से आया है।) असंग के महायान सूत्रालंकार शास्त्र में भी हमें व्यक्तित्व के भ्रम से छुटकारा पाने के लिए 'महात्मन् सिद्धान्त' की शरण लेने का आदेश किया गया है।

महावैरोचन-अभिसम्बोध सूत्र का कहना है कि 'महात्मन्' का पद केवल सर्वोच्च भावनाओं (अनुत्तरार्थ) के अभ्यास द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इसी पुस्तक में लिखा है कि महात्मन् बुद्ध पद का ही दूसरा नाम है। महायान सूत्रालंकार शास्त्र में एक कारिका है—

शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यमार्गलाभतः
बुद्धाः शुद्धात्मलाभित्वात् गता आत्ममहात्मताम्

इसकी व्याख्या करते हुए असंग ने महात्मा का अर्थ किया है परमात्मा। 'अनेनानिर्दिष्टेन बुद्धानामनास्रवे धातौ परमात्मा व्यवस्थाप्यते'।

[illegible] के महावैरोचन [illegible] सूत्र में महात्मा [illegible] 'महात्मन्' [illegible] का अर्थ है [illegible] का अर्थ है कि सभी [illegible] जो

मन और एकान्त

[लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्द वर्म्मा।]

दुनिया ज्यों-ज्यों बूढ़ी होती जा रही है, त्यों-त्यों [illegible] इसका साज-शृंगार बढ़ाती चली जा रही है। [illegible] हुई हरियाली, नदी का कल-कल और प्रकृति की [illegible] मुसकान को अब वैसी ही अनादर की दृष्टि से [illegible] जाता है, जैसे पुराने चाल की वेष-भूषा को। [illegible] शहर के पास एक चप्पा ज़मीन का भी बेकाम [illegible] रहना, नदी के किनारों का सुनसान रहना और [illegible] ऊँची अट्टालिकाओं के देहातों का उजाड़ मालूम [illegible] पड़ना, सभ्यता—नयी रोशनी और नयी शिष्टता [illegible] के विरुद्ध मालूम पड़ता है। फिर भी, बाह्य आडम्बर [illegible] कितना भी बढ़ जावे, बिना प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लिये, बिना कभी कभी एकान्त सेवन किये और समाज की चमक दमक से पीछा छुड़ा कर प्रकृति की गोद में अपना मस्तक रखे मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती। स्वामी रामतीर्थ जिन दृश्यों को देखकर प्रकृति अनुचरी से अपनी सेवा कराकर आनन्द ग्रहण करते थे, वही आज भी अनगिनत प्राणियों की रक्षा कर रही है और उनको पागल होने से बचा रही है।

पागल संसार—

संसार तो पागल हो रहा है। वह किस तरफ, किस लिए, क्या लेकर दौड़ा जा रहा है—यह कोई नहीं कह सकता, कोई नहीं जानता! एक कोई अज्ञात सुख है, जिसको न हम जानते और न पहचानते, पर जिसके पीछे हम भागे चले जा रहे हैं। हम जितना ही सुख के लिए अपनी [illegible] और [illegible] को लेकर [illegible] हैं [illegible] वह सुख हम [illegible] —[illegible] फिर भी [illegible] हम उसे [illegible] चित्त की वृत्ति कभी स्थिर नहीं होती और सुख का प्यासा मन इधर-उधर भटकता हुआ अन्त में सो जाता है—अपनी सब कुछ साथ लिये हुए।

अवसर भी तो नहीं मिलता कि सोचा जावे कि हम क्या चाहते हैं—हमें सुख की क्या परिभाषा करनी चाहिए! यदि स्त्री-पुत्र-धन से ही सुख मिल सके तो आज संसार में करोड़ों परिवार इनसे सम्पन्न मिलेंगे। पर वे सुख से अपने साधनों का और अपनी सुख-सामग्री का उपभोग नहीं कर पाते और शायद उनके मन की इच्छा इतना पीड़ा देती है कि अपने को सबसे बड़ा अभागा समझने लगते हैं। इसका क्या कारण हो सकता है—हम अपने मन को स्थिर और शान्त नहीं कर सकते और चित्त की वृत्तियों की चञ्चलता पर हमारा नियंत्रण नहीं है। भर्तृहरि ने सत्य कहा है:—

'भोगान भुक्ता वयमेव भुक्ता'

अर्थात भोगों का भोगना पूरा नहीं हो पाता, हमीं भुक्त हो जाते हैं—या यों कहिये कि समाप्त हो जाते हैं। गीता में मन पर नियंत्रण रखने की महिमा बहुत कुछ समझायी गयी है पर ज़ुबान से रट लेने पर भी हमारे ऊपर कोई असर नहीं होता। भगवान ने साफ़ कहा है:—

> इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
> पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

महान पुरुष—

जो पुरुष कि इन्द्रिया अर्थ मन, बुद्धि, आत्मा, [illegible] आदि से [illegible] [illegible] हैं—महान हैं। [illegible] पुरुष के [illegible] [illegible] को इन्द्रियों ने

इतना चञ्चल क्यों कर रक्खा है। क्यों हम लोग इस महा आनन्ददायक उक्ति को भूल जाते हैं कि संसार में सबसे सुखदायक वस्तु है, सभी चीजों को, सभी विराग या विवेक, तृष्णा या ज्ञान, बुरी से बुरी और अच्छी से अच्छी वस्तु को अपनी अन्तरात्मा में समर्पित कर, वीतराग, शिव-प्रज्ञ हो जाना !

"समार्पितो मयैव पुरुषोपभोगाय अग्निस समाधिः"

क्यों न हम इस बात को सदैव ध्यान में रखें कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण होता है। अतएव सुख की तलाश के पहले हम मन को ही क्यों न काबू में कर लिया जावे—

सुषारथिरश्वानिवयन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव

जिस प्रकार अच्छा सारथी अपने रथ के घोड़ों को बड़ी योग्यता के साथ चलाता है, उसी प्रकार मन-रूपी घोड़ों का भी नियंत्रण किया जावे। किन्तु ऐसे नियंत्रण में बड़ी साधना की, तपस्या की आवश्यकता होती है। मन की साधना बड़ा कठिन काम है—मन से ही तो संसार का समूचा सुख-दुःख उत्पन्न होता है:—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपिदाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन भुज्यते,
मनो हि तन्निमित्तं यत्त्वया कृतम्॥

सत्य है कि सुख दुख का देने वाला दूसरा कोई नहीं है। आदमी अपने ही किये का फल भोगता है। इसीलिए मन ने जैसा किया है वैसा ही मनुष्य भोगता है

मन और एकान्त

इसीलिए मन ... [illegible] ... कि इस मन ... [illegible] ... काबू ... [illegible] ... दृष्टान्त है ... [illegible] ... चित्त-चञ्चल

को शान्त करने और संसार के कोलाहल से अलग खींचने के लिए सरलतम औषधि एकान्त सेवन है। इस एकान्त-सेवन की जितनी महत्ता गायी जाये थोड़ी है। इसी एकान्त-सेवन के विषय में भर्तृहरि ने लिखा है:—

"स्फुरत्स्फार ज्योत्स्ना धवलित तले क्वापि पुलिने सुखासीनः शान्तः ध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः॥"

अर्थात्—जहाँ पर उज्ज्वल और चारों ओर बिखरी हुई चाँदनी के समान जल है, ऐसे गंगा के किनारे पर आराम से बैठा रहूँ; जब सब आवाजें बन्द हों, तब रात में शिव-शिव प्रणवरूप शब्द करते हुए सांसारिक दुःख दर्द से मुक्त होकर आनन्द के आँसुओं से आँखों का होना सफल करूँ। ऐसे शुभ दिन कब आवेंगे !

कितनी सुन्दर पंक्तियाँ हैं ! ऐसे एकान्त भाव से मन क्यों न शान्त हो जावेगा ! प्रभु से अनन्यता के लिए एकान्त आवश्यक है और इस अनन्यता में ही:—

"तस्मिन् अनन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च"

देवर्षि नारद के इस गम्भीर वाक्य का अर्थ यह है—"उस परम प्रेमास्पद प्रभु से अनन्यता हो और उसके जो विरोधी भाव हों उनमें विरक्ति उत्पन्न हो जावे।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पर्वत की कन्दरा या नदी-तट पर एकान्त ध्यान होता है।

"उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।"

प्रेमी एकान्त

एकान्त की महत्ता को एक कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में—

... d ... this
... to feel
... and ...
... your mind,

भारतवर्ष के धार्मिक युग

[लेखक—श्री 'मिश्रबन्धु']

(१) अनार्य-धर्म [३२५० ईसा-पूर्व से २७५० ई० पू०] मोहंजोदड़ो और हड़प्पा में १९२२ से १९२७ तक जो खोदाई हुई थी, उसके आधार पर विद्वानों ने तत्कालीन सभ्यता के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया है। यहाँ पर केवल धार्मिक दृष्टि से उल्लेख किया जाता है। पुरातत्त्व-विभाग के डाइरेक्टर जनरल सर जान मार्शल उसका समय उपर्युक्त बतलाते हैं। लखनऊ-विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष श्रीयुत डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी की राय में यह समय प्रायः ४००० ई० पू० है। वहाँ प्रचुर सामग्री और चित्र-लेख भी मिले हैं। लेख अभी पढ़े नहीं जा सके हैं। उस सामग्री की सहायता से निम्नलिखित धार्मिक निष्कर्ष निकाला गया है:—

उन लोगों ने पत्थर और जस्ते में मानविक मूर्तियाँ बनाई थीं। वे आदिम मातृदेवी, शक्ति और शिव का पूजन करते थे। जानवर देवताओं के वाहन थे, तथा वे वृक्ष-पूजा भी करते थे। वहाँ ध्यान-मग्न शैव-मूर्तियाँ मिली हैं, तथा नासिका पर दृष्टि लगाये हुए ध्यानी योगियों की मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। वहाँ पृथ्वी या सिंहवाहिनी मातृदेवी बहुत पायी गयी हैं। त्रिनेत्र शिव के तीन सर हैं। कदाचित् इसी प्राचीन भाव से हिन्दू-त्रिमूर्ति का विचार निकला हो। त्रिशूल भी मिला है। योग का भी विचार है। शिव के निकट हाथी, चीता, भैंसा और गैंडा हैं। नाग उनकी पूजा करते हैं। शिव दो मृग-चर्मों पर बैठे हैं। उस काल में भी शिव पशुपति समझ पड़ते हैं। लिंग और योनि के पूजन भी उस समय प्रचलित थे। लिंग और लिंग-विस्तार में वर्तमान आग के समान लिंग-युक्त अरघे मिले हैं। जानवरों का भी उस समय पूजन होता था। सींग देवत्व का चिह्न था। शिव, मातृदेवी अग्नि, नाग, पशु, वृक्ष, पत्थर, लिंग, योग, शक्ति, संन्यास, भक्ति आदि के जो भाव हिन्दुओं में चले आते हैं उनके आधार उपर्युक्त सभ्यता में पाये जाते हैं। स्नान को बड़ा महत्त्व दिया जाता था। शायद यह धार्मिक हो। पूजनालय नहीं मिले हैं, किंतु कुछ कमरे ऐसे मिले हैं जिनका प्रयोजन अस्पष्ट है। शायद वे पूजनालय हों। अन्य प्रमाणों से अनार्यों में गिरि-पूजन भी सिद्ध होता है।

(२) वैदिक धर्म [ई० पू० २७५० से ११... ई० पू० तक]—वैदिक समय-निरूपण न केवल मतभेद, वरन् हठवाद से हुआ है। फिर भी अनुमान से यहाँ लिखा जाता है। अंतिम पाँच वेदर्षि युधिष्ठिर के समय के हैं, तथा जनमेजय के समय में वेदव्यास ने वेद-विभाजन किया। अंतिम वैदिक समय युधिष्ठिर के काल-निर्णय पर ही निर्भर है, किंतु इसमें मतभेद है। यह समय पंद्रहवीं शताब्दी ई० पू० से दसवीं तक भी माना गया है। आजकल पंडितों का झुकाव अंतिम सीमा पर ही है। वेदों में ऋग्वेद मुख्य है। उसकी कुछ ऋचाओं को लेकर तथा उन पर गद्य में टिप्पणियाँ बढ़ाकर एवं कुछ नवीन ऋचाएँ जोड़कर यजुर्वेद बनाया गया, और गाने योग्य ऋचाओं से सामवेद बना। अथर्ववेद प्रायः ऋग्वेद के साथ ही साथ उसके कुछ पीछे तक बनता रहा। ऋग्वेद में मुख्यतः ३३ देवता हैं। विश्वामित्र ने तृतीय मंडल में एकेश्वरवाद चलाया, तथा युधिष्ठिर के समकालीन नारायण ऋषि ने पुरुषसूक्त में एकेश्वर के साथ आदि... भेद का कथन किया। यजुर्वेद और अथर्ववेद में शैव... मत स्थापित हुआ। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन अनार्यों के शिव-समान किसी देवता ने अपने रुद्र शिव से ... एकीकरण करके उन्नति की है। ऋग्वेद में ईश्वर लो...

(७) तर्कवाद (आठवीं से चौदहवीं शताब्दी पर्यंत) शंकर स्वामी ने अद्वैतमतमूलक तर्कवाद चलाया, नाथ-संप्रदाय के बहुत से उपदेशकों ने तत्त्ववाद और रामानुजाचार्य आदि ने भक्ति-गर्भित तर्कवाद चलाया। इस समय हिन्दू-धर्म आत्मबल से बहिष्कार द्वारा मुसलमानी धार्मिक आक्रमण का प्रभाव रोक रहा था।

(८) भक्तिवाद (पन्द्रहवीं से १९ वीं शताब्दी के मध्य तक)। इसमें तर्कवाद का आधिक्य छूट गय और कोरी भक्ति का बल बढ़ा। वास्तव में भक्ति व विचार गीता के प्रारम्भिक काल से यहाँ विद्यमान था

(९) विवेकवाद (१९ वीं शताब्दी के म से अब तक)। इसमें विभिन्न धर्मों के पारस्परि सामंजस्य की ओर लोगों का अधिक ध्यान है। बस यहीं हमारे नौ धार्मिक युगों का वर्णन समाप्त होता है

व्यावहारिक वेदान्त

वेदान्त के साक्षात्कार के लिए जंगलों में जाने की आवश्यकता नहीं। यदि हम इस दौड़-धूप के संघर्षमय जीवन में एकान्त का प्रबन्ध कर सकते हैं, तो जन-समुदाय के बीच में रहकर भी वेदान्त का अनुभव कठिन नहीं है। अपने दैनिक जीवन में हमें एकान्त और अवकाश क्यों नहीं मिलता, क्योंकि हमें अपने मित्रों से, शत्रुओं से नहीं, गप-शप करनी पड़ती है। इन गप-शप के फलस्वरूप चिन्तायें हमारे सिर पर सवार होती हैं और जब हम एकान्त में पहुँच भी जाते हैं, तब भी वे पीछा नहीं छोड़तीं। वास्तव में केवल वही एकान्त हमारे लिए श्रेयस्कर है, जो हमें चिन्ता मुक्त करके अपने वास्तविक स्वरूप की ओर ले जाय।

यह कैसे हो सकता है? यह एक प्रश्न है। यदि हम यथार्थ रीति से वेदान्त का अध्ययन करें तो फिर हमारा मन अस्त-व्यस्त न होगा। फिर हमें घाम में ही आनन्द मिलने लगेगा और संघर्षमय जीवन हमारे लिए बाधक न हो कर सहायक होगा। वेदान्त को यथार्थ रीति से पढ़ने का अर्थ है, उसे अपने हाथों से, अपने हृदय से और अपनी बुद्धि से पढ़ना। किन्तु जो उसे केवल किताबों से पढ़ते हैं, उनसे उन्हें कोई लाभ नहीं हो सकता [illegible]

कुछ लोग उसे केवल हाथों से पढ़ते हैं [illegible] वेदान्त के [illegible] हो सकते हैं वे वेदान्त के दृष्टिकोण से काम कर सकते हैं किन्तु उन्हें वेदान्त के ज्ञान का आनन्द नहीं मिल सकता। इसलिए वे कभी भी इस कला को छोड़ सकते हैं। कुछ लोग उसे केवल हृदय से पढ़ते हैं। वेदान्त की सर्वव्यापी सहानुभूति का उन्हें अनुभव होता है, वे परिस्थिति विशेष में उच्च कोटि की सहृदयता से विचार करने लगते हैं किन्तु वे सोच-विचार और भाव-प्रवणता में कभी आगे नहीं जाते, इसलिए वे भी आगे न बढ़ने पर वेदान्त के आदर्श से विरत हो सकते हैं। तीसरे वे हैं जो उसे केवल बुद्धि से पढ़ते हैं। ऐसे लोगों को ज्ञान तो होता है, किन्तु हृदय और हाथों का साथ न होने से वे कभी कभी अपने आपको बड़े धोखे में डाल लेते हैं। अपने व्यवहार से वे दूसरों को धोखा देते हैं, सो उसका कहना ही क्या!

अतएव वेदान्त का सच्चा विद्यार्थी वही हो सकता है, जो उपर्युक्त तीनों साधनों से—हाथों से, हृदय से और बुद्धि से इस कलात्मक ज्ञान को सीखे। दूसरे शब्दों में, ऐसा पुरुष सर्वथा आलस्य और प्रमाद रहित होगा और उसका हृदय स्वार्थ, व्यक्तिगत स्वार्थ से शून्य होने के कारण वह लोकोपकारी में निरत रहेगा। इतना ही नहीं, उसे वेदान्त का परोक्ष ज्ञान होने से वह अपने कार्यों के लिए अहंकार भी नहीं करेगा। [illegible] साधक की नस-नस में [illegible] दर्शन रमता है। उसके रग-रग में वेदान्त प्रदर्शित हो जाता है। बहुत क्या कहें, वह स्वयं वेदान्त की मूर्ति हो जाता है। —महात्मा प्रकाश के पत्र से

गीता के अनुसार धर्म-अधर्म-विवेक

[ब्रह्मलीन श्रीमान् आर० एस० नारायण स्वामी]

हिन्दू धर्म के शास्त्रों के अनुसार मनुष्य का परम
र और मुख्य उद्देश्य है आत्मा का कल्याण अर्थात्
ध्यात्मिक पूर्ण अवस्था। अन्य हितों की अपेक्षा
से आध्यात्मिक पूर्णावस्था को प्रधान जानना
र तदनुसार आचरण करना उसका परम
र मुख्य कर्तव्य है और यह कर्तव्य ही उसका
म धर्म है। इसी भाव को सम्मुख रखते हुए
शेषिक दर्शन ने धर्म की ऐसी व्याख्या की है:—
तोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सधर्मः"। अर्थात्
ससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो
धर्म है। इसी उद्देश्य व कर्तव्य की दृष्टि से
-अकर्म, अधर्म-धर्म, कार्य-अकार्य और पुण्य-पाप
विचार करना चाहिए। अध्यात्म-विद्या को
ड़ कर कर्म-अकर्म इत्यादि का विचार करना ठीक
ीं। अर्जुन ने आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् आध्यात्मिक
अवस्था को परम व मुख्य न समझ कर केवल
ओं और सम्बन्धियों के हित को ही मुख्य
र परमोच समझा, जिससे यह निज धर्म और
र्तव्य से मूढ़ चित्त हुआ कायर और दुखी
गया, इसीलिए भगवान ने दूसरे अध्याय में
र्जुन को पहले आत्म-ज्ञान का उपदेश देकर फिर
से निज धर्म के पालन का उपदेश दिया है, और वहाँ
र्म का अभिप्राय भगवान ने अर्जुन के केवल निज
ल्याण अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति या आध्यात्मिक
र्ण अवस्था को [illegible]
हुओ. [illegible] नहीं
ससे [illegible]
पने [illegible]
ोर [illegible]
या [illegible]

के मार्ग में बाधा डालने वाला क्षत्रिय के सम्मुख आ
जावे, वह उसका शस्त्रों से तत्काल बिना झिझक के
वध कर दे, जिससे उन्नति में आगे और बाधा न
पड़ने पावे। फिर उन्नति के मार्ग में बाधा डालनेवाला
प्राणी चाहे उसका अत्यन्त पूजनीय और घर का ही
क्यों न हो, तो भी उसका संहार करना क्षत्रिय का
परमधर्म व कर्तव्य है।" इसलिए भगवान दूसरे
अध्याय में श्लोक ३० तक आत्मतत्व का निरूपण
करके फिर अर्जुन को अपने धर्म की ओर दृष्टि देने
के लिए कहते हैं; और उसकी दृष्टि निज धर्म की ओर
दिला कर फिर उसे स्पष्ट ऐसा उपदेश देते हैं कि—

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(गी० २-३१)।

अर्थात् अपने धर्म को देखकर भी तुझे डोलना
योग्य नहीं क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध से
बढ़कर और कुछ श्रेयस्कर नहीं है।" सारांश यह
हुआ कि क्या गीता, क्या महाभारत और क्या अन्य
शास्त्र, सभी ग्रंथों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग प्रायः उन
सब नीति-नियमों के विषय में किया गया है जो
आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से और इस दृष्टि के अनुसार
समाज-धारणा के उद्देश्य से शिष्ट जनों द्वारा बनाये
गये हैं। इस प्रकार नीति के उन नियमों अथवा
शिष्टाचारों को, जो कि समाज-धारणा के उद्देश्य से
शिष्ट जनों द्वारा प्रचलित किये गये और सर्वमान्य
हो चुके हैं, हम धर्म की नींव कह सकते हैं. परन्तु
[illegible] में धर्म [illegible] वास्तव में वही समझा
जाना चाहिए जिससे हमारे [illegible] निज कल्याण
अर्थात् आध्यात्मिक [illegible] अन्त में मोक्ष
[illegible] होता है

आयरलैण्ड की स्वतंत्रता का संग्राम

[लेखक—श्रीव्रजनाथ शर्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०]

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में आयरलैंड और इंग्लैंड का शासन एक हो गया। लार्ड विलियम ने कैथलिकों को कुछ स्वत्व दिये थे, जिससे वे पार्ल्यामेंट के सदस्य तो नहीं हो सकते थे किन्तु चुनाव में भाग ले सकते थे, इससे उनमें कुछ बल आ चला था। इस एकीकरण से मतलब था उनको फिर दबाने का, क्योंकि आयरिश प्रोटेस्टेन्ट भी अब कैथलिक से मिल चले थे और इन दोनों के मेल में इंग्लैंड के लिए भय था। एकीकरण का फल यह हुआ कि आयरलैंड के बहु-संख्यक कैथलिक अब एकीकृत शासन में न्यूनसंख्यक रह गये और इंग्लैंड के कानून के अनुसार उनके कैथलिक होने के कारण बहुत से स्वत्व मिट गये। इसका प्रभाव आयरलैंड की कला-कौशल और वाणिज्य पर भी बुरा पड़ा। उदाहरण के लिए एकीकरण के पहले जिस गांव में ५०० करघे चलते थे वहाँ सन् १८३३ में केवल १० रह गये थे।

यह एकीकृत शासन लगभग एक शताब्दी तक रहा। इस काल में देश-भक्ति दो धाराओं में बहती रही। आशावादी कानून की पाबंदी (Constitutional [illegible]) के अन्दर रहे, निराशावादी शस्त्रबल ([illegible]) के पक्ष में थे। आशावादी अपने [illegible] स्वतन्त्रता का संग्राम ब्रिटिश पार्ल्यामेंट में चाहा [illegible] से [illegible] थे। [illegible] इनके नेता [illegible] ने [illegible] अंग्रेजों से कहा [illegible]

[illegible] हमने [illegible] हम बिना बदला [illegible] तुम्हारी पार्ल्यामेंट में, तुम्हारे संगठन के हृदय में अपने दल के छोटे हुए १०० बड़े से बड़े बदमाश भेजेंगे।

इन दोनों दलों का अभिप्राय एक ही था, अर्थात आयरलैंड का इंग्लैंड से पृथक करना। भेद केवल यह था कि कानूनवादी ब्रिटिश मुकुट के साये में रहना चाहते थे और क्रांतिकारी उससे अलग। सन १८१९ में रोमन कैथलिक दल को वोट का अधिकार न मिल सका, पर १८२९ में इंग्लैंड के ह्विग (Whig) दल की सहायता से ओकानल इसमें सफल हो गया। फिर भी एकीकरण के रद्द करने में ह्विग दल आगा पीछा करता था। आयरलैंड के निराश क्रान्तिकारी यंग आयरलैंड (Young Ireland) के नाम से प्रकट हुए। सन १८४३ में सरकार ने ओकानल के समर्थन में (जो वह क्रान्ति का विरोधी था) महती सभा रोक दी, उसे पकड़ कर कारागार भेज दिया, और सन् १८४७ में उसकी मृत्यु होगई (शायद दिल टूट जाने से)। इसी समय घोर अकाल ने भी मुँह दिखाया। इन सबका प्रभाव यह हुआ कि क्रान्तिकारी दल का बल बढ़ने लगा और सन १८५८ में उन्होंने फीनिक्स लिटरेरी सोसाइटी (Phoenix Literary Society) स्थापित की। इस सोसाइटी का उद्देश्य जाहिरा तो शिक्षा प्रचार था किन्तु वास्तव में ब्रिटिश के विरुद्ध घोर क्रान्ति करके स्वतन्त्रता [illegible] और इसी की शपथ उसके [illegible] थी। [illegible] धार्मिक नेताओं ने इसे [illegible] और सरकार ने लोहे के [illegible] इसके नेताओं को अमेरिका [illegible] उन्होंने अपने से पहले के गये [illegible] की सहायता से आयरिश [illegible] (Irish Republican [illegible]) जिसका दूसरा नाम फेनियन सोसाइटी ([illegible] Society) है, स्थापना की।

फेनियनों ने यह प्रबंध किया था कि कैनाडा (Canada) में बलवा हो, चेस्टर केसिल (Chester Castle) उनके हाथ आजाय और एक साथ ही लिवरपूल, लीड्स, मैनचेस्टर और लंदन में क्रान्तिकारी कार्य हों। 'पैट्रिक फोर्ड का कथन है कि जब रात में आंधी चले तब लंदन को फूंकने का विचार था।' एक जासूस ने पूरा हाल सरकार को बता दिया। फेनियनों का नेता जेम्स स्टीफिन्स सन् १८६१ में पकड़ लिया गया मगर थोड़े ही दिनों बाद वह भाग निकला। यदि इनके १५००० आदमी डब्लिन में और १८००० कार्क में लड़ाई छेड़ने पाते तो कैसा भयंकर परिणाम होता! पादरियों ने उनके एक शहीद नेता टेरेन्स मैक मेनस (Terence Mac Manus) के शव पर प्रार्थना पढ़ने से इन्कार कर दिया था, परन्तु उस शव के साथ १५०० आदमियों की भीड़ थी जो पुकारते थे—"Down with the priests" "Down with the pointicians" "पादरियों की क्षय" "राजनीतिज्ञों की क्षय"

आयरलैंड के काश्तकार अत्यन्त निर्धन और सरकार के विरोधी थे। १८वीं शताब्दी में इन्होंने अनेक स्थानों पर अपनी अवस्था सुधारने के हेतु बलवे किये थे. १९ वीं शताब्दी में निर्धनता की यह दशा थी कि वे केवल आलू खाकर प्राण रक्षा करते थे। तब जब आलू कम पैदा होता था तो भयंकर अकाल पड़ता था। इस दशा में क्रान्तिकारियों को आयरिश [illegible]

आयरिश मेम्बर पार्ल्यामेंट में अपने कृषक भाइयों के स्वत्व की प्राप्ति के लिये दिलोजान से लड़ते रहे। मगर फल कुछ भी न हुआ। हाँ, फिनियन क्रान्ति के उपरान्त ग्लैडस्टोन ने सन् १८७० में पहला आयरिश-लैंड एक्ट (Irish Land Act) पास कराया, जिसके द्वारा काश्तकार को यह हक़ दिया गया कि वेदखल होने पर उसे अपनी भूमि की उन्नति का मुआविजा मिले।

भूमि पर स्वत्व प्राप्त करने की इतनी तीव्र चेष्टा थी कि गाँव गाँव में गोप्य सभायें कानून-वादियों, फिनियनों और 'यंग आयरलैंड' का विरोध होते हुए भी स्थापन हो गयी थीं। ये सभायें जमींदारों, उनके कारिन्दों, गजकूरियों इत्यादिक के दिलों में भय उत्पन्न करने वाले कार्य कर रही थीं। सन् १८७९ में माइकल डेविट (Michael Davitt) ने लैंड लीग (Land League) स्थापित की। पार्नेल जो आयरलैंड की आवश्यकताओं पर ब्रिटिश पार्ल्यामेंट का ध्यान दिलाने के लिए बहुत काल से हाउस आफ कामंस के काम में रुकावट डाल रहा था, अब डेविट से मिल गया, अब पार्नेल को भी जमींदारों की शक्ति कम करना आवश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि उसका विचार था कि वे उस जंजीर की अन्तिम कड़ी हैं जो आयरलैंड को इङ्गलैंड के साथ जकड़े हैं।

लैंड लीग तो सरकार ने दबा दी किन्तु [illegible]

[illegible]िए हानिकारक होने पर बड़ा जोर दिया गया। [illegible]लैडस्टोन ने विवश हो सन् १८८१ में दूसरा लैंड ऐक्ट [illegible]ास कराया। इस क़ानून द्वारा उचित लगान नियत [illegible]रने के लिए न्यायालय स्थापित हुए जिसकी अदाई से [illegible]ाश्तकार को भूमि में ऐसे स्वत्व मिलें जो वह बेच [illegible]के और अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ सके। [illegible]सके कुछ ही काल पीछे ऐसे क़ानून बने जिनके [illegible]ारा सरकार काश्तकारों को अपने खेत पर स्वामित्व [illegible]ाप्त करने के लिए तकावी देती थी। जमींदार अब [illegible]हज मकानों और अपनी अपनी सीरों के स्वामी रह [illegible]ये। इस भूमि संबंधी आन्दोलन ने एक विशेष और [illegible]विचित्र बात काश्तकार और जमींदार दोनों में समान [illegible]प से यह पैदा कर दी कि उनकी दृष्टि में क़ानून [illegible]ा आदर मिट गया, जमींदार अपने तईं क़ानून से [illegible]पर समझने लगे और काश्तकार अपने तईं [illegible]ससे बाहर।

सन् १९०६ के चुनाव के बाद जब लिबरल दल [illegible]के हाथ में शासन आया तो पार्ल्यामेंट ने जान [illegible]ेडमंड का यह मन्तव्य स्वीकार किया कि "आयरिश [illegible]ासन का सुधार आयर्लैंड के लिए बड़े महत्व का [illegible] और उसमें ग्रेट ब्रिटेन की प्रजा का भी कल्याण [illegible]है।" यह मन्तव्य वैसे ही पड़ा रहा। सन् १९१० [illegible]के चुनाव के बाद जब लिबरलों को यह मालूम हुआ [illegible]कि आयरिश और श्रमजीवी वोटों के सहारे से ही [illegible]ासन उनके हाथ में रह सकता है, तो १८ एप्रेल [illegible]१९१२ को ऐस्क्विथ ने आयरिश होमरूल बिल हाउस [illegible]आफ़ कामन्स में पेश किया। बड़ी शीघ्रता से वह [illegible]बिल हाउस आफ़ कामन्स से पास कराया गया और [illegible]हाउस आफ़ लार्ड्स का अड़ंगा पार्ल्यामेंट ऐक्ट पास [illegible]करके दूर किया गया। [illegible] [illegible]ाता फिर से [illegible] [illegible]हुत ग्रस्त पहुंचा [illegible] [illegible]टेस्ट और ब्रिटिश [illegible] [illegible]सके नेता सर एडवर्ड कार्सन ने [illegible] की सहायता से होमरूल बिल को आवश्यकता पड़ने पर बलात् निष्फल करने के लिए स्वयंसेवक-मंडल स्थापित किये। अंग्रेजी सरकार के इस दल को कानून विरुद्ध कारवाई करने पर भी न रुकता देख कर नये युवकों को सरकार के ऊपर भरोसा न रहा।

इसके उत्तर में आयरिश रिपब्लिकन ब्रादरहुड ने नवम्बर १९१३ में प्रोफ़ेसर जान मैकनील की अध्य[illegible]क्षता में हथियारबंद आयरिश स्वयंसेवक दल, जिसमें अधिकतर यूनिवर्सिटी कालेज के विद्यार्थी थे, स्थापि[illegible] किया। सन् १९१४ में महायुद्ध छिड़ने पर जा[illegible] रेडमंड ने इङ्गलैंड की सहायता के लिए आयर्लैंड [illegible] कुमुक भेजने का वचन दिया। इसे आयरिश स्वयं[illegible]सेवक दल ने भी स्वीकार किया, और १६०००० स्वयंसेवकों ने ब्रिटिश सेना में नाम लिखा लिया, केव[illegible] १२००० स्वयंसेवक दल में रह गये। किन्तु ब्रिटि[illegible] अधिकारियों ने उन स्वयंसेवकों पर जो सेना में भरती हो गये थे अत्याचार किये और कान्सक्रिप्शन बिल (जब्रिया भरती का क़ानून) लागू करने की नियत प्रकट की। इसका आयर्लैंड ने घोर विरो[illegible] किया। इन सबका फल यह हुआ कि स्वयंसेवक दल इंग्लैंड का नितांत विरोधी होगया। और आयरिश ब्रादरहुड की सहायता से ईस्टर सन् १९१६ की सोमवार को आयर्लैंड ने क्रान्ति करने की तैयारी कर दी।

प्रोफ़ेसर मैकनील के रोकने पर भी क्रान्ति हो ही गई। इसके बाद से जो कुछ हुआ वह वर्तमान काल का इतिहास है, जिससे पाठकगण भली भांति परिचित होंगे। सन् १९१६ के आयर्लैंड की स्वतंत्रता के संग्राम का इतिहास ही 'डी वलेरा' की जीवनी है। इतना लिख देना पर्याप्त होगा कि फिर से इन [illegible] दलों ने एक दूसरे को नष्ट कर देने का [illegible] किया और आयर्लैंड में रह ही [illegible] [illegible] दाता देश नाम के ईसाई हैं [illegible] की अहिंसा और सहिष्णुता के अनुयायी [illegible] तक मार व हत्या का बाज़ार गर्म

सत्यं-शिवं-सुन्दरम्

दीवाली

[श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित 'ललाम']

खाली जाती है दीवाली।
कर न सका तेरे मन्दिर की जी भर कर उजियाली।
जगमग जगमग दीप जलाये,
सुन्दर सुन्दर सुमन सजाये।
पर तेरी पावन प्रतिमा से रहा भरा घर खाली।
छेड़ीं कुछ मन मौजी तानें,
गाये कुछ आनन्दी गानें।
निकल गया मन के कोने से कुछ रुककर वनमाली।
आशा थी दुख-निशा मिटेगी,
भाग्योदय की प्रभा फटेगी।
किन्तु निराशा-निशा रही यों ही काली की काली।
सो जा मन्द-भाग्य ले अपना,
देख न तू वैभव का सपना।
लक्ष्मी-पूजन अरे अकिञ्चन! तेरी थाली खाली।
निर्धन! तेरी कया दीवाली।

मूर्ख कौन है ?

एक दिन की बात है, एक आदमी किसी मन्दिर में मिठाई बांट रहा था। भारतवासियों के लिए मिठाई बांटना साधारण सी बात है। कोई भी शुभ समाचार हो, अथवा कोई विशेष लाभ हुआ हो तो लोग गरीबों को मिठाई खिलाते हैं, कोई कोई उन्हें कपड़ा-बर्तन आदि आवश्यक वस्तुयें भी दान करते हैं। मन्दिर में उत्सव होता देख कर एक व्यक्ति ने उस सज्जन से पूछा—क्यों भाई आज आपके इस हर्षातिरेक का कारण क्या है ? उसने उत्तर दिया—कुछ नहीं, मेरा घोड़ा खो गया है, इसी खुशी में थोड़ी सी मिठाई बाँटी है। सुनने वालों को आश्चर्य हुआ, यह विचित्र कारण उनकी समझ में न आया। एकने फिर पूछा—क्यों भाई, आपका घोड़ा खो गया है अथवा मिल गया है ? दुख होने पर तो हमने कभी किसी को हर्ष मनाते नहीं देखा। उसने उत्तर दिया—आप मेरी बात समझे नहीं। वास्तव मेरा घोड़ा खोया है, केवल घोड़ा खोया है, पर उसका सवार बच गया है। इसीलिए मैं यह हर्ष मना रहा हूँ। ऐसा हुआ, रात्रि के समय में कुछ डाकू मेरा घोड़ा पकड़ ले गये। भाग्य से उस समय मैं उस पर सवार न था। यदि कहीं मैं भी उस पर सवार होता और वे मुझे भी पकड़ ले जाते तो क्या आश्चर्य ! इसीलिए मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि मैं बच गया और केवल मेरा घोड़ा ही चोरी गया। क्यों, क्या यह प्रसन्नता की बात नहीं है ? उसकी ऐसी बातें सुनकर लोग खिलखिला कर हँस पड़े। कुछ बोले—बड़ा मूर्ख मालूम होता है, काठ का उल्लू !

सचमुच यह कहानी हँसने योग्य मालूम होती है ! किन्तु प्रत्येक मनुष्य को यह कहानी अपने ऊपर ही घटाना चाहिए और देखना चाहिए कि कहीं वे स्वयं उस मनुष्य से अधिक मूर्खता तो नहीं कर रहे हैं ? उनसे तो केवल घोड़ा खोया था और अपने आपको, सवार को बचा लिया था किन्तु यहां हजारों, नहीं, नहीं, लाखों-करोड़ों मनुष्य केवल घोड़ा बचाने की ही चेष्टा में रहते हैं, उन्हें सवार की रत्ती भर परवाह नहीं होती। कहना न होगा कि हमारी वास्तविक आत्मा का हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ वही सम्बन्ध है जो सवार का घोड़े के साथ होता है। अच्छा, आओ, यहां किसी से इसका

तुम इतने आनन्द में हो। भविष्य की चिन्ता न करो, वह तो तुम्हारा है ही। बस, काम करना शुरू कर दो, वर्तमान में अपना कर्तव्य करो, हृदय में आनन्द हो और बाहर सब ईश्वर रूप हों, किसी स्वार्थ-भावना को अपने पास न फटकने दो। चाहे जो भी करो, चाहे जिस रूप में करो, पर करो उसे भगवान् के लिए। बस, फिर तुम्हें कोई चिन्ता नहीं हो सकती।

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहम् त्वाम् सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

देखो, उल्टी गंगा न बहाओ। रथवान को ही रथ हांकने दो। ओ अर्जुन (हंसो मत), वह तुम्हें अवश्य ही इस संसार के महाभारत के पार लगावेगा। मैं तुम्हें इससे अच्छा संदेश नहीं दे सकता।

रामदास गौड़

ललकार सुनाई देती है!

[श्रीगिरिजाशंकर मिश्र 'गिरीश']

ललकार सुनाई देती है!
अब रुक न सकूँगा मैं पल भर,
अब बढ़ा चलूँगा मैं पल भर,
वह दूर—किसी प्रतिरोधी की जयकार सुनाई देती है।
ललकार सुनाई देती है!
तू रोक न पावेगी अब मुझको।
अब तजना ही होगा तुझको,
वह दूर—किसी [illegible] की झनकार सुनाई देती है।
[illegible] सुनाई देती है!
[illegible]
[illegible]

विवेक-वचनावली

[श्रीस्वामी शरणानन्दजी]

१—यदि किसी प्रकार की अभिलाषा बाकी है तो समझना चाहिए कि अभी अनन्त अभिलाषायें बाकी हैं, क्योंकि त्याग पूरे का होता है, कुछ का नहीं।

२—इच्छा की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख तथा इच्छाओं की निवृत्ति में आनन्द का अनुभव होता है।

३—अविचार से इच्छाओं की उत्पत्ति होती है, कर्म से इच्छाओं की पूर्ति होती है। ज्ञान से इच्छाओं की निवृत्ति होती है।

४—सुख से दुख दब जाता है और आनन्द से मिट जाता है। दबा हुआ दुख फिर उत्पन्न होता है, मिट जाने पर फिर उत्पन्न नहीं हो सकता।

५—यदि राग-द्वेष न किया होता तो त्याग व प्रेम न करना पड़ता।

६—यदि विषयों का चिन्तन न किया होता तो भगवत्-चिन्तन न करना पड़ता।

७—यदि भोग न किया होता तो योग न करना पड़ता।

८—यदि स्वार्थ-सिद्धि न की होती तो संसार सेवा न करनी पड़ती।

९—यदि अविचार न किया होता तो विचार न करना पड़ता।

१०—यदि शरीर-भाव न धारण किया होता तो आत्म-भाव न धारण करना पड़ता।

[illegible]—यदि किसी का अनहित न किया होता [illegible] न करना पड़ता।

[illegible]

क्या कोई रोग असाध्य है ?

[श्री प्रिय बाबू]

वास्तव में 'असाध्य' शब्द होना ही नहीं चाहिए। जब तुम कहते हो कि अमुक रोग असाध्य है, तो तुम वास्तव में कहते हो कि प्रकृति की नैसर्गिक धारा स्वास्थ्य की ओर न होकर, रोग की ओर है। यह बात ठीक नहीं है। प्रत्येक जीवित परमाणु चाहे वह रोग-ग्रसित भले ही हो जाय, स्वस्थ हो सकता है। क्योंकि वह जीवित है, वह प्रकृति की नैसर्गिक जीवन-शक्ति का केन्द्र है। इसलिए हम रोग-ग्रस्त परमाणु को अवश्य ठीक कर सकते हैं। यदि कोई रोग-ग्रस्त परमाणु हमारी इच्छा के अनुसार ठीक नहीं होता है, तो इसमें परमाणु का दोष नहीं, हमारा दोष है। जिस विधि से तुम उन परमाणुओं पर प्रभाव डालने का यत्न करते हो, वह ठीक नहीं है। किसी परमाणु की रक्षा करना ठीक वैसा ही है जैसा किसी मनुष्य की रक्षा करना। जब तुम किसी मनुष्य की रक्षा करते हो तो अपने सहज प्रेम के कारण उसे सदैव सोते-जागते अपनी शुभ कामनाओं द्वारा आशीर्वाद देते रहते हो। जाग्रत अवस्था में जान बूझ कर और सुषुप्ति अवस्था में मानसिक एकाग्रता के फल स्वरूप ये आशीर्वाद अपने आप तुम्हारे हृदय से निकलते रहते हैं। बस, जिस प्रकार तुम अपने प्रिय पात्र के लिए शुभ कामना करते हो, उसी प्रकार उस रोग-ग्रस्त अंग के लिए भी मंगल-कामना करो। इस कामना के प्रभाव को कभी व्यर्थ न समझो। ऐसा कदापि हो नहीं हो सकता कि तुम किसी जीवित परमाणु पर प्रभाव डालना चाहो और वह उसे ग्रहण न करे। क्योंकि वास्तव में जीवन और प्रभाव का स्रोत तो एक ही है। जीवन के लिए इच्छा-शक्ति का प्रभाव आवश्यक है और इच्छा-शक्ति के प्रभाव के लिए जीवन आवश्यक है। दोनों का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। अतएव कोई भी रोग असाध्य नहीं है।

वास्तव में शरीर कभी रोगी नहीं होता। शरीर और शरीर के परमाणु तो सदा प्राकृतिक अवस्था में चलते हैं। यह तो हमारा मन है, जो उसके मार्ग में गड़बड़ उपस्थित करता है और शरीर को रोगी बना देता है। इतना ही नहीं, जब शरीर स्वतः नीरोग बनने की चेष्टा करता है, तो उसके मार्ग में असाध्यता की कल्पना लाकर उसके कार्य को और भी दुस्तर कर देता है। वास्तव में हर परिस्थिति में शरीर की अवस्था मन की अवस्था पर निर्भर है। जब तुम किसी रोग को असाध्य कहते हो, तो उसका अर्थ होता है कि मन की अवस्था को असाध्य कहते हो। किन्तु यह असम्भव है, क्योंकि मन का स्वभाव ही चांचल्य है। यदि वह आज असाध्य है, तो वह सदा असाध्य कभी नहीं रह सकता। वह सदा एक रस रहने वाली चीज ही नहीं है। अतएव मन का असाध्य से साध्य होना अवश्यम्भावी है। और मन क्या है ? हमारे विचारों का पुंज और मन की शक्ति क्या है, हमारे विचारों की शक्ति। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हमारे विचारों में शक्ति होती है। हम जैसा सोचते हैं, वैसा ही बन जाते हैं। यदि हम अपने आप को कमजोर अनुभव करते हैं, तो हमें कौन ऊपर उठा सकता है। कोई नहीं। यदि हम अपने को बलवान अनुभव करते हैं तो हमें कौन रोक सकता है, कोई नहीं।

बस, उठो, रोगी की साध्यता-असाध्यता की भावना हृदय से दूर कर दो। तुम बलवान हो, बलवान होना, तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। जब तक तुम हो बलवान हो। न तुम मिट सकते हो और न तुम्हारा बलवान होना मिट सकता है।

"ईसाई वर्ग के सर्वोत्तम पुष्प"

श्रीमोहन जोशी की अन्तिम झाँकी

[लेखक—पादरी आर० एम० विल्किन्सन]

स्वर्गीय पादरी जे० डी० जोशी जी के सुपुत्र माननीय मोहन जोशी जी गण्यमान पुरुषों में थे। अल्मोड़े के दीन-हीन व्यक्ति से लेकर महात्मा गांधी तक सभी उनके जीवन से प्रभावित हुए हैं। वे एक सच्चे देशभक्त, सच्चरित्र, दीन मनुष्यों के सहायक थे। उनको देखकर एक बार महात्मा गांधी जी ने कहा था—"मोहन जोशी ईसाई वर्ग का सब से सुन्दर फूल है"। बड़ा शोक है कि यह फूल ता० ४ अक्टूबर १९४० के दिन सदा के लिए मुरझा गया।

उनकी एक मात्र बहिन मिस्सी जोशी जी के नैनीताल से अल्मोड़ा आने पर उनका शव ५ अक्टूबर को समारोह के साथ निकाला गया। उनके प्रति लोगों का आदर और कृतज्ञता उनके शव-संस्कार में स्पष्ट प्रमाणित होती थी। अल्मोड़े के कांग्रेसी व अन्य सभी जनों ने मृत आत्मा के प्रति बड़ी उत्सुकता के साथ प्रेम व आदर दर्शाया।

उनका मृतक शरीर और कफन सब खादी के स्वच्छ वस्त्र से आच्छादित थे। कफन के सिरे पर कांग्रेस का झंडा पाल की तरह लहरा रहा था।

संस्कार के समय चारों ओर आदरभाव और गम्भीरता विद्यमान थी। मानो समाधि लोगों की भक्ति को प्रदर्शित कर रहा था।

वे सद्कार्य का अनुकरण करने में सदा तत्पर रहते थे और धार्मिक विषयों में [illegible] थे। उन दिनों [illegible] की सदैव चर्चा का [illegible] मगर वे बीते [illegible] असम्भव ज्ञात हुई [illegible] एक सुन्दर माल साल में पूर्ण [illegible]

शारीरिक और आध्यात्मिक उन्नति के विषय में शिक्षा दें। उनकी इच्छा थी कि हमारे गिरजों में प्रार्थना की प्रणाली पाश्चात्य के बदले भारतीय हो। भारतीय वाद्य और भारतीय गान हों। प्रार्थना भारतीय रीति के अनुसार पृथ्वी पर बैठ कर और जूते उतार कर हो जैसा कि वर्तमान समय में हमारे गिरजों के अनेक नायक उचित समझते हैं। परन्तु उस समय वे समय से २० साल आगे और हमारे भाई समय से २० साल पीछे थे। इसलिए उनको नये विचार पूरे करने में सहायता और साहस नहीं मिला।

वे राष्ट्रीय पत्र 'शक्ति' व अन्य हिन्दी और अंग्रेजी पत्रों के जन्मदाता थे। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। उन्होंने अनेक लेख इतनी खूबी के साथ लिखे हैं कि लोग देखते रह जाते हैं। वे हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के सद्वक्ता भी थे।

उनका उद्देश्य न तो धन प्राप्त करना था और न आदर ही। वह था केवल 'देश-सेवा' करना। एक बार उनको ३००) रुपया मासिक पर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सेक्रेटरी का पद मिला। परन्तु उन्होंने इतनी बड़ी तनख्वाह लेना अस्वीकार किया। उन्होंने देखा कि दीन और धनाढ्य व्यक्ति के साथ एक सा बर्ताव नहीं हो रहा है, तो आपने पद व वेतन त्यागने में जरा भी संकोच नहीं किया।

मिस्टर मोहन जोशी ने भारतमाता के हेतु कठिन परिश्रम किया। वे सदा भारत की अच्छी दशा का स्वप्न देखते रहे। उनके हृदय में भारतमाता के लिए विमल स्थान था। वे अन्तिम समय तक भारतमाता के लिए चिन्तित रहे। [illegible] और कार्यकर्ता [illegible] भारतमाता की सेवा के हेतु [illegible] भारतमाता अब उनके सदृश [illegible]

अपनी बात

महोत्सव

दिन और दिन में क्या अन्तर है ? जो कल था, वही आज है और वही कल भी रहेगा। फिर भी हम अपने दृष्टि-कोण से उसमें अन्तर मानते हैं, किसी को शुभ और किसी को अशुभ समझने लगते हैं। जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में कोई दिन अच्छा और कोई बुरा माना जाता है, उसी प्रकार समाज के जीवन में भी कोई उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाता है और कोई अप्रतिष्ठा। जिन दिनों से समाज की प्रतिष्ठा-वृद्धि होती है, वही उसके लिए हर्ष के दिन हैं। इन्हीं को दूसरे शब्दों में हम त्योहार कहते हैं।

हम इन त्योहारों की बड़ी बाठ देखते हैं। क्यों ? क्योंकि यदि हम लेना चाहें तो इनसे हमें उनका एक संदेश मिल सकता है। यदि हममें उनसे संदेश ग्रहण करने की इच्छा नहीं है तो फिर हमारे लिए उनमें विशेषता ही क्या ? जैसे और दिन, वैसे ही ये त्यौहार के दिन। जैसे और दिन आते हैं और जाते हैं, वैसे ही एक दिन वह भी आयगा और चला जायगा।

दीपावली हमारे सामने है। हिन्दुओं के त्यौहारों में इसका विशेष स्थान है। इस त्यौहार के विशेष संदेश को यदि हम एक शब्द में व्यक्त करना चाहें तो वह होगा—पवित्रता। पवित्रता दो प्रकार की है। एक बाह्य और दूसरी अतरंग। दीपावली के इस पवित्र संदेश की ओर प्रायः सभी भारतवासियों का ध्यान आकृष्ट होता है। बाह्यतः सभी किसी न किसी परिमाण में स्वच्छ और पवित्र बनने की चेष्टा करते हैं, परन्तु अन्तरंग पवित्रता, हृदय की शुद्धि की ओर हम उतना ध्यान नहीं देते हैं। पर स्वामी राम के प्रेमियों के लिए तो इस दीपावली का महत्व सर्वोपरि है। क्योंकि इसी पवित्र दिवस के अवसर पर उन्होंने जन्म ग्रहण किया था, इसी पवित्र दिवस पर उन् संन्यास लिया था और इसी पवित्र दिवस पर उन् अपने नश्वर शरीर का त्याग किया था। साधार सांसारिक मनुष्य एक जीवन में एक ही बार ज लेते हैं और एक ही बार मरते हैं। किन्तु इ जीवन-मुक्त महात्मा एक ही जीवन में दो बार ज हैं और दो बार मरते हैं। जिस समय मनुष्य एक हृदय से ईश्वर की शरण जाता है अथवा जिस स उसके हृदय में ईश्वर के स्वरूप को जानने की के एक ही जिज्ञासा रहती है, उसी समय मानों उस दूसरा जन्म होता है। इसी लगन व प्रेरणा के फ स्वरूप जब साधक को अपने स्वरूप का अप अनुभव, प्रत्यक्ष अनुभूति होती है, जिस सम उसका देहाध्यास बिलकुल छूट जाता है, वही मा उसकी पहली मृत्यु है। धन्य है यह द्वितीय ज और प्रथम मृत्यु ! स्वामी राम ने अपने द्वितीय ज के अवसर पर अपने गुरु को इस प्रकार लिखा था—

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ जिसमें घर आने लिए प्रेरणा की गयी है। इस पत्र को मैंने पॉल परम धाम को भेज दिया है, श्रीगंगा जी की भें कर दिया है।

× × × ×

मरे हुओं से मिलने के लिए लोग उनको संदेश भेजकर नहीं बुला सकते। अलबत्ता आप मरक उनसे मिल सकते हैं। हम तो मर चुके। जीते ज ही मर चुके। घर वाले हमको बुलाने का यत्न न करें। हम उन्हें हो जायगे, तब तो मेल बहुत सुगमत से हो सकता है। सत्त्वगुण की गंगा जहाँ न हो, हमारा जाना होना बड़ा कठिन है।

× × × ×

जिस हृदय में ऐसी लगन हो, ऐसी जिज्ञासा हो, ऐसी मिलनपिपासा हो और हो उसके लिए ऐसे प्राणों की प्रबल आकांक्षा, उसके लिए क्या यह देहाध्यास का अंधकार का रहना संभव हो सकता है। देहाध्यास के हटने से साधक सारे विश्व के साथ तद्रूप हो जाता है। अपनी इसी अवस्था में स्वामी राम कहते हैं—

ऐ डूबते हुए सूर्य! तू भारतभूमि पर निकलने जा रहा है। क्या तू कृपा करके राम का यह संदेसा उस तेजोमयी भाग्यशालिनी माता की सेवा में ले जावेगा? क्या ही अच्छा हो, यदि ये मेरे प्रेम के आँसू भारत के खेतों में ओस की बूँदें बन जायें। जैसे शैव शिव को पूजता है, वैष्णव विष्णु को, बौद्ध बुद्ध को, ईसाई ईसा को, मुसलमान मुहम्मद को, वैसे ही मैं प्रेमाग्नि में निमग्न हो शैव, वैष्णव, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, संन्यासी, अछूत आदि प्रत्येक रूप में तुझ ही को देखता और पूजता हूँ। तू ही मेरी गंगा है, तू ही मेरी काली देवी, तू ही मेरी इष्ट देवी है और तू ही मेरे शालग्राम!

स्वामी राम के इस ज्ञान को समझने के लिए, स्वामी राम के इस प्रेम रस में डूबने के लिए, स्वामी राम के इस कर्मयोग में कार्यरत होने के लिए सब से पहले हमें अपने हृदय में जिज्ञासा की ज्योति जगाना चाहिए। और इस ज्योति जगाने के लिए इस दीपावली के महोत्सव से बढ़कर और कौन सा पुण्य अवसर हो सकता है। आइये, आज हम सब मिलकर बाहर दीपावलियों की ज्योति जगा कर अपने भीतर और बाहर ज्ञान के प्रकाश का दर्शन करें [illegible]

[illegible] है, [illegible] है, [illegible] है। नित [illegible] है, नित [illegible] है, नित [illegible], [illegible] है।

न्यूनतम कर्तव्य

संसार एक है या अनेक—यह प्रश्न पूछने में कुछ अच्छा नहीं मालूम होता। किन्तु यदि थोड़ा भी ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी एक दुनिया है। इस प्रकार जितने मनुष्य हैं, उतने ही संसार कहे जा सकते हैं। प्रत्येक अपने अपने संसार में ही रहता है। इनमें परस्पर सम्पर्क बहुत कम होता है। यहाँ तक कि एक ही शहर, एक ही मुहल्ला, एक ही बाड़ा, एक ही मकान और एक ही कमरे में रहने वाले दो मनुष्य कभी कभी एक ही संसार में रहते हुए भी एक में नहीं रहते। क्योंकि वास्तव में हमारी सहानुभूति के घेरे के अनुसार ही हमारा संसार छोटा या बड़ा होता है। हमारी सहानुभूति का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, हमारा संसार उतना ही विशाल और जितना संकीर्ण होगा, उतना ही लघु होगा। हम अपने सहानुभूति के पात्रों के सुख-दुख से ही सुखी दुखी होते हैं, शेष से हमें विशेष मतलब नहीं होता।

किन्तु जिस प्रकार हमारा स्थूल भौतिक जगत एक है, उसी प्रकार यदि हम अपनी वास्तविक उन्नति चाहते हैं, तो हमारा उपर्युक्त मानसिक जगत भी एक होना चाहिए। इसमें कहीं कोई सीमा नहीं बनायी जा सकती। हमें अपने परिवार, अपनी जाति, अपने प्रान्त, अपने देश, यहा तक कि सारे संसार के साथ तादात्म्य करना होगा। जिस प्रकार [illegible]

है, जो नित्य प्रति हमारे सम्मुख आ रहा है, वह इतने ही देशों तक सीमित रहेगा अथवा विश्व-व्यापी हो जायगा, इससे भारतवर्ष को लाभ होगा या हानि, इसमें हमें सहायता करना चाहिए या नहीं, इसमें किन मित्रराष्ट्रों की विजय होना चाहिए और किन की हार—ये समस्याएँ ऐसी हैं जिन पर विभिन्न लोग पृथक् पृथक् उत्तर देते और दे रहे हैं। किन्तु एक बात निश्चित है कि यह युद्ध दैवी कोप और प्राकृतिक संकट है। एक तो युद्ध-प्रवृत्ति ही स्वयं दैवी विधान के प्रतिकूल है और फिर इस युद्ध की नर-संहारकता का क्या कहना ! जहां अबलाओं को सैनिक अपना निशाना बनाते हों, जहां स्कूल जाने वाले बच्चों पर बम फेंके जाते हों, जहां अर्द्ध निद्रा में सोते हुए मनुष्य अग्नि में स्वाहा कर दिये जाते हों—वह निस्सन्देह दैवी कोप की पराकाष्ठा है।

ऐसी स्थिति में जो दैवी विधान की अनुकूलता में चलना चाहते हैं, उनका इस सर्वनाशक युद्ध के प्रति एक कर्तव्य, अवश्य कर्तव्य है। उन्हें कम से कम इसके निवारणार्थ विश्व-शान्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करना ही चाहिए। संसार में ऐसा भयानक संग्राम चल रहा हो और हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें अथवा अपने ही सुख-दुःख में मस्त रहें—यह हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता। यदि हम इसमें सर्वदा उदासीन रहते हैं, तो निस्सन्देह किसी न किसी रूप में उसका प्रतिफल हमारे ऊपर अवश्य पड़ेगा ही। इसीलिए एक हम [illegible]

प्रार्थनाओं का कोई मूल्य है या नहीं, कोई उनका सुनने वाला है या नहीं—इस विचार में भी हमें पड़ने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह तो कहने का, विवाद का विषय नहीं, स्वयं करके देखने, स्वयं अनुभव करने की बात है। अस्तु—

युद्ध के प्रति सात्विक भाव

युद्ध-परिणाम के विषय में हमारे हृदय में कैसा भाव होना चाहिए, इसके विषय में महात्मा गांधी जी ने 'हरिजन सेवक' में ऐसा उत्तर दिया है—

जब अंग्रेजों के प्रति घृणा और उन्हें सजा देने की इच्छा हो तब ऐसी हालत में रास्ता निकालना मुश्किल है। लेकिन अहिंसा ऐसे मौके पर ही अपना तेज दिखाती है। पहले तो हमें अङ्गरेज और उनकी चालबाजी—इन दोनों में भेद करना चाहिए। उनकी चालबाजी की हम निर्भय पूर्वक टीका भले ही करें, परन्तु उनसे घृणा न करें। गलतियां सब से होती हैं। मनुष्यमात्र गुण-दोष का पुतला है। उनकी गलतियां हम भले ही बतावें लेकिन उनका बुरा न चाहें। यही प्रार्थना करें कि उन्हें सद्बुद्धि मिले, न कि यह कि उनका नाश हो। सत्याग्रह की उत्पत्ति इसी मनोवृत्ति से होती है।

× × ×

यह सही है कि हिन्दुस्तान को हम अंग्रेजों से आजाद करना चाहते हैं। लेकिन इसके लिए यह जरूरी नहीं है कि हम जर्मनी का नाम चाहें। [illegible] हम अपनी ताकत से हासिल करें। [illegible]

ॐ

VYAVAHARIKA VEDANTA

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

"GOD IS REAL, WORLD UNREAL"
"SELF-REALIZATION THROUGH RENUNCIATION."

"RAMA"

VOL 1 | **November, 1940.** | **No. 11**

I am all in all.

I am the mote in the sunbeam,
and I am the burning sun.

"Rest here," I whisper the atom.
I call to the orb "Roll on."

I am the blush of the morning,
and I am the evening breeze:

I am the leaf's low murmur, the swell
of the terrible seas.

I am the net, the fowler, the bird
and its frightened cry;

The mirror, the form reflected; the
sound and its echo I

The lover's passion [illegible] the
[illegible]

[illegible]

The guest, the host, the traveller,
the goblet of crystal fine.

I am the breath of the flute, I am
the mind of man:

Gold's glitter, the light of the diamond,
The sea pearl's lustre wan.

The rose, her poet nightangle, the
songs from the throat that rise.

The flint, the sparks, the taper, the
moth that about it flies.

I am both good and evil, the deed
and the deed's intent:

Temptation victim, sinner, crime,
pardon and punishment

— RAMA
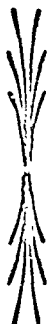
One is the state of a baby monkey that holds to the bosom of its mother. And other is the state of a tiny kitten that is being carried from place to place by the mother cat's holding it in her mouth.

In the first case the baby monkey although it clings to its mother for its life, still is apt to lose its hold, in trying moments. Similarly, a devotee of this type, although he tries to live, breathe, work and move in God, clinging to Him, as his All-in-All, yet there will be some trying moments when he loses the firm hold of God, for the time being.

In the case of the other type of devotion, the devotee completely surrenders his little self to the Lord, knowing that he will be carried by the Lord, like the tiny kitten held in the mouth of the mother cat.

The Divine Mother knows best where to carry, keep and nourish us. So one need not worry over the many trivial duties and cares of daily life.

If there is happiness anywhere, the happiness that knows no change, it is only in SELF SURRENDER. One who has surrendered himself to God alone is free from worry, suffering and the restlessness of life.

It is only a Soul of Self Surrender that takes joy in repeating:

O Lord, let others be great and famous but let me remain humble [illegible] and [illegible] [illegible]

Dear friend, are you sad and heavy, worried and depressed? Do you have any hard problems to solve? Is your life like a heavy cross hard for you to bear? Do you want to be free from all your physical, mental, financial and even spiritual worries and struggles? If so, there is the only way, the way of all saints and sages. Its door is ever open for you and one and all. It is SELF SURRENDER. Through its lovely portals you will be led into the Presence of God, where it is All Light.

Surrender yourself for your Individual Peace. Let the nations surrender themselves for the Universal Peace. Above all, the Lord knows what is best for you, for the Eastern and the Western world, so let us have the strength to fully surrender ourselves to His all-knowing wise Will or Providence. The place to surrender ourselves is where we are, now and here.

It is the tenacious self, which is the root cause of all troubles and disturbances within and without, individually and universally. It is not so easy to annihilate it, so let us offer it to His Service. Let it be completely surrendered NOW and HERE!

Let us be ever carried like the kitten in the mouth of its mother. After all, MOTHER knows best. Let us love and trust the UNIVERSAL MOTHER with perfect Self Surrender. May HER Will be done!

May SELF SURRENDER and PEACE [illegible] in Individuals and HARMONY and [illegible] among Nations!

[illegible] Sat [illegible] Om!

A pure heart is like unto a mirror; purify it with the polish of Love, and severance from all save God, until the Ideal Sun may reflect therein, and the Eternal Morn may dawn.

—BAHA-U-LLAH

The Song of a Vedantin

SWAMI SIVANANDA

Soham !	Soham !!	Sivoham !!!
Om Om Om Om Om		Om Om Om Om Om.
1. I am neither mind nor body		Immortal Self I am
I am witness of three states		Existence Absolute.
I am witness of three states		Knowledge Absolute.
I am witness of three states		Bliss Absolute.
Nothing exists,		Nothin belongs to me.
2 I am not this body.		This body is not mine.
I am not the Prana.		This Prana is not mine
I am not the mind.		This mind is not mine.
I am not the buddhi		This buddhi is not mine.
I am That I am		I am That I am.
I am That, I am That		I am That, I am That.
3 I am Sat, Chit		Ananda Swaroop.
Nitya Shudha Buddha		Mukta Swabhava
I am Svayam Prakasha		I am Santi Swaroop.
I am Akarta		I am abhokta
I am Asanga		I am Sakshi
4. Prajnanam Brahma		Aham Brahmasmi
Tat Twam Asi.		Ayam Atma Brahma
Satyam Jnanam		Anantam Brahman,
Ekam Eva		Adwatiyam
Sarvam Khalu vidham Brahma		Na Iha nana asti Kinchana

Twelve Secrets of Service.

By SWAMI OMKAR

1. Attain Peace by wishing Peace unto all

2. Find your own happiness in making others happy

3 Be lov[illegible] by lo[illegible]ing th[illegible] you w[illegible] to be loved by

4 Make [illegible]rself great by [illegible] greatne[illegible]

5 [illegible] transitory goods

6 Heal the pain in your [illegible] those that are sick in body

7 Enrich yourself before God by giving to the poor among men

8 Increase your own knowledge by imparting it to others

9 Elevate your own life by raising the downtrodden

10 Become strong as a whole by strengthening the parts that are weak

11 A[illegible] thou lovest thyself so love thy neighbour

12 Do unto others as you would hav[illegible] [illegible] to do unto you

विपय-सूची ।

एकाग्रता में विघ्न

द्वेष-दृष्टि

आनन्दधाम को चित्त चला, तो वैरी, विरोधी का ख्याल डाकू रूप होकर चित्त को ले उड़ा।

यूरुप में एक दिन एक तत्व-विज्ञान का लायक डाक्टर (आचार्य) अपने पास आने वालों की कुछ निन्दा सी करने लगा। उससे पूछा कि "आप शिकायत करते हो ?" तो बोला—"नहीं, मैं उनके चित्त की आध्यात्मिक दशा पर विचार करता हूँ—" (I study the psychology of their minds.)

दुनिया में हम लोग बराबर यही तो करते हैं। द्वेष-दृष्टि (और दुष्ट भाव) को कोई श्रेष्ठ सा नाम देकर आँखों पर परदा डाल लिया और इस सर्पनी को बराबर छाती से लगाये फिरे।

फिर जब कहा गया—"प्यारे डाक्टर ! सम्बन्ध वालों की आध्यात्मिक दशा अकेली विचार के योग्य नहीं होती। अपनी आभ्यन्तर दशा भी उसके साथ साथ विचारणीय है। साथी जो बिगड़े चित्त वाले मिले हैं, तो क्या आज-कल आप की आभ्यन्तर अवस्था बिल्कुल दूषण-रहित थी?" डाक्टर आदमी था सच्चा। कुछ देर चुप रह कर विचार करके बोला — "स्वामिन ! कहते तो बिल्कुल सच हो। वास्तव में जैसा मेरा चित्त होता है, वैसे चित्त और स्वभाव मेरे पास आकर्षित हो जाते हैं। औरों की अवस्था पर भला-बुरा चिन्तवन करते रहने से कभी झगड़ा निपटता भी नहीं। उन लोगों को क्या पकड़ूँ, सब मनों का मन मैं हूँ, सब चित्तों का चित्त मैं हूँ, अन्दर से ऐसी एकता है कि अपने तईं शुद्ध करते ही सब शुद्ध ही शुद्ध पाता हूँ। समीप का इलाज (अपने तईं ब्रह्ममय कर देना) तो हम करते नहीं, दूर के बन्दोबस्त (औरों के सुधार) को दौड़ते हैं। न यह होता है, न वह। ईश्वर-दर्शन तो तब मिलेगा, जब सांसारिक दृष्टि से प्रतीयमान वैरी, विरोधी, निन्दक लोगों को क्षमा करते हम इतनी देर भी न लगायें, जितना श्री गंगा जी तिनकों को बहा ले जाने में लगाती हैं या जितनी आलोक-किरणें अन्धकार के उड़ाने में लगाती हैं।

जब तक सर्व पदार्थों में सम 'धी' नहीं होती, तब तक समाधि कैसी ? विषम-दृष्टि रहते, योग की समाधि और ध्यान तो कहाँ, धारणा भी होनी असम्भव है। सम दृष्टि तब होगी, जब लोगों में भलाई-बुराई की भावना उठ जाये और यह क्योंकर उठे ? जब लोगों में से भेद-भावना उठ जाये और पुरुषों को ब्रह्म से भिन्न मान कर जो अच्छी-बुरी कल्पना कर रक्खी है उसे छोड़ दें। समुद्र में जैसे तरंगें होती हैं, कोई छोटी, कोई बड़ी, कोई ऊँची, कोई नीची, कोई तिरछी, कोई सीधी, पर उनकी सत्ता समुद्र से अलग नहीं मानी जाती,

उनका जीवन भिन्न नहीं जाना जाता। इसी तरह अच्छे-बुरे आदमी और अमीर-गरीब लोग तो तरंगें हैं, जिनमें एक ही ब्रह्म समुद्र ठाठें मार रहा है। अहाहाहा ! अच्छे-बुरे पुरुषों में से जब हमारी जीव-दृष्टि उठ जाये और उनको ब्रह्म-रूपी समुद्र की लहरें जान लें, तो राग-द्वेष की अग्नि बुझ जायगी और छाती में ठंडक पड़ जायगी। जो लहर ऊँची चढ़ गई है, वह अवश्य नीचे गिरती है। इसी तरह जिस पुरुष में खोटापन समा गया है, उसे अवश्य दुःख पाना ही है। परन्तु लहरों के ऊँच और नीच भाव को प्राप्त होते रहने पर भी समुद्र की पृष्ठ को क्षितिज धरातल (horizontal) ही माना है। इसी तरह वीचि रूप लोगों के कर्म और कर्म-फल के प्राप्त होते रहने पर भी ब्रह्म रूपी समुद्र की समता में फर्क़ नहीं पड़ता। लहरों का तमाशा भी परम सुखदायी और आनन्द वर्द्धक होता है ! पर हाँ, जो पुरुष उनसे भीग जाये या डूबने लगे, उसके लिए तो उपद्रव रूप है। समुद्र-दृष्टि होने से मन 'धीं' और समाधि होगी।

स्वार्थ, कपट।

उपासना की जान समर्पण और आत्म-दान है। यदि यह नहीं, तो उपासना निष्फल और प्राण-रहित है। भाई ! सच पूछो तो हर कोई लेने का यार है। जब तक तुम अपनी खुदी और अहङ्कार को परमेश्वर के हवाले न करोगे, तो तुम्हारे पास बैठना तो कैसा, तुमसे कोसों भागता फिरेगा, जैसे कृष्ण भगवान कालयवन से। उन आँखों वाले प्रज्वलित हृदय सूरदास ने [illegible] कहा है —

किन तेरो गोविन्द नाम धर्यो !
लेन-देन के तुम हितकारी मो ते कछु न सर्यो।
विप्र सुदामा कियो अजाची तंदुल भेंट धर्यो।
द्रुपदसुता की तुम पति राखी अम्बर दान कर्यो।
गज के फंद छुड़ाये आकर पुष्प जो हाथ धर्यो।
सूर की बिरियाँ निठुर ह्वै बैठे कानन मूँद धर्यो।

यदि चाहो, परीक्षा तो करें भजन (उपासना) से फल मिलता है या नहीं। तो प्यारे ! याद रहे 'परीक्षा का भजन असङ्गत है और असंभव है,' क्योंकि निष्कपट भजन तो होगा वह जिसमें फल और फल की इच्छा वाले अपने आप को इस तरह परमेश्वर के भेंट कर दें, जैसे अग्नि में आहुति।

यह विनती रघुबीर गुसाईं !
और आस विश्वास भरोसो हरो जीव जड़ताई।
चहों न सुमति सम्पति कछु रिद्धि सिद्धि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़े अनुदिन अधिकाई।

यदि कोई कहे, आहुति हो जाने में क्या स्वाद रहा ? तो ऐसा पूछने वाले को स्वाद (आनन्द) का स्वरूप ही विदित नहीं। खुद (अहम् भाव) के लीन हो जाने का ही नाम है, स्वाद, आनन्द।

बच्चे ने जब अपना नन्हा सा तनु और भोला-भाला मन माता की गोद में डाल दिया, तो सारे जहान में उसके लिए कौन सा आराम शेष रहा, और कौन सी चिन्ता बाक़ी रही। आँधी हो, वर्षा हो, भूकम्प हो, युद्ध हो, उसका बाल बाँका नहीं होगा। कैसा निश्चिन्त है ! क्या मीठी नींद सोता है और बेखौफ़ जागता रहता है !

अपने अनन्त में अविश्वास है तो मौत में गोली [illegible] लेने। राम

वेदों के अध्ययन की आवश्यकता

[लेखक—श्रीसम्पूर्णानन्द]

साधारण हिन्दू जनता वेदों के नाम से प्रायः परिचित है। जो लोग नाम से परिचित हैं, उनमें से भी बहुत कम ऐसे हैं, जिन्होंने किसी भी वेद की पोथी आँख से देखी है। वेदों में है क्या, यह जानना तो बहुत दूर की बात है। सामान्यतः पढ़े-लिखे लोगों ने, जिसमें अधिकांश पंडित समाज भी है, ऐसा मान लिया है कि वेद अपौरुषेय, अनादि, स्वतः प्रमाण ग्रंथ हैं, धर्म तत्व का सार उनमें मिलता है, अन्य सब धर्म-ग्रन्थों में एक प्रकार से उनकी विस्तृत व्याख्या है और बस। यह इतना मान लेने पर इति-कर्तव्यता हो जाती है, वेदों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रह जाती। वेदों की पवित्रता इतनी बढ़ा दी गयी कि वह अछूत हो गये। कोई उनके पास जाने का नाम ही नहीं लेता। जो वेद स्वतः प्रमाण का पद रखते हैं, उनको अब प्रमाण रूप से पेश करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। लोग छोटे-मोटे दार्शनिक लेख लिखते हैं और उनमें प्रमाण की जगह वेद मंत्र नहीं, भगवद्गीता के श्लोक उद्धृत करते हैं। यह पाण्डित्य की खान समझी जाती है। किसी को यह नहीं सोचते कि गीता को स्वतः प्रमाणत्व नहीं प्राप्त है। जो अपने को हिन्दू कहता है, वह वेद की प्रामाणिकता से इनकार नहीं कर सकता परन्तु भगवद्गीता की मान्यता न मानता [illegible]

[illegible]

जातीय चरित्र बना है, जिन विचारों के रंग में हमारी संस्कृति रंगी है, उनका स्रोत वेदों में ही है। मैं इस लेख तथा इसके बाद के एकाध लेख में इस प्रकार की कुछ बातें दिखलाऊँगा। इन बातों में एक भी नयी अर्थात् मेरी निज की खोज नहीं है, पर इनसे लोगों का ध्यान वेदों की ओर आकृष्ट होने में सहायता मिलनी चाहिए।

वेदों में धर्म, उपासना, ज्ञान की सामग्री है—यह तो लोग मान लेते हैं पर इतना ही नहीं है। उनमें प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री भी भरी पड़ी है, जिससे हमारे इतिहास पर गहरा प्रकाश पड़ता है। वैदिक काल कितना पुराना है अर्थात् हमारी संस्कृति की परम्परा कितने पीछे तक जाती है, यह रोचक प्रश्न है। इसका उत्तर दूसरे साधनों से भी देने का प्रयत्न किया जाता है परन्तु स्वयं वेद में भी ऐसी बातें मिलती हैं, जो इस काम में सहायता देती हैं। इसका एक उदाहरण देता हूँ—

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ८५ वें सूक्त में सूर्य की लड़की सूर्या के विवाह का प्रकरण है। सोम भी उसका पाणिग्रहण करना चाहते थे परन्तु वह अश्विद्वय की—दोनों अश्विनों की, जो पुराणों में अश्विनीकुमार के नाम से विख्यात हैं—पत्नी हुई। सूक्त का १३वाँ मन्त्र कहता है—

> सूर्याया वहतुः प्रागात्, सविता यमवासृजत्।
> अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥

इसका अर्थ या यह है कि सविता (सूर्य) ने [illegible]

अब कुम्भ राशि के लगभग पौष-माघ के महीनों में होती है, वह उन दिनों सिंह राशि के आसपास भाद्रपद में होती थी। ज्योतिर्गणना से यह अंतर लगभग १५,००० वर्षों में पड़ सकता है। अतः यह मंत्र आज से १५,००० वर्ष पूर्व का हुआ, या यों कहिये कि आज से १५,००० वर्ष पूर्व के समय का वर्णन करता है।

यह एक उदाहरण है। ऐसे ही अनेक स्थल पड़े हैं, जिन पर विचार करने से हम उन स्थानों को भर सकते हैं, जो हमारे ही नहीं, सभ्य समाज मात्र के इतिवृत्त में अब तक रिक्त पड़े हैं। इतना तो पता चलता ही है कि यह इतिहास कम से कम १५,००० वर्ष तक जाता है। इससे पहिले भी जाता ही होगा, क्योंकि सभ्यता के उदय काल में ही इतना ज्ञान कहां से हो सकता था कि लोग सूर्य की गतिविधि को आँक कर उसको नक्षत्रों की परिभाषा में बतला सकें।
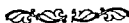
गुरु का स्वरूप

१

आत्मा ही हमारा गुरु है। जीवन में कुछ दिनों तक मनुष्य उससे असंतुष्ट सा रहता है। जितना उसे प्राप्त होता है, उससे संतोष न मान कर वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए चेष्टा करता है और ईश्वर से प्रार्थना करता है। जब धीरे धीरे उसका हृदय इतना शुद्ध हो जाता है कि उसे अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति की अपेक्षा ईश्वर के स्वरूप को जानने की इच्छा तीव्र हो जाती है, बस, ऐसे समय पर ही उसे ईश्वर का वरदान मिलता है। ईश्वर गुरु के रूप में आता है और भक्त को परम सत्य की शिक्षा देता है। गुरु के सत्संग से उसका हृदय अधिकाधिक शुद्ध होकर अन्तर्मुखी होने की योग्यता प्राप्त करता है। जब हृदय संकल्प-विकल्पों से पूर्णतया शून्य हो जाता है, जब उसमें किसी प्रकार का भी कम्पन नहीं होता, तो वही विशद शान्ति आत्मा का स्वरूप है।

२

प्रभु हमारे भीतर है। ध्यान का अर्थ है इस मिथ्या विचार को हटा देना कि वह बाहर है। यदि वह सचमुच परदेशी और अपरिचित है तो उसकी प्रतीक्षा करने से लाभ? वह आयगा भी और चला भी जायगा। फिर उसके अनिश्चित मिलाप से हमें क्या मिल सकता है? हां, जब तक तुम अपने आपको शरीर समझते हो, अपने को एक व्यक्ति मात्र मानते हो, तब तक तुम्हें गुरु, बाह्य गुरु की भी आवश्यकता है, [illegible] प्रकट होगे। किन्तु जब शरीर में तल्लीन होने का मिथ्या भ्रम [illegible] है कि आत्मा ही हमारा गुरु है।

—महर्षि रमण के उपदेशामृत से

स्वामी राम और हिन्दू-समाज

[लेखक—श्रीरामशरण बी० ए०]

राम हिन्दू-समाज में पैदा हुए थे और इसी में उनका पालन-पोषण हुआ था। अन्त में, वे सन्यासी हो गये थे—यह सन्यास आश्रम भी हिन्दू-समाज-संगठन का एक आवश्यक अङ्ग है। यद्यपि राम एकान्त-प्रिय थे किन्तु वे समाज की आवश्यकता को पूर्ण रूप से समझते थे। उन्होंने कभी इसकी अवहेलना नहीं की। वे कहते हैं—

हमें मध्य मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए—इसी में हमारा-चातुर्य है और इसी में हमारी रक्षा। एकान्त अव्यावहारिक है और समाज घातक। हमें अपना सर रखना होगा एकान्त में और हाथ समाज में। सदैव स्वतंत्र रहो और सहानुभूति-शून्य भी न बनो।

राम समाज से ऊपर थे किन्तु वे समाज के लिए काम करते थे। उन्होंने अनुभव किया था कि हिन्दू-समाज-व्यवस्था में अनेकों बुराइयाँ आ घुसी हैं। वह पत्थर के समान कठोर और कांच के समान चटखने वाली है। इसमें उन्हें अकर्मण्यता और विनाश के लक्षण दिखाई देते थे। वे समाज से इन्हीं बुराइयों को दूर करने के लिए उत्सुक थे। किन्तु वे इसे तोड़ना नहीं, वरन् इसे नये रूप में देखना चाहते थे। प्राचीन ऋषियों ने समाज-व्यवस्था के लिए जो आवश्यक [illegible] किये हैं—[illegible] [illegible]

से चलना चाहें, हाथ से सूँघना चाहें अथवा कान से खाना चाहें तो क्या यह वांछनीय हो सकता है! नहीं, इनके द्वारा तो हम पुनः जीवन-विकास की सब से पहली सीढ़ी में पहुँच जायंगे। हमारा जीवन उस सजीव पिण्ड से प्रारम्भ होता है जिसे 'प्रोटोप्लाज्म' कहते हैं। इसमें पेट के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। पेट ही आँख, कान, नाक और पैरों का काम करता है। हम ऐसी दशा में पहुँचने के इच्छुक नहीं हो सकते। इसीलिए कार्य-विभाजन न्यायसंगत और आवश्यक है। और इसी कार्य-विभाजन के सिद्धान्त पर प्राचीन काल में भारतवर्ष में जाति-व्यवस्था की स्थापना की गयी थी। जाति-व्यवस्था का शुद्ध अर्थ था कार्य-विभाजन। एक आदमी पुरोहित और धर्माचार्य का काम करता था और दूसरा योद्धा का, केवल इसलिए कि वह पहले की अपेक्षा अधिक युद्ध-प्रिय और राजनैतिक वृत्ति-सम्पन्न था। उसमें हथियार चलाने, शत्रुओं से लड़ने और पराजित करने की विशेष योग्यता थी, इसलिए वह पुरोहित के अधिकार कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता था। यही कार्य-विभाजन का सिद्धान्त है। कुछ ऐसे लोग भी थे, जो अन्य सांसारिक कर्तव्यों—दूकानदारी आदि के लिए अधिक [illegible] थे। वे धार्मिक कृत्यों की अपेक्षा दूकानदारी के [illegible] से सम्पादन कर सकते थे। [illegible]

सीमा से अधिक बढ़ा दी गयी। उसे वह महत्व दिया गया, जो वास्तव में हमारे हृदयस्थ आत्म-देव को मिलना चाहिए। व्यवहार रूप से मनुष्य हो गया केवल मनुष्य-शरीर। केवल हाड़-मांस को ही हम मनुष्य मानने लगे। ब्राह्मणों में, क्षत्रियों में अथवा वैश्यों और शूद्रों में, जो अनादि और चिरन्तर आत्मदेव है, वह हमारी आँखों से सर्वथा ओझल हो गया।

प्राचीन महात्माओं की भाँति, जो समय समय पर हिन्दू-धर्म के उद्धार और विकास के लिए जन्म लेते रहे हैं, स्वामी राम ने हमारे देश की सामाजिक उन्नति के लिए 'व्यावहारिक वेदान्त' का निर्देश किया है। वे कहते हैं—

व्यावहारिक समझ-बूझ न होने के कारण हमारे सामाजिक जीवन में अनेकों बुराइयाँ आ घुसी हैं, जैसे शारीरिक परिश्रम के कामों से घृणा, अस्वाभाविक वर्णभेद और फिर उन भेदों के भीतर अनेकों उपभेद, विदेश-परिभ्रमण के प्रति अरुचि, बाल-विवाह, स्त्रियों का अज्ञान और दौर्बल्य, शारीरिक और मानसिक ह्रास। इस प्रकार हमारी सामाजिक अवनति की जो कथा है, उसका मानना करना अति कठिन है। 'बर्क' ने बहुत ही ठीक कहा है—सुधार एक ऐसी वस्तु है, जो दूर पर रहने से ही हमारे मन को प्रसन्न किया करती है। प्राचीन रूढ़ियों के जाल को तोड़ना सचमुच दुस्तर कार्य है। इसका अनिवार्य फल यह होता है कि सेवक तो समाज पर और समाज सेवकों पर [illegible] में [illegible]

[illegible]

ओह, यदि कहीं यह बात संभव होती! नीचे गिरने वाला समाज कभी आपको अछूता नहीं छोड़ सकता। तुम समाज के साथ ही ऊपर उठ सकते हो और समाज के साथ ही तुम्हें नीचे गिरना होगा। असम्भव, यह तो नितान्त असम्भव है कि कोई अपूर्ण समाज में पूर्ण बन सके। क्या हाथ अपने आपको शरीर से पृथक् रख कर बलशाली बन सकता है? कदापि नहीं।

बहुत दिनों से यह संकीर्ण, वेदान्त-विरोधी विचार भारतवर्ष में फैला हुआ है और उसी के कारण आज हमारी जाति की ऐसी दयनीय और छिन्न-भिन्न स्थिति हो गयी है। होनहार युवक! भारत का भविष्य तुम्हारा भविष्य है और तुम उसके लिए उत्तरदायी हो। याद रखो, केवल कायरों के ऊपर ही बहुमत का मिथ्या जादू चलता है। केवल एक आत्मदेव ही मनुष्यों के हृदयों और विचारों पर शासन करता है। शरीर का शासक कौन है—इसकी परवाह करोगे? केवल बी० ए० और एम० ए० की डिगरियाँ तुम्हें विश्व-विद्यालय से मिल सकती हैं। किन्तु तुम कायर बनना चाहते या बहादुर—इसका निर्णय तुम्हें स्वयं करना होगा। बोलो, बोलो, तुम क्या बनना चाहते हो—गुर्गे और गुलाम अथवा वीर और सत्पुरुष। [illegible] और गुरुता ही इतिहास की परीक्षा में ठहर सकते हैं। 'न्यूटन' ने गति के दूसरे नियम में बतलाया है कि एक स्थिर पदार्थ पर बल पड़ता है, उसकी स्थिति में अवश्यमेव कुछ न कुछ अन्तर पड़ता है। [illegible]

[illegible]

परिवर्तित करो, जहां उसकी अत्यन्त उपयोगिता है अर्थात् जन-समाज को गतिशील बना डालो। उठो, काम करो, काम में जुट पड़ो।

कट्टर हिन्दुओं के मुख पीछे की ओर हैं, वे भूतकाल में रहते हैं। अंग्रेजी पढ़े हुए अधीर सुधारक पाश्चात्य प्रेमी हैं। वे भारतवर्ष को हूबहू दूसरा इंग्लैण्ड बना देना चाहते हैं। ऐसे लोगों को अभिमुख करके राम कहते हैं—

भूतकाल को वर्तमान काल के अनुरूप सांचे में ढालो और निर्भय होकर अपने शुद्ध और सबल वर्तमान को भविष्य की दौड़ में दौड़ने दो। हमारे पूर्वजों ने हमारे लिए जो सम्पत्ति छोड़ी है, उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। जो समाज इस सम्पत्ति का त्याग करता है, वह बाह्य कारणों से नष्ट हो जायगा। किन्तु इसकी 'अति' भी हमारे लिए भयंकर है। जिस समाज में इसका, आवश्यकता से अधिक, प्राधान्य हो, उसका भीतर से नाश हुए बिना न रहेगा।

दलित जातियों के बारे में राम ने कहा है—बस यही तो राष्ट्रीय वृक्ष की जड़ें हैं। जिन्हें हम उच्चवर्ग कहते हैं वे इसके फल रूप हैं। यदि जड़ों की उपेक्षा करोगे तो फिर क्या हाथ लग सकता है?

धनवान् पुरुषों के द्वारा मिथ्या गौरव का आभास प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु सभ्यता तो गरीबों के द्वारा ही आगे बढ़ती है। इसलिए काम है, इन्हीं जड़ों को सींचना।

तुम तलाश करो गरीबों को, धनवान् तो संसर्ग से बचने के लिए यत्नशील रहते हैं।

जो इन निम्न श्रेणियों को बिल्कुल बेकार समझते हैं, उनसे राम का कहना है—

शून्य का कोई मूल्य नहीं, किन्तु जब किसी अंक के दाहिनी ओर रख दिया जाता है, तो वही शून्य उस अङ्क के मूल्य को दस गुना बढ़ा देता है। इसी प्रकार ये दलित जातियाँ भी हिन्दू-समाज के मूल्य को न जाने कितना अधिक बढ़ा सकती हैं।

जैसे बच्चे के लिए शारीरिक विकास की प्रत्येक अवस्था आवश्यक है, उसी प्रकार नैतिक और आध्यात्मिक विकास के मार्ग में भी शैशव, बाल्यपन आदि अवस्थायें आवश्यक और अनिवार्य हैं। जिन्हें आप पापी कहते हैं, वे नैतिक बच्चे हैं और क्या बच्चों में अपना एक सौंदर्य नहीं होता? जिन्हें तुम भूल से "पददलित" कहते हो, वे अभी तक "उठे" नहीं हैं। वे हैं विश्वविद्यालय के पहली कक्षा में जैसे कि तुम भी किसी समय थे।
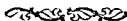
आत्मा-परमात्मा

परमात्मा निस्संदेह हमारे हृदय के अन्तस्तल में है। वह हमारे भीतर चिरन्तर आनन्द का मूर्त रूप है। वह एक है, अद्वितीय है, अखण्ड है, सच्चिदानन्द है, मन-बुद्धि का आदि का द्रष्टा और मन-असन से परे है। संक्षेप में, प्रत्येक व्यक्ति में सर्व सम्बन्धों से रहित जो 'मैं', 'शुद्ध मैं' है, वही उसका सच्चा स्वरूप है।

—जगद्गुरु शंकर

गीतानुसार धर्म-अधर्म-विवेक

[ब्रह्मलीन श्रीमान् आर० एस० नारायण स्वामी]

'धर्म' शब्द की अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं। यहाँ हम एक सबसे सरल व्याख्या पर विचार करते हैं। वह यह है कि धर्म शब्द बहुत स्थानों पर स्वभाव, गुण के अर्थ में बरता जाता है, जैसे चक्षु का धर्म देखना, श्रोत्र का धर्म सुनना, इत्यादि। जिस प्रकार अग्नि का धर्म जलाना, पानी का धर्म गलाना, हवा का धर्म सुखाना है, उसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का स्वभाव, प्रत्येक पदार्थ या गुण उसका धर्म कहलाता है। इससे आगे बढ़ कर प्रत्येक प्राणी की प्रकृति भी उसका धर्म कहलाती है। इस प्रकार धर्म का अर्थ केवल धारण करना, ग्रहण करना, नीति, प्रजा की रक्षा इत्यादि के नियम, आत्म-कल्याण की साधना तथा अनुभवी पुरुषों की बाँधी हुई मर्यादा ही नहीं है किन्तु पूर्व जन्म-कृत प्रारब्ध, कर्मों से बनी हुई प्रकृति अर्थात् स्वभाव या गुण भी है। इसी लिए प्रारब्ध कर्मों से बनी हुई अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार चलना धर्म और उसके विरुद्ध चलना अधर्म कहलाता है। जैसे प्रत्येक इन्द्रिय का अपने स्वभाव के अनुसार चलना 'धर्म' और स्वभाव-विरुद्ध चलना 'अधर्म' कहलाता है, वैसे ही प्राणी का अपनी प्रकृति के अनुसार चलना 'धर्म' और उसके विरुद्ध चलना 'अधर्म' कहलाता है। फिर जैसे मनुष्य का अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार चलना 'धर्म' और उसके विरुद्ध चलना 'अधर्म' नाम पाता है, वैसे ही मनुष्य के देह के भीतर जो उसकी प्रकृति का भी मालिक, उसका अपना आप (देही) है, उस अपने आप (अर्थात् आत्मा) का भी अपने वास्तविक [illegible] अकर्ता अभोक्ता साक्षी) के अनुसार [illegible] उसके विरुद्ध चलना 'अधर्म' [illegible] मनुष्य का अपना आप [illegible] साक्षी स्वभाव की परवा [illegible] मन के स्वभाव में आसक्त [illegible] अपना स्वभाव मानकर उनके अनुसार विचरता है, तो इसका नाम अधर्म होता है; और जब इन्द्रियों या मन के स्वभाव से निरासक्त होकर वह केवल अपने अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी स्वभाव में ही विचरता है, तो इसका नाम धर्म होता है। इसी आशय को लेकर भगवान् गीता में अर्जुन को ऐसा उपदेश देते हैं कि—

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥"

अर्थात् इन्द्रिय का इन्द्रिय के अर्थ (विषय) में रागद्वेष रहता है (यह इन्द्रिय का स्वभाव ही है), पुरुष को चाहिए कि वह अपने आपको इस राग-द्वेष रूपी स्वभाव के वश में न आने दे, क्योंकि ये दोनों (राग-द्वेष) मनुष्य की उन्नति के मार्ग में बटमार (डाकू या विघ्न डालने वाले) हैं और धर्म के इसी आशय को लेकर, इसी श्लोक के बाद, भगवान् धर्म-विषय में अर्जुन को ऐसे कहते हैं:—

"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः पर-धर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

पराये अच्छे अनुष्ठान किये हुए धर्म से अपना गुण-रहित धर्म भी श्रेष्ठ है। निःसन्देह अपने धर्म में तो मृत्यु भी श्रेष्ठ है, परन्तु पराया धर्म भयकारक होता है। इस प्रकार इन्द्रियों के स्वभाव के वश में न होना, बल्कि हो सके तो इन्द्रियों के स्वभाव को नियम में लाकर अपने वश में रखना अर्थात् उन्हें मर्यादा में बाँधना—यह आशय भी धर्म शब्द से स्पष्ट निकलता है। इसी को गीता में बहुत स्थानों पर स्पष्ट किया गया है, और महाभारत (शां. प. २९४, २९) में भी इसी को ऐसे स्पष्ट दर्शाया है:—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, और मैथुन, ये सब पशुओं और मनुष्यों के लिए, एक ही समान स्वाभाविक है। मनुष्यों में पशुओं से कोई अधिक विशेष वस्तु है तो वह धर्म, अर्थात् उन स्वाभाविक

किसी का अस्तित्व नहीं हो सकता। नाम और रूप सर्वथा अभिन्न हैं। भाषा और विचार अभिन्न हैं। वस्तु मात्र ही केवल नाम है। इस दृश्य जगत का अनुभव शब्दों के बिना, नामों के बिना एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकता। प्रत्येक वस्तु का नाम होना ही चाहिए। जब किसी मनुष्य को पुकारोगे तो उसका नाम लेकर ही। निस्संदेह ब्रह्म के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है। फिर भी व्यवहार में केवल ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म कहने से काम नहीं चलेगा। प्यास लगने पर कहना ही होगा—गोविन्द, थोड़ा पानी पिलाओ और ये नाम बिना ओम के रह नहीं सकते, इसलिए ओम् ही सब कुछ है।

ओम ही संन्यासियों और वेदान्तियों का परिचय-चिह्न है। ओम के द्वारा ही ये संसार में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करते हैं। प्रार्थना और आशीर्वाद—दोनों में ओम का प्रयोग होता है, ओम के प्रयोग से इन दोनों की शक्ति बढ़ जाती है। ओम के भक्त सभी कार्यों का श्रीगणेश ओम से ही करते हैं। साधक के लिए ओम सीढ़ी रूप है, उसके द्वारा वह आश्चर्य-मग्न करने के महिमामय शिखरों पर आसानी से चढ़ सकता है। ओम के द्वारा आध्यात्मिक जगत के उच्चतर लोकों के नियम अपने आप मालूम होने लगते हैं। ओम के ध्यान से तुम्हें निर्भयता, स्वतन्त्रता, सर्वज्ञता, आनन्द और अमर पद प्राप्त होगा। ओम से तुम्हें आत्मज्ञान होगा और तुम स्वतन्त्र ईश्वर न रह कर आत्मवान होगे। यह तुम्हें ईश्वरतुल्य बना देगा।

[illegible]

विक्षेप रहित और चित्त एकाग्र हो जायगा। तुम्हारे अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोष को जो एक अपूर्व शान्ति और सामंजस्य प्राप्त होगा, उसका वर्णन नहीं हो सकता, तुम्हारा स्वर अनादि और अनन्त ब्रह्म के अनुकूल होगा।

जब कभी थकावट मालूम हो या सिर दर्द करता हो, तो तेजी से टहलो और टहलते हुए ओम का उच्चारण करो। ओम् के उच्चारण के साथ यह भी अनुभव करते चलो कि तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर में दिव्य शक्ति भरती जा रही है। वास्तव में ओम का गान यह सर्व-सुलभ, शक्ति-शाली और अव्यर्थ महौषधि है, जो सभी प्रकार के रोगों को दूर कर सकती है। ओम के साथ कोई दुःख, कोई अशान्ति नहीं रह सकती। जैसे हमें रोज दिन में दो-तीन बार खाना पड़ता है वैसे ओम का गान भी दिन में दो-तीन बार करना चाहिए। ओम ही तो ब्रह्म और आत्मा है न? इसलिए ओम् के गान का अर्थ होता है कि हम शक्ति के उस आदि स्रोत की शरण जाते हैं, जिसका भाण्डार अक्षय है, उससे चाहे जितना ग्रहण किया जाय वह कभी चुक नहीं सकता। ओम का गान करते हुए अपने को पूर्ण स्वस्थ अनुभव करो। ओम के कम्पन से सभी प्रकार के रोगों के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। स्वास्थ्य-लाभ के लिए किसी सुखद आसन से बैठ कर धीरे स्वर में ओम का जप करो।

प्राणायाम के अभ्यास के साथ तुम ओम का संयोग कर सकते हो। कुम्भक के समय 'ओ' का, रेचक के समय 'म' का ध्यान करना चाहिए। इससे प्राणायाम की शक्ति बढ़ जाती है। यही सच्चा प्राणायाम है। [illegible] श्वास-प्रश्वास लेते की क्रिया [illegible] समय 'ओ' और [illegible] समय 'म' करो। [illegible] कर सकते हो। [illegible] अर्थ पर ध्यान करो। [illegible] इससे

भारतीय दर्शनों में चित्त

[लेखक—श्रीयुत श्रीराम श्रीवास्तव्य, एम० ए० एल० एल० बी० (इतिहास), एम० ए० (संस्कृत साहित्य), एम० ए० (संस्कृत दर्शन), प्रोफेसर आफ संस्कृत, ईसाबेला थोबर्न कालिज, राजकीय विश्वविद्यालय—लखनऊ]

आत्मा, जिसका उपलक्षक अहंभाव है, अविद्यावच्छिन्न होकर कई शरीरों से आवृत है। पहिले तो कारण शरीर है, जिसे अन्नमय कोश भी कहते हैं और जो सुषुप्त्यवस्था का अभिमानी है। तदनन्तर सूक्ष्म शरीर है, जिसके अन्तर्गत विज्ञानमय कोश, मनोमय कोष और प्राणमय कोष हैं। तदुपरि स्थूल शरीर है, जिसे अन्नमय का व्यपदेश है। स्थूल दृष्टि से देखने पर इसी का प्राधान्य प्रतीत होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्ध यही है और जीवन के समस्त कार्यों का निर्वाह इसी के द्वारा होता है। महर्षि गौतम न्यायसूत्र प्रणेता ने इसकी परिभाषा "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" की है और चार्वाक के मत में इसी प्रधानता के आभास से इसे आत्मा माना है। परन्तु सूक्ष्म विचार से सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा इसकी गौणता सिद्ध है। सूक्ष्मशरीर इन्द्रियों, प्राणादिकों और अन्तःकरण का समुदायरूप है। जीवन में भौतिक पदार्थों का ज्ञान, तत्प्रेरित उपभोग, इच्छा, भाव, वेदना, और संस्कार इसी के आश्रय हैं। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का एक अधिष्ठान में होना इसी के द्वारा सिद्ध है। अन्यथा कृतव्याघात तथा अकृताभ्यागम की उपस्थिति होगी, और जो कर्ता हो वही भोक्ता भी हो—यह सर्व सम्मत सिद्धान्त अनुपपन्न हो जावेगा। जीव के जन्मजन्मान्तर में अविच्छिन्न अस्तित्व का आधार सूक्ष्म शरीर ही है। यह लौकिक मृत्यु से जिसका वस्तुतः अर्थ स्थूल आवरण से पृथक्-करण है, अपरामृष्ट रहता है और स्वयं तत्वज्ञान के होने पर अविद्याकृत अध्यास निवृत्त्यनन्तर छिन्न हो जाता है। भगवान् कृष्ण ने।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ (भ० गी०)

इस उक्ति में यह आशय आक्षिप्त है। जीव-देहा के ऐक्य से शरीर की त्रैकालिक सत्ता सिद्ध है। इसके अतिरिक्त यह भी असंदिग्ध है कि जीव के सूक्ष्म शरीर का विनाश मृत्यु से, जिससे अर्जुन भयभीत थे, नहीं हो सकता और वह जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो, बना ही रहता है। अतः स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर का प्राधान्य सुस्पष्ट है।

और भी सूक्ष्मतर दृष्टि से निरीक्षण करने पर इस समुदायरूप में भी प्राधान्य का तारतम्य दिखाई पड़ता है। कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियाँ जो शब्दरूपरसगन्धस्पर्शसम्बन्धी ज्ञान के प्रत्यक्ष में साधन हैं, प्रधान हैं और इनकी भी अपेक्षा आन्तरिक इन्द्रिय, जिसके सहयोग न होने से पदार्थों का तत्तदिन्द्रियों से सन्निकर्ष होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं हैं, प्रधान है। यह अन्तःकरण चित्त आदि पदों से वाच्य है और सर्व प्रकार के ज्ञानों में करण होने के कारण एक विशिष्ट प्रकार की इन्द्रिय ही है। अनुभव, स्मृति, इच्छा, सुख, दुःख, प्रयत्न और वासना इसी के आश्रित हैं। निष्कर्षतः मानव जीवन का सार है, अनन्त जगत् का दर्पण है और मोक्षोपलब्धि में साधनतम् है। निम्नलिखित शास्त्रोक्तियाँ इस विषय में प्रमाण हैं—

(१) 'व्यक्ते तु चित्ते न पुनः भवाशा'

(विवेक चूड़ामणौ)

अर्थात् चित्तग्रन्थि के छूट जाने पर जन्म की सम्भावना नहीं है।

(२) 'चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन'

(शङ्कराचार्यपादाः)

यह नामरूप में विकृत जगत् का भान चित्त ही के द्वारा है। इसके अभाव होने पर कुछ भी विकल्प ज्ञान नहीं रहता।

सांख्य और योग दोनों सिद्धान्त में द्वैतवादी हैं। और दोनों सत्कार्यवाद के मानने वाले हैं, अर्थात् कार्य-कारण से भिन्न नहीं है किन्तु उसी का रूपान्तर है, जो कारण व्यापार से पूर्व तिरोभूत रहता है और तदनन्तर आविर्भूत हो जाता है जैसे दुग्ध से दधि। द्वैतवादी से तात्पर्य यह है कि वेदान्त की तरह एक ब्रह्म ही सत् अन्यत्सर्व असत् मायाकृत न मानकर अनन्त चेतन जो पुरुषपद वाच्य हैं और प्रकृति जो सत्त्व, रजः और तमोगुण की साम्यावस्था है और समस्त दृश्य की कारण है, दोनों को नित्य मानते हैं। पुरुष का संयोग उसके अनादि कर्मों द्वारा प्रकृति से होता है और तब वह विकार को प्राप्त होती है। यहाँ पर संयोग का अर्थ सन्निधि मात्र है और यह सन्निधि देशकालानुसार नहीं है क्योंकि दोनों जड़-चेतन विकार्य-विकारी भेद से विरुद्ध-धर्म वाले हैं। यह योग्यता द्वारा है। पुरुष में भोक्तृत्व शक्ति है और प्रकृति में भोग्य शक्ति है। श्री वाचस्पति मिश्र जिन्होंने व्यास भाष्य पर तत्त्व वैशारदी व्याख्या की रचना की है, लिखा है—

"सन्निधिश्च पुरुषस्य न देशतः कालतो वा, तदसंयोगात्, किन्तु योग्यता लक्षणः, अस्ति च पुरुषस्य भोक्तृत्वशक्तिः चित्तस्य च भोग्य शक्तिः"।

संयोगानन्तर प्रकृति महत् अर्थात् बुद्धि में सत्कार्य वादानुसार परिणत हो जाती है और उससे अहङ्कार और उससे भी एकादशेन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्रा रूप विकारों का आविर्भाव होता है। ये निम्नलिखित कोटि में इस प्रकार हैं:—

प्रकृति-पुरुष-संयोग
|
महत् (बुद्धि)
|
अहङ्कार
|
५ ज्ञानेन्द्रिय
५ कर्मेन्द्रिय } ११
१ मन

[illegible]
५ तन्मात्र

[illegible]
५ महाभूत
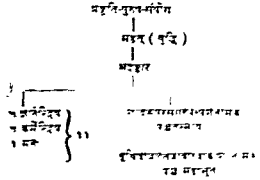
⊛ योग के सिद्धान्त में इस क्रम में थोड़ा स परिवर्तन है और वह इस प्रकार है। यहाँ प्रकृति से महत् विकार है और महत् से अस्मिता औ पञ्चतन्मात्रा द्विविध विकार उत्पन्न होते हैं। तदनन्त अस्मिता से एकादशेन्द्रिय और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत आविर्भूत होते हैं। अस्मिता से अहङ्का और मनः दोनों का अर्थ ग्रहण किया जाता है।

प्रकृति और पुरुष संयोग
|
महत्
|
अस्मिता　　　　　　　　पञ्चतन्मात्रा
|　　　　　　　　　　　　|
एकादशेन्द्रियाणि　　　　　पञ्चमहाभूत
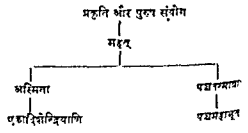
दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि एक मत में महत् से केवल अहङ्कार और दूसरे में महत् से अस्मिता और पञ्चतन्मात्राएँ दोनों सृष्टि में आते हैं। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि दोनों ही में चित्त का इस व्यपदेश से निर्देश नहीं है। अहङ्कार, बुद्धि और मन दोनों सिद्धान्तों में नामतः निर्दिष्ट है, किन्तु चित्त का, जिसका योगदर्शनकार ने इतना अधिक प्रयोग किया है कहीं पता नहीं है। तब चित्त क्या पदार्थ है, केवल अहङ्कार है, या बुद्धि है, या मन है तथा इन सबों का समुदाय है अथवा इनसे भी अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ है—यह जिज्ञासा अनिवार्य है और इस पर विवेचना अग्रिम लेख में की जायेगी।

(क्रमशः)

⊛ उपर्युक्त विवेचन में 'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि' यह सूत्र तथा इस पर वाचस्पति [illegible] व्याख्या [illegible] है।

(यो० द० २. १९)

वेदान्त की साधना

[लेखक—श्री स्वामी सच्चिदानंद जी]

यदि संसार के सभी जीव निस्सन्देह एक ही वस्तु, एक ही आनन्द की खोज में हैं, यदि योगी और भोगी—दोनों का ही लक्ष्य निस्सन्देह आनन्द ही है, यदि प्रवृति मार्ग के आदर्श जनकादि राजर्षि आनन्द के लिए ही लोक-संग्रहार्थ कार्य करते थे और निवृत्ति मार्ग के आदर्श याज्ञवल्क्यादि महर्षि भी आनन्द के लिए ही ब्रह्म-चिन्तन में रत रहते थे, तो निस्सन्देह वास्तविक आनन्द का पता लगाना हमारा सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

साधारणतः हम समझते हैं कि हमको आनंद का पता तो ज्ञात है, हम यह तो जानते हैं कि आनन्द कहाँ है, किन्तु हम यह नहीं जानते कि उसे प्राप्त कैसे करें अथवा उसे प्राप्त करने की शक्ति हम में नहीं होती है, इसीलिए हम दुखी और उदास रहते हैं। किन्तु वेदान्त इससे उल्टी बात कहता है। वह कहता है कि वास्तव में सुख विषय में, चाही हुई वस्तु में नहीं है। एक मोटा उदाहरण जो वेदान्त में दिया जाता है, यह है कि कुत्ता खून के लालच से हड्डी को चूसता है। हड्डी में खून तो है नहीं, किन्तु नुकीली होने के कारण वह कुत्ते के मसूड़ों से ही खून निकाल देती है। कुत्ता समझता है कि यह खून हड्डी का है और उसमें तृप्ति का अनुभव करता है।

[illegible]

है। वास्तव में वेदान्त के अनुसार मन में किसी प्रकार की इच्छा का उठना ही दुख है। ज्यों ज्यों यह इच्छा तीव्र होती जाती है, त्यों त्यों हमारा दुख बढ़ता जाता है। इच्छा के कारण मन सदैव चंचल रहता है किन्तु ज्योंही विषय के मिलने से, मन में इच्छा का अभाव होने से, स्थिरता आती है, त्योंही हमें सुखानुभूति होती है। क्यों, क्योंकि वेदान्त के अनुसार हमारा वास्तविक आत्मा सच्चिदानन्द रूप है। मन की स्थिरता में उसका जो प्रतिबिम्ब हमारे मन में पड़ता है, उसी के फल स्वरूप हमें आनन्द का आभास होता है। जैसे जब जलाशय में किसी प्रकार की लहरें नहीं उठतीं, तो उसमें सूर्य का जो स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह बहुत ही कान्तिमय होता है, उसी प्रकार हमारा मन जितना ही अधिक इच्छा-शून्य होगा, हमें उतना ही अधिक सुख मिलेगा। यहाँ जल ही मन है, लहरें ही इच्छायें हैं और सूर्य ही आत्मा है। अब सहज ही प्रश्न यह उठता है कि हमें हमारे ही हृदय-पट पर हमारी ही वास्तविक आत्मा के दर्शन क्यों नहीं होते ? इसमें वेदान्त तीन बाधायें बतलाता है—१. मल, २. विक्षेप, ३. आवरण। सचमुच हमारा हृदय दर्पण की भाँति है। किसी भी दर्पण को उपयोगी बनाने के लिए, या उसमें स्वच्छ प्रतिबिम्ब दिखने की योग्यता होने के लिए उक्त तीनों प्रकार की त्रुटियाँ न होनी चाहिए। यदि उस पर धूल व गर्द आदि छाई होगी तो उसमें क्या दिखाई देगा—कुछ नहीं। यदि वह [illegible] [illegible] स्वच्छ और [illegible] हो किन्तु यदि [illegible]

नहीं होती और फलतः अन्तःकरण में उसी अनादि, अनन्त, अजर और अक्षय सच्चिदानन्द रूप आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगता है। साधक आनन्द विभोर हो जाता है। फिर भी आनन्द की इस पूर्णता में एक आवरण शेष रहता है। उसे अनादि और अनन्त आनन्द-भाण्डार का पता चल जाता है, वह उसे प्रत्यक्ष देखता है। वह अब उसके अस्तित्व को कभी अस्वीकार नहीं कर सकता। इतना ही क्यों, वह यह भी निश्चय करता है कि मैं इस महानन्द, महानन्द का परम अधिकारी हूँ। इसीलिए अब वह भूलकर भी उन सुखों, विषय-वासनाओं की पूर्ति की ओर आँख उठाकर नहीं देखता जिनके अभाव में कभी उसे रात-दिन नींद नहीं आती थी। सच है, जिसके हाथ पारस पत्थर लगे, उसे सोने का ढेर बटोरने से किस लाभ की सम्भावना हो सकती है! आनन्द की अनुभूति के लिए, विशुद्ध आनन्द में मग्न होने के लिए आत्मसमर्पण ही तो पारस पत्थर है। जिसे यह युक्ति मालूम हो गई, जिसने इसका मजा चख लिया, वह संसार के द्वन्द्वों से तो मुक्त हुआ। किन्तु इतने पर भी मैं-तू का झगड़ा नहीं मिटता।

बच्चा जब पहली बार दर्पण में अपना मुँह देखता है, तो क्या उसे उसी प्रकार यह निश्चय हो जाता है कि यह मेरा ही मुख है, जैसा कि हम लोगों को होता है। नहीं, यह ज्ञान उसे सीखनी होती है। किसी के बतलाने से या अपनी युक्ति से ही धीरे धीरे वह यह निश्चय कर पाता है कि दर्पण में जो बालक दिखाई देता है, वह कोई दूसरा सच्चा बालक नहीं है, वरन् उसकी ही छाया है। निश्चय के लिए वह कभी अपना हाथ मुँह के पास ले जाता है और कभी सिर पर हाथ रखता है और जब देखता है कि जैसा वह करता है, ठीक वैसा ही खेल दर्पण का बालक भी करता है, तब कहीं कुछ समय उपरान्त वह उसे अपने से गैर नहीं, वरन अपना आप जानता और मानता है। अस्तु, इसी प्रकार जब हृदय-दर्पण में मल और विक्षेप के दूर होने से अपने आप उस सच्चिदानंद आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने लगता है, तब उसकी अलौकिक प्रभा देखकर भक्त गद्‌गद् हो जाता है और जब ऐसे समय में कृपालु गुरुदेव कहते हैं—बेटा! यह सत्, यह चित और यह आनन्द जिसे तू प्रत्यक्ष देख रहा है, यह कोई दूसरा नहीं, स्वयं तू ही है—'तत्त्वमसि'। तब वह क्षण भर के लिए आश्चर्य में डूब जाता है। फिर उसकी जो दशा होती है, शब्दों द्वारा उसका यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता। बस, यही वेदान्त के अनुसार आवरण दोष का लोप हो जाना और परम पद की प्राप्ति है। यही हमारा अन्तिम पद है।

शान्त चित्त का यह अर्थ नहीं कि मन में कोई विचार नहीं उठेगा अथवा मन किसी प्रकार चंचल नहीं होगा। नहीं, मन अपना काम करेगा, उसमें विचार होगा और भावनायें होंगी किन्तु तुम अपनी वास्तविक आत्मा को सदैव उससे पृथक अनुभव करोगे। मन के ये विचार और कल्पनायें अब तुम्हें मुग्ध नहीं करेंगी, प्रत्युत तुम उनकी परीक्षा करोगे, उनका मूल्य आँकोगे। जो बेकाम होंगी, उन्हें फेंक देने और जो तुम्हारे वास्तविक चैतन्य और सच्चे अनुभव के अनुकूल होंगी उनको स्वीकार करने [illegible] अन्तर में सदैव शान्त रहना, अपनी इच्छा-शक्ति में दृढ़ होना, किसी भी प्रकार [illegible] कभी निराश न होना—यही धर्म जीवन के मार्ग में पहला कदम है।

—[illegible] अरविन्द

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य

[महात्मा शान्ति प्रकाश]

बाह्य प्रकृति में पृथ्वी, जल, उष्णता, वायु और आकाश उत्तरोत्तर अधिक हैं। इसलिए हमें अन्तर्ग प्रकृति में भी अपने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य के लिए इन पंच तत्वों को उक्त अनुपात में ही रखना चाहिए। दूसरे शब्दों में हमें अन्नादि भोजन की अपेक्षा जल अधिक पीना चाहिए, किन्तु वह अन्न या जल इतना अधिक न हो कि वह हमारे शरीर की उष्णता के अधिकांश भाग का शोषण कर ले। क्योंकि उष्णता ही तो जीवन है। इसलिए हमारे शरीर में जल के अंश से उष्णता का अंश सदैव अधिक होना चाहिए। उष्णता हमें भोजन करने से नहीं मिलती है, वरन मिलती है उसे पचा लेने से। इतना ही नहीं, उष्णता के लिए हमें सूर्य की धूप भी लेनी होगी। बर्फ पीने या शर्बत आदि ठंडे पेय पीने से, हमेशा पंखे के नीचे और खस की टट्टियों में बैठने से हमारी उष्णता क्षीण होती है। अतएव इन से परहेज करना चाहिए।

वायु उष्णता से भी अधिक आवश्यक है। शुद्ध वायु के लिए हमें सदैव बाहर घूमने तो जाना ही चाहिए किन्तु अपने घरों में भी वायु के इधर से उधर आने जाने के लिए साधन बनाने चाहिए। सदैव प्राकृतिक ढंग से श्वास लेने से श्वास लेते समय 'आक्सिजन' तो हम ग्रहण करते हैं और अपने अन्दर के 'कारबन' से मिलाकर उसे बाहर निकालते हैं। यही आक्सिजन और कारबन का मिश्रण 'कारबन-डाई-ऑक्साइड' कहलाता है। वनस्पति-जगत इस मिश्रण में से कारबन तो अपने लिए ले लेता है और दिन भर शुद्ध आक्सिजन छोड़ता रहता है। इसलिए दिन में वृक्षों के नीचे फल-फलों र पास रहना हमारे लिए लाभदायक होता है किन्तु रात्रि में हमें इनसे दूर ही रहना चाहिए, क्योंकि उस समय ये कारबन छोड़ते हैं, जिसको ग्रहण करना हमारे लिए हानिकारक होता है। इसी प्रकार रात्रि को हमें लैम्प को भी ऐसे स्थान में नहीं रखना चाहिए कि उसका कारबन मिश्रित धुआं हमारी श्वास के साथ भीतर जावे।

अन्तिम किन्तु सब से कम नहीं, वरन् सब से अधिक महत्वपूर्ण तत्व हमारे लिए आकाश है। उसको हमें वायु से भी अधिक लेना चाहिए। अच्छा, उसे हम कैसे ग्रहण कर सकते हैं? उसके लिए हमें कोई मूल्य नहीं देना होगा। अपने कमरे को सदैव शुद्ध और स्वच्छ रखो। उसमें बहुत सी चीजें भरना ठीक नहीं। देखो, खाने और पीने का सामान तो हमें मोल लेना पड़ता है और प्रकाश एवं वायु के लिए हमें बाहर जाना होता है परन्तु आकाश तो सर्वत्र है। फिर भी वह हमें सब से कम मिलता है, यद्यपि उसकी हमें सबसे अधिक जरूरत है। सच तो यह है कि जितना ही अधिक हम इस आकाश का आनन्द लेंगे, उतना ही अधिक भोजन, प्रकाश और वायु का स्वाद भी ले सकेंगे। अच्छा, यह हो कैसे? यदि हमारा मकान ही ऐसा हो कि आकाश जिसकी छत हो, घास ही जिसका बिछौना हो, तब फिर हमें मनुष्य-जीवन के लिए और किस आवश्यकता की कमी रहती है। धन्य है वह जीवन, जहा वायु और प्रकाश का अपरिमित भण्डार हो, जहा नदी या झरना का पानी पीने के लिए हो और जहा लम्बे-चौड़े मैदान अनाज उगाने के लिए हो और उस जीवन को क्या कहा जाय, जहां के मकान दो-तल्ले, तिन-तल्ले और चौतल्ले हों, जहां हम आकाश न देख सकें और वायु-प्रकाश के लिए

देशप्रेम

[लेखक—श्रीचन्द्रिकाप्रसाद श्रीवास्तव बी॰ ए॰, एल॰ एल॰ बी॰]

देश-प्रेम की उत्पत्ति सच्चे स्वातंत्र्य प्रेम से होती है। व्यक्ति विशेष के स्वार्थों का देश के महान् स्वार्थ के साथ एकाकार होजाने का नाम ही देशभक्ति है। स्वदेश-प्रेम हमें ऐसी शक्ति प्रदान करता है, जिसके सहारे हम लाखों-करोड़ों विघ्न-बाधाओं पर सरलता से विजय प्राप्त करते हैं। सच्चे देशभक्त के मन, वचन और काया द्वारा प्रतिक्षण जाति की आत्मा, संस्कृति, हृदय और मस्तिष्क प्रतिबिम्बित होता रहता है। किसी भी सच्चे देशभक्त के जीवन का अध्ययन करिये, आप इसी नतीजे पर पहुँचेंगे।

मैज़िनी एक सच्चा देशभक्त था। उसका चरित्र देखिये। उसका हृदय कितना कोमल, विचार कितने उदात्त, भावनाएं कितनी परिष्कृत और जीवन कितना स्वच्छ था। अब्राहम लिङ्कन को लीजिये। उसके हृदय में पददलित मनुष्यता के प्रति कितनी वेदना, कितनी पीड़ा थी। सभी देशभक्तों का हृदय उदार और प्रेमपरिपूर्ण होता है। उनमें स्वार्थ की गंध तक नहीं होती। उनका अपना, निज का होता ही क्या है! अपने लाखों-करोड़ों देशवासियों की हितकामना में अपने सर्वस्व का हवन कर देना ही उनका कर्तव्य होता है। व्यक्तिगत कष्टों की उन्हें परवाह और चिन्ता नहीं होती। राजमहलों में पला हुआ प्रताप अपनी सुकुमार पत्नी और दुध-मुँहे बच्चे को जंगली घास की रोटियां खाते हुए देख सकता [illegible]। किन्तु देश की आन से बड़ा स्थान उसके [illegible] अमर है [illegible] में अब्राहम लिंकन ने [illegible] अत्याचारों की [illegible] अमेरिका में दासत्व प्रथा का [illegible] लिया

देश-प्रेम में संकीर्णता को स्थान नहीं है। एक आध्यात्मवादी देशभक्त में निस्वार्थता, उदारता, सहनशीलता, नम्रता और प्रेम का सुन्दर सामञ्जस्य होना अनिवार्य है। प्राणीमात्र के दुख से वह द्रवित हो उठता है। ग़रीबों की, दलितों की आहें उसके कलेजे में तीर सी चुभती हैं। अपने देश की कल्याण कामना करते हुए भी वह दूसरे देशों का अहित नहीं कर सकता। जैसे एक मां अपने बच्चे पर अपने हृदय के सारे प्रेम को अर्पित कर देने पर भी दूसरों से घृणा नहीं करती; जैसे एक प्रेमी अपना सर्वस्व अपनी प्रेमिका पर निछावर करके भी दूसरों से विरक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक सच्चा देश-भक्त भी अन्य देशों से, अन्य जातियों से घृणा नहीं कर सकता। विदेशियों के दुःखदर्द का उसके दिल पर असर होता है। उसका हृदय प्रेममय होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पाठ को वह जानता है।

सहिष्णुता देश-भक्त की दूसरी कसौटी है। देश-प्रेम में मतवाला होकर वह मर्यादा, धर्म और विवेक का अतिक्रमण नहीं कर सकता। वीर दुर्गादास ने अपनी संस्कृति, राज्य और स्वामी के लिए वैरी औरंगजेब की पाशविक शक्ति का, अपने प्राण हथेलियों पर रखकर, आजीवन मुकाबला किया। किन्तु जब महाराज अजितसिंह की लोलुप दृष्टि शाहजादे अकबर की पुत्री पर पड़ी, तो दुर्गादास का हृदय [illegible] हो उठा। वीर राठौर के लिए दुश्मन की लड़की अपनी लड़की के बराबर थी। उसने हँसते हँसते [illegible] देश का त्याग किया, किन्तु औरंगजेब की पुत्री अजितसिंह की पहुँच के बाहर कर दी। महाराष्ट्र केसरी शिवाजी ने कुरान, मसजिदों

र पवन-नदियों की पवित्रता में कभी भी ग न आने दिया।

अस्तु, एक देशभक्त के हृदय में विदेशियों की दृष्टि, और स्वर्ग पर आक्रमण करने का ध्यान नहीं आ सकता। यदि उसकी तलवार उठती तो वह स्वदेश-रक्षा में। गुण्डे आततायियों द्वारा [illegible] पर आक्रमण होने पर ही उसकी धमनियों का [illegible] खौलता है। फिर तो वह रणक्षेत्र में हँसते हँसते [illegible]ने प्राणों की बाजी लगा देगा। आवश्यकता पड़ने र प्रसन्नता पूर्वक फाँसी के तख्ते पर झूल जायगा। भला, ऐसा कौन प्रेमी होगा, जो अपनी प्रेमिका पर आक्रमण होने पर तटस्थ रह सके। अपनी प्रेमिका की सेवा में इस नश्वर शरीर को वह तिनके की भाँति निछावर कर देता है। इसमें उसे एक आध्यात्मिक आनन्द और सन्तोष का अनुभव होता है। भक्त अपने अपने 'चितचोर' की प्रेमवह्नि में पतिंगे के समान भस्म होजाने की कामना करते हैं। एक देशभक्त भी अपने प्राणों का मूल्य उस पतिंगे से अधिक नहीं समझता और उसकी दृष्टि में इसे केवल कर्तव्य का पालन करना कहते हैं—आत्मोत्सर्ग नहीं। उसकी आत्मा इन पञ्चभूतों की पहुँच के ऊपर रहती है, उसकी बुद्धि निष्काम होती है।

देशभक्त का हृदय कवित्वमय होता है। उसकी आत्मा का प्रकृति के साथ एकीकरण होता है। देश के सुन्दर पहाड़ वन, नदी, झरने और वृक्ष [illegible] उसके [illegible] बढ़ाते हुए कवियों [illegible]

सन्देश सुनाती रहती है। उससे विलग होकर वह अपने जीवन में शून्यता का अनुभव करता है।

बीसवीं शताब्दी में जापानियों की सर्वांगीण उन्नति का रहस्य वहाँ के निवासियों की देशभक्ति ही है। उनका प्रकृति-प्रेम आदर्श है। वहाँ प्रत्येक घर सुन्दर फूलवाले गमलों से सजे मिलते हैं। उनके कमरों की दीवारों पर मनमोहक प्राकृतिक दृश्यों के चित्र लटकते रहते हैं। वे अपने जीवन के प्रति क्षण में प्रकृति के साथ अपनी आत्मा की अभिन्नता का अनुभव करते हैं। जापान का प्रत्येक वृक्ष भी उनको उतना ही प्यारा है, जितना एक पड़ोसी। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे अपने घरों से अपने बच्चों की भाँति ही मुहब्बत करते हैं। एक एक चप्पे भूमि की सफाई का ध्यान रखते हैं, उससे उन्हें प्रेम होता है। वे फर्श को गन्दा नहीं कर सकते, जमीन पर सब जगह थूक नहीं सकते। अपने मकानों को दर्पण की भाँति साफ रखते हैं। सामने की सड़क या गली की सफाई के लिए वह म्युनिसिपैलिटियों का इन्तजार नहीं करते। उसे रोज साफ करके पानी का छिड़काव करना उनके दैनिक कर्तव्य का एक आवश्यक अंश होता है।

इन सभी गुणों का हमें अपने में समावेश करना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश के महान् देशभक्त स्त्री-पुरुषों के चरित्रों का सूक्ष्म अध्ययन करके उनके गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारा हृदय उनकी उदारता, प्रेम, उत्साह और भावना से ओत-प्रोत हो जाय। [illegible]

अहिंसा की समस्या

[लेखक—श्री वासुदेव]

ईसा मसीह ने अपने शिष्यों को इस प्रकार की शिक्षा दी थी—यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल उसके सामने कर दो, यदि कोई तुम्हारा कोट छीने, तो अपना लबादा भी उसे दे डालो, यदि कोई तुम से एक मील चलने के लिए कहे तो तुम दो मील तक उसके साथ जाओ। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह होता है कि यदि कोई तुम पर अत्याचार करता है, तो तुम इसका विरोध न करो। यदि तुम्हारे हृदय से वैर और विरोध का भाव एकदम उठ जायगा, तो अत्याचारी भी अपने कृत्य पर लज्जित होगा और कुमार्ग पर चलना छोड़ देगा। हृदय में किसी भी प्रकार के वैर-भाव, विरोध भाव के न रहने को ही हम अहिंसा की पूर्णता कह सकते हैं। यह कायिक, वाचिक और मानसिक—तीन प्रकार की है। हमें अपने अत्याचारी के प्रति शरीर से, वचन से और मन से—किसी भी प्रकार से वैर-विरोध भाव न रखना चाहिए। हृदय में अहिंसा की ऐसी दृढ़ता होने पर हम किसी के ऊपर क्रोध न कर सकेंगे, वरन पापी को, दुराचारी को और आततायी को भी प्यार करेंगे। उसके लिए हमारे हृदय से ऐसी प्रार्थना निकलेगी—हे ईश्वर, यह मूर्ख-अज्ञानी है, इसे अपने पारमार्थिक हित-अहित का ज्ञान नहीं, इसलिए हे प्रभु, इसे ज्ञान दीजिये, ताकि यह अपने कुकर्मों से विरत हो जाय।

इसमें सन्देह नहीं, हमारे यहां ऐसे महात्मा हुए हैं, जिनका द्वैत भाव ही नष्ट हो गया। वे सर्वत्र एक ही ब्रह्म, एक ही आनन्दघन एक ही प्रभु के दर्शन करते हैं। ... वैर-विरोध का प्रश्न ही नहीं ... कहें, पशु-पक्षी ... का अहित नहीं कर ... समस्या उनके सामने ... यह पद प्राप्त नहीं किया है, ...

जीवन प्रारम्भ करने के पहले महा कवि वाल्मीकि डाकू थे। एक दिन अपने दैनिक कृत्य के अनुसार उन्होंने कुछ महात्माओं को लूटना चाहा, जो अहिंसा व्रती थे। उन्होंने वाल्मीकि को उपदेश दिया जिसका उनके हृदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि वाल्मीकि ने उसी दिन से वह दुष्कर्म पूर्णतः त्याग दिया और इस प्रकार अपना जीवन बिताया कि अन्त में वे संस्कृत के आदि कवि हुए। संसार में अहिंसा की इस आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा हृदय-परिवर्तन के अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी ने भी अपने व्याख्यानों में एक उदाहरण दिया है। वे कहते हैं—उत्तराखण्ड में एक योगी रहते थे। इच्छानुसार वे समाधि में मग्न रहते थे और इच्छानुसार भगवत्-अर्चन में प्रवृत्त होते थे। इस हेतु उनके पास कुछ सोने-चांदी की मूर्तियां और पूजा की सामग्री थी। एक चोर को इस बात का पता चल गया। फिर क्या था, वह योगी की ताक में रहने लगा। एक दिन जब योगी जी समाधिस्थ थे, तब वह चोरी करने घुसा और सब चीजें लेकर चलने ही वाला था कि योगी जी की समाधि खुल गई। चोर बेतहाशा भागा। योगी जी यह देख कर कि कुछ सामान उसकी निगाह से छूट गया है, उसे लेकर उसके पीछे दौड़े। चोर जी तोड़ कर दौड़ने लगा, फिर भी योगी ने उसे पकड़ ही लिया। अब काटो तो चोर के बदन में खून नहीं। पर जब योगी जी ने कहा—बेटा, डरो मत, मैं तुम्हें पकड़ने नहीं आया हूँ, वरन तुम जो ... सामान छोड़ आए थे, वही देने आया हूँ। ... तुम दरिद्र हो, तभी तो तुम ... चुराने आये। लो, इन सबको ले ... सुनते ही चोर ... कहा जाता है कि योगी के ... चोर के ऊपर ऐसा प्रभाव

गया कि वह उसी क्षण से योगी के शरणागत हो गया। उस दिन से फिर कभी उसने चोरी करने का नाम नहीं लिया।

बस, यह एक व्यावहारिक जीवन का उदाहरण हो सकता है। इसीलिए यहाँ पर अहिंसा के प्रयोग के विषय में कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं। क्या चोरों के प्रति योगी जैसा अहिंसात्मक व्यवहार मनुष्य मात्र के लिए सभी परिस्थितियों में शक्य है या नहीं, और उनका ऐसा करना धर्म होगा या नहीं। वास्तव में ये प्रश्न बहुत ही गंभीर हैं और इन पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। सब से पहले धर्म की बात लीजिये। धर्म क्या है? धर्म की एक परिभाषा यह हो सकती है कि जो काम हमें अज्ञान से ज्ञान की ओर, नाश से अमृत की ओर और दुःख-तृष्णा से आनन्द की ओर ले जाय, वही धर्म है। इसके विरुद्ध जिस कर्म से हम ज्ञान से अज्ञान की ओर, अमृत से नाश की ओर और आनन्द से दुःखतृष्णा की ओर जायं, वह अधर्म है। कौन सा कर्म किस स्थिति में किस के लिए श्रेयस्कर है और किस के लिए अश्रेयस्कर—यह अधिकतर कर्ता और परिस्थिति की अभ्यन्तर दशा पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, कौरवों के अत्याचारों का बदला लेने के ही लिए अर्जुन महाभारत के युद्ध में आया था, किन्तु जब उसने अपने गुरुओं और सम्बन्धियों को एक साथ खड़े देखा तो उसे मोह हो गया। और भगवान श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि ... युद्ध से पराङ्मुख होने ... इस प्रकार ...

यदि इस अवसर पर अर्जुन का हृदय उक्त योगी जैसा होता तो क्या उसके सामने युद्ध के कर्तव्याकर्तव्य की समस्या आ सकती थी? नहीं, कदापि नहीं। वैसी स्थिति में तो उसे दुर्योधन युधिष्ठिर सा ही प्यारा होता और वह युद्ध के लिए आता ही क्यों? निष्कर्ष यह निकलता है कि कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय हमारे हृदय की आन्तरिक दशा से सम्बन्ध रखता है, जो विभिन्न परिस्थितियों में बदलती रहती है और सभी मनुष्यों में तो एकसी होती नहीं। अर्जुन को युद्ध के पहले मोह हुआ था, युधिष्ठिर को युद्ध के बाद पश्चाताप हुआ और भीम को कभी कुछ नहीं हुआ। इसीलिए एक ही कर्म सब मनुष्यों को एक समान धर्म नहीं हो सकता। योगी के लिए जो कर्म धर्म है, वही सब के लिए धर्म हो, यह आवश्यक नहीं। गीता में भगवान् यही कहते हैं न, कि दूसरे का धर्म चाहे जितना श्रेष्ठ मालूम पड़े, उसका अनुष्ठान न करना चाहिए। यद्यपि मनुष्य मात्र का आध्यात्मिक लक्ष्य एक है—अद्वैत-सिद्धि, और आत्म-साक्षात्कार। फिर भी उसकी प्राप्ति के मार्ग और प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न हैं। जैसे यदि एकाग्रता इष्ट हो, तो कोई मनुष्य तो गणित के प्रश्न हल करके उसे प्राप्त कर सकता है और कोई काव्य-रचना करके। इसी प्रकार लक्ष्य है ब्रह्म-साधना, उसे चाहे कर्म मार्ग से, चाहे भक्ति मार्ग से, चाहे ज्ञानमार्ग से, या सबके समुच्चय से प्राप्त कीजिये। हां, इस साधना में एक बात से बड़ी आशंका है तो यह कि हमें ढोंग से बचना चाहिए। दूसरे के श्रेष्ठ धर्म को देख कर किसी लोभ से उसका अनुकरण न करना चाहिए। युद्ध से उपराम होकर ...

हम अहिंसा का अनुष्ठान कर सकते हैं। मान लीजिये, हम जैसे साधारण मनुष्य के घर में चोर घुसा, हमने उसे देख लिया। अब क्या हमें भी योगी की भाँति उस चोर को अपनी सारी कमाई दे देना चाहिए? यदि हम उसे अपना रुपया-पैसा न दे कर पुलिस के हवाले करते हैं और बाद में उसे सजा करा देते हैं, तो क्या हम पाप के भागी होंगे? निस्संदेह यदि मनसा-वाचा-कर्मणा द्वारा पूर्ण अहिंसा ही धर्म-अधर्म की एक मात्र कसौटी हो, तो हम दण्ड और पतन के भागी होंगे। किन्तु क्या ऐसी दशा में हमारा सारा व्यावहारिक जीवन ही अस्त-व्यस्त और छिन्न-भिन्न न हो जायगा? क्या योगी के चोर की भांति सभी चोरों से यह आशा की जा सकती है कि उन्हें छोड़ देने पर, नहीं, उन्हें अपना सर्वस्व देने से वे सदा के लिए उस चोर-कर्म से विरत हो जायंगे। शायद सौ में दो चार ऐसा करें किन्तु अधिकों से तो यही संभावना की जा सकती है कि वे कहेंगे—अच्छे उल्लू फँसे, बैठे बैठे मौज करो। जब यह रुपया समाप्त होगा, तब किसी ऐसे ही दूसरे उल्लू का रुपया मार लावेंगे। यहाँ पूर्ण अहिंसावादी यह कह सकते हैं कि यदि तुम्हारे हृदय में हिंसा का भाव होगा तो तुम्हारी बातों का चोर के हृदय पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता और यदि तुम हृदय से उसे अपना जैसा ही प्रेम करते होगे, तुम उससे घृणा नहीं करते होगे, वरन उसके अज्ञान-निवारण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते होगे, तो निस्संदेह उस चोर का हृदय-परिवर्तन हो जायगा।

किन्तु इस उत्तर से हमारी मौलिक कठिनाई दूर नहीं होती। जब हम में सर्वभूतात्मैक्य-बुद्धि हो जायगी, तब तो हम स्वयं ही पूर्ण अहिंसा का व्यवहार करेंगे, वरन हम उसमें अन्यथा कर ही नहीं सकते। परन्तु जब तक हम में ऐसी सद्बुद्धि जाग्रत नहीं हुई, तब भी क्या हमारे लिए वाचा-कर्मणा द्वारा अहिंसा का व्यवहार ठीक होगा। बस, यही प्रश्न है जिसका हम नकार में उत्तर देते हैं। क्योंकि वाचा-कर्मणा द्वारा अहिंसा का अनुष्ठान होने के पहले मनसा द्वारा अहिंसा का आचरण सर्वथा आवश्यकीय है। यदि ऐसा न होगा तो, न तो समाज के लिए उसका शुभ परिणाम होगा और न उससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति ही हो सकेगी।

पूर्ण अहिंसा के सार्वभौमिक व्यवहार में इसी त्रुटि का अनुभव करते हुए हिन्दू-धर्मशास्त्रों ने पूर्ण अहिंसा के अद्वितीय सात्विक आदर्श की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी आध्यात्मिक उन्नति के हेतु सात्विक, राजस और तामस प्रकृति के विभिन्न साधकों को धर्म-जीवन के विभिन्न आचार-व्यवहार का निर्देश किया है। जो कार्य किसी तमोगुणी प्रकृति के मनुष्य को धीरे धीरे ऊपर उठाने वाला हो सकता है, वही सतोगुणी प्रकृति के मनुष्य को नीचे गिरा देगा। इसीलिए, उन्होंने अहिंसा की अवस्था में दुष्ट पुरुषों को सीधे मार्ग पर लाने के हेतु दण्ड का विधान स्वीकार किया है। कहते हैं, कि सामाजिक सुव्यवस्था के संचालन के लिए दण्ड को स्वयं भगवान् ने ही उत्पन्न किया था और दण्ड देने का सर्वापेक्षा सर्वश्रेष्ठ अधिकार प्रजापालक राजा के पद में सन्निहित किया था। कुछ भी हो, वर्तमान काल में शायद ही पृथ्वी पर ऐसा कोई देश, ऐसा कोई समाज हो, जहाँ के मनुष्य अपने समस्त सामाजिक जीवन में स्वतंत्रता पूर्वक पूर्ण अहिंसा का पालन कर सकें। समाज-हित की दृष्टि से उन्हें हिंसा—कम से कम सही—करनी ही पड़ती है। हाँ, यह तो सभी चाहते हैं कि इस पृथ्वी पर वह स्वर्ण युग शीघ्र से शीघ्र अवतीर्ण हो, जिसमें मनुष्य पूर्ण सत्य, पूर्ण प्रेम, पूर्ण अहिंसा और परस्पर पूर्ण सहानुभूति के साथ जीवन यापन कर सकें।

और यह स्वर्णयुग, यह सत्युग अब केवल हमारी पवित्र अभिलाषा, कवियों की मधुर कल्पना ही नहीं मालूम होता, वरन ऐसा प्रतीत होता है कि

सत्यं-शिवं-सुन्दरम्

श्रद्धाञ्जलि

[ले०—श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित 'ललाम' बी० ए०, सी० टी०]

अभिराम राम, शत शत प्रणाम!
भारत-ललाट के तिलक राम!
वेदान्त ज्ञान के जनक राम!
निर्मान मोह परिपूर्ण काम!
नूतन निर्मल घनश्याम राम!
अभिराम राम शत शत प्रणाम!

जग में छाया था अन्धकार,
छल दंभ द्वेष का था प्रसार।
भूला था पावन दिव्य ज्ञान,
जगमिथ्या ईश्वर सत्य ज्ञान।
हैं नित्य निरामय के स्वरूप,
आनन्दमूर्ति सब रंक भूप।
ज्ञानामृत के नव-जलद श्याम!
अभिराम राम शत शत प्रणाम!

हिमगिरि की पावन शिला धन्य,
सौन्दर्य विपिन की कला धन्य।
सुर सरिता का शुभ कूल धन्य,
नन्दन वन के नव फूल धन्य।
अविराम प्रणव ध्वनि धन्य-धाम।
अभिराम राम शत शत प्रणाम।

कैसी पुनीत दीवाली थी,
यद्यपि विभावरी काली थी।
आनन्द ज्ञान के दीप जले,
खुल गये ज्ञान के नेत्र भले।
गंगामाता की गोद विमल,
उज्ज्वल उज्ज्वल हिम धवल नवल।
अर्पित शरीर की अस्थि माल,
श्री राम अमर अक्षय अकाल।
आनन्द रूप पावन 'ललाम',
अभिराम राम शत शत प्रणाम!

शान्ति की क्रान्ति

[श्री जगन्नाथ प्रसाद जी एम० ए०]

चाहे तुझे बन्दी समान घर से निकाल,
भाप सा बना के करे ओझल नजर से।
चाहे हरा भरा खेत वैभव समस्त तेरा,
फूंक के फिराये तुझे इधर उधर से॥
चाहे तीखी किरणों के बाणों के शिकार होके,
सून उबले भी तेरा आसुरी समर से।
शान्ति को न छोड़ना अधीर मत होना जल,
चाहे आसमान से निदान आग बरसे॥

चार मास बाद ही न उनकी प्रचण्ड नीति,
आप ही दमन होगी अपने ज़हर से।
चार मास बाद ही तमाम आसमान पर,
अधिकार होगा तेरा बिना तरसे॥
सूर्य को है सूर्य डूब जायेगा दिगन्त सारा,
प्रलय मचेगी ऐसी शान्ति के असर से।
अपनी प्रकृति छोड़ अपनी प्रणाली छोड़,
पानी होके बरसेंगे आग जो हैं बरसे॥

देते ना बनेगा उन्हें लेते ना बनेगा उन्हें,
हटते बनेगा नहीं जीवन समर से।
सारे फूल-पत्ते और सारी हरियाली को भी,
फिर से उगायगा विवश निज कर से॥
सारे ताल सरिता समस्त जलाशय होंगी,
पानी वह भरने फिरेंगे तेरे डर से।
शान्ति के प्रभाव से मचेगी ऐसी महाक्रान्ति,
पानी पानी हो जायेंगे, आग जो हैं बरसे॥

इच्छाओं का संघर्ष

एक आदमी के दो स्त्रियाँ थीं। हिन्दू तो साधारणतया बहुविवाह में विश्वास नहीं करते किन्तु मुसलमानों को इसमें अधिक आपत्ति नहीं होती। जिस आदमी की हम बात कर रहे हैं, वह मुसलमान ही था और उसके दो स्त्रियाँ थीं। उनमें से एक स्त्री तो मकान के ऊपर की मंजिल में रहती थी और दूसरी नीचे। संयोग से एक दिन रात्रि के समय एक चोर उनके घर में चोरी करने के लिए घुसा। वह घर की सभी चीज़ों पर हाथ साफ करना चाहता था। किन्तु उसके दुर्भाग्य से घर के सब लोग जाग रहे थे। वे रात्रि भर जागते रहे और चोर एक पैसे की चीज़ भी न चुरा सका। इतना ही नहीं, प्रातःकाल में उन्होंने चोर को देख लिया, पकड़ लिया और पुलिस के हवाले कर दिया। कुछ दिनों बाद वह मैजिस्ट्रेट के सामने पेश हुआ। यद्यपि उसने कुछ भी नहीं चुराया था, फिर भी घर में सेंध लगाना स्वयं एक बड़ा अपराध है। मैजिस्ट्रेट ने उससे कई प्रश्न किये। किन्तु उसने स्पष्ट ही स्वीकार कर लिया कि वह चोरी की इच्छा से ही घर में घुसा था। तब उसे कुछ दण्ड देकर मैजिस्ट्रेट मामला समाप्त ही करने वाला था कि वह मनुष्य गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगा—हुजूर, आप मुझे चाहे जो दण्ड दें, चाहे मुझे अन्ध कारागार में बन्द कर दें, चाहे मुझे कुत्तों से नुचवा डालें और चाहे मुझे जीवित ही चिता पर चढ़ा दें [illegible] मुझे [illegible] कभी न दीजियेगा [illegible] मैंने [illegible] [illegible]

बतलाना शुरू किया कि किस प्रकार वह चोरी के लिए घुसा, किस प्रकार वह कुछ भी न चुरा सका और किस प्रकार अन्त में पकड़ा गया। उसने कहा—मैं रात्रि के प्रारम्भ में ही इनके घर में घुस गया था किन्तु मैंने देखा कि घर का मालिक रात्रि भर जीने पर खड़ा रहा। उसकी एक स्त्री उसे ऊपर खींचती थी और दूसरी उसे नीचे की ओर घसीटती थी। ऊपर वाली ने तो उसके सर के बाल ही नोच डाले और नीचे वाली ने खींच खींच कर उसके कपड़े फाड़ डाले। बेचारा उस कड़ाके की ठंड में ठिठुरता रहा। और यह तमाशा देखते देखते ही मेरी यह दुर्गति हुई, न मैं कुछ चुरा सका और न भाग सका।

× × ×

लो, यह किस्सा तो समाप्त हुआ। अब तुम ध्यानपूर्वक अपनी अपनी मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन करो, तो तुम्हें मालूम होगा कि जो भी दुख और यातनाएँ तुम भोग रहे हो, वे सब तुम्हारी पारस्परिक विरोधी इच्छाओं के कारण हैं। तुम्हारी इच्छाओं में परस्पर कोई सामंजस्य नहीं, कोई समता नहीं, एक तुम्हें उत्तर को खींचती है, तो दूसरी दक्षिण को। इसीलिए तुम कभी किसी काम में सफल-मनोरथ नहीं होते। जब भाई-भाई ही आपस में लड़ें, तो उनका उद्धार कौन कर सकता है! हाँ, यदि तुम्हारा लक्ष्य एक हो, तुम्हारे उद्देश्यों में पूर्ण सामंजस्य हो, तो तुम्हें कभी कोई दुख नहीं हो सकता, कोई विपत्ति तुम्हारे पास नहीं फटक सकती। किन्तु यदि तुम्हारे हृदय में, तुम्हारी इच्छाओं [illegible] समन्वय होगा तो तुम [illegible] किसी [illegible] भाँति यातनाओं से नहीं [illegible] [illegible] नहीं बच सकते।

—[illegible]

स्वामी राम का पत्र

[अपने गुरु के नाम]

नोट—यह पत्र स्वामी जी ने १६ वर्ष की आयु में लिखा था।

श्री महाराज सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वशक्तिमान नित्य, अनन्त, परमानन्द, विभु, अनिर्वाच्यजी !

महाराजजी ! आप मुझ पर खफा हैं, मगर मैं जानता हूँ कि इस नाराजगी का कारण इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि आपने मेरे हृदय को नहीं देखा, और केवल बाह्य व्यवहार और अन्य बातों को देखकर ही आप मेरी बाबत बुरे अनुमान कर बैठे हैं। यदि आप मेरे हृदय को देखें तो मैं आशा करता हूँ कि आप खफा न हों।

आप यह न ख्याल करना कि अगर मेरी तरफ से जाहरदारी के किसी मुआमले (बाहर के किसी सत्कार-सम्मान-सेवा) में कोई त्रुटि हो गयी है, तो उसका कारण आपकी ओर से मेरे चित्त का विमुख हो जाना है। यह बात कदापि नहीं है, क्योंकि मैं प्रत्येक काम में आपकी सहायता का मोहताज हूँ, और अपने चित्त में सदा आपका ख्याल रखता हूँ। प्रथम तो पढ़ने आदि तथा किसी और उत्तम कार्य की ओर चित्त लगाने में आपकी सहायता की आवश्यकता है, फिर उस कार्य के लिए तैयारी करने में आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति-निमित्त आपकी सहायता चाहिए। तत्पश्चात यदि उस काम में परिश्रम भी किया जाये, तो परिश्रम के सफल होने में भी आपकी सहायता की आवश्यकता है। संक्षेप से यह कि प्रत्येक १५ में मुझे आपकी सहायता की आवश्यकता है।

यदि किसी जाहरदारी के काम (बाह्य व्यवहार तथा सेवा) में त्रुटि हुई है तो उसका कारण [illegible] है। दृष्टान्त रूप से यदि मैं पढ़ने में परिश्रम करूँ और उस पढ़ने में केवल स्वार्थ ही दृष्टिगोचर हो और आपकी ओर से चित्त हटा रहूँ, तो निःसन्देह यह बहुत ही बुरी बात है। मगर मेरी ऐसी हालत नहीं है। मैं अगर परिश्रम करता हूँ, तो मेरे चित्त में (मैं बिल्कुल सत्य कह रहा हूँ, आप कोई और ख्याल न करना) किसी कदर अपना रस (स्वार्थ) भी दृष्टि में होता है, परन्तु अधिकतर यह ख्याल होता है कि यह पढ़ना, आपका काम है। यदि मैं अच्छा पढ़ूँ, तो मानो आपकी अधिक आज्ञा पालन की है, और आपकी विशेष करके सेवा की है। और आपके विरुद्ध अंशमात्र भी कोई काम नहीं किया।

अब यदि पढ़ने की ओर मैं अधिक ध्यान दूँ और किसी जाहरदारी के काम में अर्थात् आपकी किसी शारीरिक सेवा में त्रुटि हो भी जाये (मगर मैं सत्य कहता हूँ कि मेरा मन तो बिल्कुल पहले की तरह है, बल्कि पहले से भी बहुत अच्छी तरह आपका ताबेदार और सेवक है), तो चाहे बाह्य द्रष्टा की दृष्टि को मेरी त्रुटि दिखाई देती हो, मगर अन्तर्द्रष्टा की दृष्टि स्पष्ट देख रही है कि मैं पहले से भी अधिक आपकी सेवा कर रहा हूँ। चाहे अब आपको प्रतीत हो रहा है कि मेरा ख्याल आपकी तरफ कम है, परन्तु बाह्य रूप से मेरा यह कम ख्याल आपकी तरफ प्रतीत होना अन्त में मुझे ऐसा योग्य कर देगा कि आपकी सेवा लक्षगुणा अच्छी तरह करूँ, यदि आप मेरी बाह्य चेष्टा पर कुछ और रुष्ट न हो जायें और मेरे परिश्रम (जो कि आपका काम है) के सफल होने में सहायता दें, क्योंकि अन्त में मैं आपकी सहायता का भिखारी हूँ। यह कहावत प्रसिद्ध है "हिम्मते मर्दां मददे-खुदा" जिसका अर्थ मैं यह करता हूँ कि मनुष्यों के यत्न में ईश्वर की सहायता की आवश्यकता है।

आनन्द और प्रेम

[श्री आनन्दकुमार]

मनुष्य को अपने जीवन के लक्ष्य का पता नहीं, वह नहीं जानता कि सारे अपने में और अपने चारों ओर आनन्द का प्रकाश फैलाना ही जीवन का परम लक्ष्य है, इसी के बिना तो संसार में गड़बड़ी और अशान्ति फैली हुई है।

वह है क्या जिसके लिए हम में से प्रत्येक रात-दिन छटपटाया करता है? 'आनन्द'! किन्तु सच्चे आनंद में न स्वार्थ है और न कल्पना। वह ज्ञान है, सारे अनुभवों का निचोड़ है, वह सत्य है, वह अनादि है। न कोई उसे छिपा सकता है और न कोई स्थिति उसे कम कर सकती है। बस, इसी आनन्द के लिए सब इच्छुक रहते हैं। हमने लोगों को मेहनत करते करते मरने से मालदार होते देखा है, बड़े-बड़े काम करते देखा है, अनेक आविष्कार करते देखा है और उन्हें आत्मसंयमित बनने की चेष्टा में भी व्यस्त होते देखा है किन्तु वे उस सत्य आवश्यक वस्तु को—आनन्द—को नहीं पकड़ पाते, केवल जिसके द्वारा ही बुद्धि को जीवन और हृदय को शान्ति मिल सकती है। जिसे इस आनन्द का पता नहीं, उसे मन की शान्ति नहीं हो सकती, उसका जीवन सफल नहीं हो सकता, उसे इस दुःखपूर्ण संसार में कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

इस आनन्द की खोज में लोग भाँति भाँति के उपाय करते हैं, वे मन्दिर, मसजिद और गिरजाघर में पूजा करते हैं, वे पुस्तकों के द्वारा दूसरों का ज्ञान ग्रहण करते हैं, वे हृदय में शान्ति और चिन्तन की धारा से धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करते हैं किन्तु आनन्द की इच्छा उनके हृदय में सदा [illegible] बनी रहती है।

दोनों [illegible] और [illegible] खोज करते हुए [illegible] देते हैं वे करते हैं—[illegible] के बिना हृदय का ठीक ठीक [illegible]

किन्तु शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की इस धुन में अन्य अत्यावश्यक वस्तुयें उनकी आँख से ओझल होती जाती हैं। भारतवर्ष में लोग दूसरी 'अति' करते हैं। वे आनन्द की खोज में शारीरिक परिस्थितियों की परवाह ही नहीं करते।

चाहे जहाँ जाइये, आप सबको आनन्द की खोज में व्यस्त पायेंगे। सब से पहले मनुष्य उन मामूली सुखों के लिए प्रयास करता है, जो शारीरिक वेगों के वशवर्ती होते हैं। किन्तु जब इनसे उसकी उस शाश्वत आनन्द-प्राप्ति की इच्छा तृप्त नहीं होती तब वह बुद्धि के अथवा हृदय के विषयों में उसे अनुभव करना चाहता है।

जीवन है क्या, जोड़ना और फेंकना। इसी संग्रह और त्याग के क्रम को हम जीवन कहते हैं। जितना ही अधिक तुम त्याग देते हो, तुम उतने ही अधिक स्वतंत्र, और मुक्ति के समीप पहुँच जाते हो। अपने संग्रह को त्यागने से तुम्हें वह ज्ञान मिलता है, जिसके द्वारा तुम अपने जीवन-लक्ष्य को स्थिर कर सकते हो और अन्ततोगत्वा उस असीम आनन्द की प्राप्ति कर सकते हो, जिसके लिए सब प्रयत्नशील हो रहे हैं।

जैसे वृक्ष के भीतर के रस के द्वारा उसमें कल्ले और पत्ते फूट फूट कर उसे हरा-भरा कर देते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य में ईश्वरत्व की एक किरण है, जो जीवन के सुख और दुःख, जीवन के अनेक प्रकार के संघर्षमय क्रिया-कलापों द्वारा उसे पूर्णता को पहुँचाती है, उस [illegible] आनन्द की अवस्था को प्राप्त कराती है और सबका जीवन [illegible] है, जो सब ही [illegible] है [illegible] कल्याण है

[illegible] है [illegible] करना [illegible] [illegible] है? वह सुख [illegible] उसकी [illegible] सुख [illegible] हो [illegible] दुःख में सुख [illegible]

जीवन में जीवित होना, प्रत्येक राहगीर की आंखों में होकर देखना। दूसरे शब्दों में प्रत्येक मनुष्य के सुख-दुख को कल्पना के द्वारा अनुभव करना। यदि तुम सड़क पर किसी शराबी को पड़ा देखते हो, तो शराब के अनुभव के लिए इतना ही काफी है। यदि तुम किसी को रोते हुए देखो, तो तुम उसके दुख का सहज ही अनुभव कर सकते हो। इसी प्रकार यदि तुम किसी को आह्लाद-विभोर देखो, तो वही सांसारिक सुख का उत्तम अनुभव है। किन्तु सब के लिए ज्ञान-प्राप्ति का एक ही मार्ग नहीं है। हम सारे संसार के अनुभवों से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और यही हमारी उन्नति, विकास और परिष्कृति के लिए काफी है। यदि तुम जीवन की पूर्णता चाहते हो, तो तुम्हारे पास ऐसे अनुभवों का भाण्डार होना ही चाहिए, क्योंकि बिना अनुभव के तुम लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकते। जब तक लक्ष्य से वियोग है, तब तक दुख है। ज्योंही लक्ष्य से योग हुआ, त्योंही आनन्द है, त्योंही तुममें सत्य की प्रतिष्ठा हो जाती है। इसके लिए प्रारम्भ ही से हमें अनुभव संग्रह करना होगा, जैसे कि किसान खेत से एक-एक दाना इकट्ठा करता है।

यदि तुम्हारे हृदय में सहानुभूति नहीं है, प्यार नहीं है, तो तुम कभी भी लक्ष्य से तद्‌त्म नहीं हो सकते। जो मनुष्य अपने आपको सन्तुष्ट समझता है, उसके हृदय में सहानुभूति और प्यार नहीं हो सकता और न वह किसी को ज्ञान देने की चेष्टा करता है। मैंने ऐसे आदमी भी देखे हैं जो दूसरों की सहायता करना चाहते हैं किन्तु उसका उपाय नहीं जानते। वे अपने आपको दूसरों की स्थिति में नहीं रख सकते, इसी लिए उनको दूसरे का दृष्टिकोण समझ में नहीं आता।

जो अपने आस-पास चारों ओर फैलने वाला जीवन समझना चाहते हैं, जो लक्ष्य को, अपने इष्ट को हृदय में धारण करना चाहते हैं, उन्हें खूब प्रेम करना चाहिए। हाँ, प्रेम के बन्धनों से सदा दूर रहना चाहिए। उनके हृदय में विशाल सहानुभूति चाहिए किन्तु वह उनके लिए बन्धन न हो। उनके हृदय में बड़ी बड़ी अभिलाषायें हों पर वे उनके गुलाम न बनें।

—संकलित

(शेष पृष्ठ ४८० का)

पसन्द नहीं करते, यद्यपि उन्हें दुग्धपान में आपत्ति नहीं होती। कोई कोई कहते हैं—केवल दुग्धाहार पर निर्भर रहने से हम अधिक मात्रा में खा जाते हैं, अथवा उससे मूत्राशय को अधिक काम करना पड़ता है, अथवा पहले तो वजन बढ़ जाता है और फिर [illegible] जाता है अथवा इससे कोष्ठ-बद्धता और पित्त की [illegible] है। किन्तु सच पूछिये, इनमें से कोई भी ऐसी आपत्ति नहीं, जो दुग्ध-भोजन को हानिकारक सिद्ध कर सके। इसलिये स्वयं दुग्ध-भोजन में कोई दोष नहीं। जिन्हें किसी हानिकारक प्रवृत्ति के लक्षण दीख पड़ें, उन्हें अपने प्रकार में आवश्यक परिवर्तन कर लेना चाहिए। बस, जो अपने शरीर की पुष्टता, अपने हृदय की शुद्धता और अपनी आत्मा की अनुभूति की ओर बढ़ना चाहें उन्हें बिना किसी झिझक, बिना किसी डर के दुग्ध-भोजन को अपनाना चाहिए, वह सब तरह उनका कल्याण करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

दुग्ध-भोजन का महत्व

निस्संदेह दूध की गिनती पौष्टिक भोजनों में की जाती है किन्तु यहाँ हम जिस दुग्ध-भोजन की चर्चा करेंगे, उसमें दूध के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाया जा सकता। दूसरे शब्दों में हम सुबह या शाम एकाध गिलास दूध पी लेने को दुग्ध-भोजन नहीं कहते। ऐसी स्थिति में पहली शंका तो लोगों के हृदय में यही उठने लगती है कि केवल दूध पर ही जीवन-निर्वाह करना मनुष्य के लिए संभव है या नहीं। लोग यह शंका करते हैं कि यदि हम अन्न या मांस आदि कोई ठोस पदार्थ नहीं खायेंगे तो शीघ्र ही दुबले या कमजोर हो जायेंगे, मानो दूध और पानी की पौष्टिकता में कोई अन्तर ही नहीं। यह शंका निस्सार है—इतनी निस्सार है कि उसके खण्डन की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार के दुग्ध-भोजन की महत्ता का परिचय पाश्चात्य देशों को इसी वर्तमान युग में हुआ है और हमारे यहाँ इसका महत्व शायद ऐतिहासिक काल के पहले से चला आता है। आयुर्वेद शास्त्र में इसे साक्षात् अमृत से उपमा दी गई है। और कई रोगों में इसे एकमात्र औषधि के रूप में स्वीकार किया गया है। फिर भी हम इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते, इसके लिए क्या कहा जाय! इतना ही, क्यों, अब तो लोग कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर इसकी महत्ता से भी इन्कार करने लगे हैं। इसलिए आइये, सब से पहले दुग्ध-भोजन के विरुद्ध की जाने वाली कुछ आपत्तियों पर विचार करें।

सबसे पहले एक [illegible] है [illegible] कहते हैं कि [illegible] दूध [illegible] बनाया है, न कि मनुष्य के [illegible] तो [illegible] तथा [illegible] हम अन्न भी नहीं खा सकते और माँस खाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि यह कहा जाय कि यह विशेषतः बछड़ों का भोजन होने से पशु-उपयोगी खाद्य है तो यह तर्क भी ठीक नहीं, क्योंकि शरीर की दृष्टि से मनुष्य पशु नहीं है तो और क्या है। इसलिए ऐसी शंकायें निर्मूल हैं। इसके अतिरिक्त अब तो वैज्ञानिकों ने दुग्ध का विश्लेषण करके उसके तत्वों का पता लगा लिया है और यह भी मालूम किया है कि दुग्ध के सभी तत्व मनुष्य-शरीर के लिए बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये सर्वथा उपयोगी हैं।

दूसरी आपत्ति कभी कभी यह होती है कि दूध बच्चों का भोजन हो सकता है, पर युवकों और प्रौढ़ों को विशेष उपयोगी नहीं हो सकता। इस शंका में भी, विज्ञान ने सिद्ध किया है, कोई दम नहीं। हमारे पेट की कुछ गिल्टियों से पनीर जैसा एक रस छूटता रहता है, जो विशेषतः दूध जमाने के लिए होता है किन्तु यह रस इन गिल्टियों से न केवल बचपन में, वरन आजीवन निकलता है। इसके सिवा अब युवकों और प्रौढ़ों से रोग-निवृत्ति के लिए केवल कुछ काल तक दुग्धाहार पर रहने के लिए कहा जाता है तब तो यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि रोगावस्था होने पर प्रौढ़ मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियाँ [illegible] क्षीण होती हैं। कुछ भी हो, अनुभव ने हमें यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि जीवन की किसी भी अवस्था में दुग्धाहार सर्वोत्तम पौष्टिक आहार है।

कुछ दिनों से दुग्धाहार के विरुद्ध [illegible] कि दूध [illegible] होता है [illegible] नहीं कि [illegible] है, जो [illegible]

हो, जब शरीर में एक प्रकार का विषैला द्रव्य बढ़ने लगता है, तभी कफ की वृद्धि होती है। इसके सिवा कफ शरीर में तेजाबों की वृद्धि करने वाले खाद्यों से बढ़ता है और दूध शरीर में तेजाबों की नहीं, वरन् क्षार की वृद्धि करने वाला है। अतः दुग्धाहार स्वयं कफकारक नहीं है, यह इस बात से भले प्रकार सिद्ध हो जाता है कि लगातार कुछ दिनों तक दूध का सेवन करने से उस कफ की वृद्धि भी नष्ट होने लगती है, जो पहले दिखाई देती है।

एक आपत्ति यह है कि दूध में 'प्रोटीन' की अधिकता और लोह तत्त्व की कमी होती है। बेशक दूध में साधारण आवश्यकता से कुछ अधिक 'प्रोटीन' की मात्रा होती है, किन्तु जैसा बतलाया जा चुका है कि दूध शरीर को बढ़ाने वाला भोजन है, इसलिए रोग-निवृत्ति के अनन्तर शरीर की पौष्टिकता के लिए वह 'प्रोटीन' अधिक नहीं होता। और यदि कुछ अधिक भी हो तो दूध द्वारा प्राप्त 'प्रोटीन' अन्य साधनों द्वारा प्राप्त 'प्रोटीन' की अपेक्षा अधिक आसानी से निकाला और नैसर्गिक प्रवृत्तियों द्वारा दूसरे रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है। इसी प्रकार दूध में लोह-तत्त्व की कमी का भी कोई प्रश्न नहीं है। क्योंकि दूध में जितना भी लोह तत्त्व होता है, वह सारे का सारा शरीर द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है और वह उपयुक्त मात्रा से कम नहीं होता।

कुछ विशुद्ध शाकाहारी इसलिए भी दुग्धाहार पर आपत्ति करते हैं कि वह पशुओं से प्राप्त होने के कारण पशुज है किन्तु इस पर तर्क-वितर्क करना व्यर्थ सा है, क्योंकि इसमें कोई हिंसा तो होती नहीं।

अब दुग्धाहार के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति इसे शुद्धता से बरतने के बारे में है। गायें ही इसे सबसे अधिक दूध दिया करती हैं और जिस स्वास्थ्य-कर परिस्थिति में इसका सेवन होना चाहिए वह कहीं भी नहीं मिलती। इसलिए जो स्वयं [illegible] पाल सकते हैं, उनका तो कहना ही क्या, वे स्वेच्छानुसार शुद्ध दुग्ध प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु जो ग्वालाओं से दूध लेते हैं, उन्हें जो दूध मिलता है, वह भी बुरा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें कई गायों का दूध मिला रहता है, यदि किसी गाय का घटिया होता है तो किसी का बढ़िया भी होता है।

रुग्ण गाय का दूध बहुत हानिकर होता है किन्तु वास्तव में इसकी सम्भावना उससे कहीं कम होती है जैसे कि लोग समझते हैं। क्योंकि प्रकृति को तो उस दूध के द्वारा बछड़े का पालन इष्ट होता है, इसलिए यदि दूध रोग के कारण सचमुच बहुत दूषित हो जाता है तब या तो गाय के थनों से दूध बहुत ही कम निकलता है या बिल्कुल सूख जाता है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि जो गायें आजकल अति अप्राकृतिक दशा में रखी जाती हैं, जहाँ उनको खुली धूप और हवा में घूमने को बिल्कुल नहीं मिलता, उनके दूध में 'विटामिन' की कमी होती है और चर्बी बढ़ाने वाला अंश अधिक होता है। किन्तु यह भी कुछ ऐसी त्रुटियाँ नहीं हैं जिनके पीछे दुग्धाहार का बिलकुल त्याग कर दिया जाय, क्योंकि कभी कभी घटिया से घटिया दूध भी बढ़िया से बढ़िया अन्न या मांसाहार से श्रेष्ठ होता है।

इसके सिवा दुग्धाहार के विरुद्ध एक और बड़ी आपत्ति उठती है। लोग कहते हैं कि दूध को कीटाणु बहुत जल्दी दूषित कर देते हैं। किन्तु कोई ऐसे लोगों से पूछे—अच्छा, कीटाणु कहाँ नहीं होते हैं? और वे अन्न-मांसादि को दूषित नहीं कर सकते क्या? सच तो यह है कि केवल कीटाणु अकेले ही कभी कोई रोग पैदा नहीं कर सकते। अतएव जिस मनुष्य को दूध की आवश्यकता हो उसे ऐसी बातों की ओर ध्यान देकर कि दूध में बड़ी जल्दी कीड़े पड़ जाते हैं अथवा उसमें 'विटामिन' और खनिज पदार्थों के अंश कम हैं, अतः मन दुग्धाहार नहीं करना चाहिए। कुछ लोग [illegible] दुग्ध-सेवन को

(शेष पृष्ठ [illegible] में देखिये)

इस 'व्यावहारिक वेदान्त' के संचालन में स्वामी नारायण के सभी भक्तों से हमें थोड़ी-बहुत सहायता मिली है किन्तु उनमें महात्मा शान्ति प्रकाश, श्री रामेश्वर सहाय सिंह, पं० बृजनाथ शर्मा, बाबू श्री विद्यानन्द, श्री दीन दयालु और चक्रधर हंस आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परिचय रूप से महात्मा शान्ति प्रकाशजी ने तो स्वयं राम के मुख से वेदान्त का अमृत-पान किया है और लीग के जन्म ही से स्वामी नारायण जी को इसके सुचारु संचालन में सहायता दी है तथा आज वहीं उनके स्थान पर निष्काम भाव से कार्य कर रहे हैं।

श्री रामेश्वर सहाय सिंह स्वामी नारायण के मुख्य गृहस्थ-शिष्य हैं। वैसे तो आज-कल आप बनारस म्युनिसिपल बोर्ड में शिक्षाध्यक्ष हैं किन्तु स्वामी जी के अन्तिम समय आप उन्हीं के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। आप ही लखनऊ से पहले पहल स्वामी जी के रोगाक्रान्त होने का समाचार पाकर लाहौर गये थे और आपही को उनकी अन्तिम सेवा का सुअवसर प्राप्त हुआ था। आपका हृदय स्वामी जी के वियोग से सचमुच बहुत ही क्षुब्ध हुआ। इस पर ईश्वर की लीला! आपको अपने एकमात्र अष्ट-वर्षीय होनहार पुत्र भैया प्रताप का भी वियोग सहना पड़ा। कहते हैं, *सोना जितना ही जितना भट्टी में पड़ता है, उतना ही उतना खरा उतरता है।* आपमें सेवा-भाव पूर्णतः जाग्रत हो उठा। सचमुच आपने इस पत्र के प्रकाशन में जितना परिश्रम किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है।

पं० ब्रजनाथ शर्मा लखनऊ के एक सुविख्यात वकील और समाज-सेवक हैं। आप चिरकाल से लीग के प्रबन्धक-मण्डल में हैं। किन्तु आपने स्वामी राम के जीवन चरित्र के रूप में अंग्रेज़ी में जो Swami Rama: His Life and Legacy नामक पुस्तक लिखी है, वह लीग के प्रकाशनों में सदा एक उच्च स्थान प्राप्त करेगी। आप यथा सम्भव पत्र को उन्नत करने की चेष्टा में रहते हैं।

बाबू विद्यानन्दजी एम० ए० स्वामी नारायण के अनन्य भक्तों में हैं। इनके परिचय में इतना कहना ही बस होगा कि लखनऊ में स्वामी नारायण लगातार २० वर्ष तक आपके अतिथि रहे हैं। वास्तव में मनसा, वाचा कर्मणा स्वामी जी के आज्ञा-पालन को ही आपने अपना एक मात्र कर्त्तव्य माना है और आज भी उसी का अनुसरण कर रहे हैं।

श्री चक्रधर हंसजी एक सफल लेखक हैं। आप में सच्ची देश भक्ति और आर्य संस्कृति का प्रेम ईश्वर की देन है। इन दिनों आपकी नियुक्ति एक सरकारी पद पर होगई है और इसीसे आप समयाभाव के कारण इस पत्र के संपादन कार्य को करने में असमर्थ हैं। आपने संपादक पद से इस्तीफा दे दिया है। हम आपकी सेवाओं के लिये अत्यन्त आभारी हैं और आशा करते हैं कि आप इस पत्र के साथ अपना प्रेम बनाये रखेंगे।

श्री सम्पूर्णानन्दजी एक समाजवादी वेदान्ती हैं। आप देशभक्त, लेखक, वक्ता, संपादक, राजनीतिज्ञ क्या नहीं हैं। आप हमारे पत्रके लिए नियमित रूपसे प्रति मास लिखते रहे हैं। आज कल आप जेल में हैं। हमें दुःख है कि हमारे पाठकगण कुछ काल तक आपके लेखों का आनन्द न ले सकेंगे। आप वेदान्त को कार्य रूप में परिणत करने और व्यवहार में लानेवाले व्यक्तियों में एक आदर्श पुरुष हैं। वेदान्त में दिये हुए अमर लेखों के लिए हम आपके सदा कृतज्ञ रहेंगे।

स्वामी शिवानन्दजी मद्रासी हैं। आपने व्यावहारिक वेदान्त के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है। आज कल आप ऋषिकेश में रह रहे हैं। यहाँ पर आपने 'डिवाइन सोसाइटी' नाम की एक संस्था खोली है और Divine Light नामक पत्र भी निकालते हैं। आपके लेख और विचार हमारे पत्र के प्रायः हर अङ्क में अंग्रेजी में निकलते रहे हैं। हम आपको व्यावहारिक वेदान्त परिवार की ओर से धन्यवाद देते हैं और कृतज्ञ हैं।

देश के यज्ञ में आहुति

कल मन्त्री आज बन्दी

पं० गोविन्द वल्लभ पन्त

श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित

श्री कैलाशनाथ काटजू

श्री सम्पूर्णानन्द जी

आप लोग युक्तप्रान्त के भूतपूर्व मन्त्री गण हैं। व्यक्तिगत सत्याग्रह करने और स्वतन्त्रता के युद्ध में भाग लेने के अपराध में आप लोगों को क्रमशः १ साल ३ साल ? साल और १½ साल के लिए कारावास दण्ड मिला है।

A suggestion for Peace Movement

[An extract from letter No 580 dated 4-10-40 from Syt. Prakashji President Rama Tirtha Publication League, Lucknow to His Holiness Sri Swami Omkarji Maharaj, President, 'The Mission of Peace' Santi Ashram, Totepalli Hins East Godaveri Distt Madrass.]

Your kind letter of the 24th ultimo was a welcome to Prakash the other day He is glad to learn that you are sowing the seeds of Peace and Service every where May the new seed that has been scattered at Waltair soon develop into a crop of such as to satisfy the spiritual hunger of the millions of persons, irrespective of caste, colour, country and creed

Prakash does humbly suggest as under Let the *Shanti Sabhas* be started first in every part of our country and then in other countries. Let one Shanti Ashram be started in every province or part of province. Under this Ashram all the Shanti sabhas will work Let one Shanti Math be started first in our country and then in other countries This Math will control all the Provincial Shanti Ashrams, as they control the Shanti Sabhas Besides the above institutions there should be one central *Sangh* to control all the country Shanti Maths

If we start this work, others will cooperate with us to extend it and it is hoped that not only this country but the whole world will enjoy the fruits of peace and will be able from within and not from without to eradicate the evil ideas of hatred and the like. These ideas are at the bottom of all war and bloodshed

The aims and objects of the Sadharna Dharma Movement that has the above suggestion in view, is the same as your Peace Movement It will be evident from Prakash's essay on "Swami Rama as an advocate of the Sadharana Dharma" in "Swami Rama: Various aspects of his life". If you take this work Prakash inspite of his old age and weakness is ready to cooperate with you. It is hoped that sister Sushila Devi and other inmates of your Ashram will agree with this suggestion. If we agree, we shall work out the detail afterwards and shall start the work as soon as possible. This will facilitate to start a colony of Practical Vedanta, as was suggested by Swami Rama

Our readers are requested to express their views on the proposal suggested in the above letter

---

(Contd from page 71)

So too the Priceless Pearl of Love, Wisdom or God-realization is only for the valiant. It is for the soul who will forego all worldly impediments and stripped of all, risking life itself, will plunge deep into the [illegible] of Divinity He must also evade all [illegible]tral monsters of Maya, that wish to prey [illegible] him. He must search long, and patiently and then seizing upon the pearls of Truth [illegible] not only adorn his [illegible] art [illegible] them but share them with [illegible]

Viveka Chadamani, Crest Jewel of Wisdom and peerless pearls have been found by Sri Rama Tirtha, they are his God-consciousness, ideals and messages, which he shares with us all so precious.

Ah ! That is why we may well write his name in the book of Love in our hearts, as an [illegible] sage And, to love him as he would be [illegible] we must imbue his spirit and live his message [illegible]

May Peace be Unto All

Om Om Om